श्रीकैलासविद्यालोकस्य पञ्चविंशः सोपानः

ईशावास्यप्रवचनसुधा
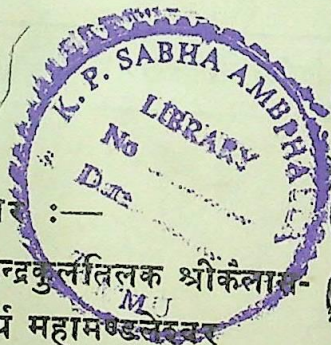
व्याख्याकार :—
वेदान्तसर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलास-
पीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

सम्पादक मण्डल

डॉ० उमेशानन्द शास्त्री
स्वामी केशवानन्द सरस्वती, स्वामी मेधानन्द पुरी

प्रकाशक

श्रीकैलासाश्रम शताब्दी समारोह महासमित

श्री कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ० प्र०)

तार :

श्री कैलास आश्रम, ऋषिकेश

फोन : ५६८

द्वितीय संस्करण १५०० मूल्य 25/- वि० सं० २०३६

पुस्तक प्राप्ति स्थान :—

१. श्री कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ० प्र०) पिन-२४६ २०१
२. श्री कैलास आश्रम उजेली, उत्तरकाशी पिन-२४६ १९३
३. श्री दशनाम संन्यास आश्रम, सूपतवाला हरिद्वार-२४६ ४०१
४. श्री रामाश्रम समाना मण्डी, पटियाला पिन-१४६ ४०१
५. चौखम्बा विश्वभारती, चौक वाराणसी पिन-२२१ ००१
६, चौखम्बा विद्याभवन, चौक वाराणसी पिन-२२१ ००१
७. मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी पिन-२२१ ००१

संपादकीय वक्तव्य

ईशावास्य प्रवचन सुधा नामक इस अनुपम, अमूल्य और अपूर्व ग्रंथ का प्रादुर्भाव पहलेपहल तब हुआ था जब श्री कैलासपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज ने कतिपय वर्ष पूर्व जामनगर (गुजरात) में भीड़भंजन महादेव के विशाल प्रांगण में आयोजित प्रवचन कार्यक्रम के सिलसिले में लगातार ५० दिवस तक इस उपनिषत् की सर्वांगीण सुन्दर व्याख्या की थी। उक्त प्रवचन को भक्तों के अनुरोध से ग्रंथ रूप में प्रकाशित करके अब द्वादश वर्ष व्यतीत हो चुके और उक्त सस्करण अब तक समाप्त भी हो जाने के कारण गत वर्ष कैलास आश्रम शताब्दि समारोह महासमिति के निर्णयानुसार पुनर्मुद्रण करने का आयोजन हुआ। जिसके परिणाम-स्वरूप यह नवीन संस्करण आपके करकमलों में समर्पित करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है। चूंकि प्रथम संस्करण में मुद्रण की त्रुटियाँ अपेक्षाकृत अधिक थीं; इसलिए डॉ० उमेशानन्द शास्त्री जी ने इसे संशोधन करके जो प्रति हमें दी थी, उसे अहिन्दी भाषाभाषी दाक्षिणात्य होते हुए भी हमने यथासंभव शुद्धरूप में छपवाया है। फिर भी हम दावे के साथ यह नहीं कह सकते कि हमारे दृष्टिदोष से अथवा शीशकाक्षर योजकों के प्रमाद से 'मुद्रण राक्षस' जिसे अंग्रेजी में **Printer's Devil** नामक सार्थक शब्द से कहा जाता है, उसके प्रभाव से हम शतप्रतिशत मुक्त हो सके हैं। विज्ञ पाठकगणों के हम एतदर्थ क्षमाप्रार्थी हैं।

अब हम इस ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय की शैलीगत विशेषताओं पर विहंगम दृष्टि डालेंगे। सर्वप्रथम इस उपनिषद् के शांतिमंत्र की व्याख्या

में भारतीय द्वादश दर्शनों की समीक्षा करके यह निश्चित किया गया है कि यह शांति मंत्र केवल वेदव्यास रचित ब्रह्मसूत्र की केवलाद्वैत दृष्टि का ही समर्थन करता है। फिर प्रथम मंत्र की जो अनूठी व्याख्या की गई है उसमें तीन प्रकार के अर्थों यानी पारमार्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक पहलुओं पर पूर्णरूप से प्रकाश डाला गया है। दार्शनिक दृष्टिकोण से वेदान्त दर्शन से भिन्न दार्शनिक मतों का युक्तिसंगत खण्डन करके सनातन वैदिक धर्म की चोटी पर विराजमान इस उपनिषत् के द्वारा जीव ब्रह्मैक्य सिद्ध करने का प्रयास अत्यन्त सफल हो गया है। विद्या और अविद्या का समुच्चय उपासना विधायक तीनों मंत्रों एवं संभूति असंभूति के समुच्चय अनुष्ठान विधायक तीनों मंत्रों की अनुपम व्याख्या की गई है जो इससे पूर्व किसी भी व्याख्यान में ऐसी शैली में उपलब्ध नहीं हुई है। 'हिरण्मयेन पात्रेण' मंत्र में आये हुए पात्र शब्द का व्यष्टि एवं समष्टि अहंकार अर्थ करके व्याख्याता आचार्यश्री ने अपनी अनुपम शैली का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

हमारा विचार है कि बृहत्कलेवर ग्रंथों को पढ़ने का अवकाश और क्षमता न रखने वाले साधारण पाठकों की समझ में आने वाली रोचक शैली में वेदान्त शास्त्र के दुरूह सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली कोई छोटी पुस्तक इससे बढ़कर अन्यत्र दुर्लभ है।

ऋषिकेश
श्रावणी अमावस्या
वि० सं० २०३६

इत्योम् शम्
स्वामी केशवानन्द सरस्वती
स्वामी मेधानन्द पुरी
कैलास आश्रम, ऋषिकेश।

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतमाध्यन्दिनीशाखानुसार-मीशावास्योपनिषन्मन्त्राणां पाठः ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥
असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥
अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥६॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥
स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥९॥
अन्यदेवाऽऽहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥११॥
अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः । १२॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१४॥
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर क्लिवे स्मर कृतꣳ स्मर ॥१५॥
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१६॥
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥१७॥
ॐ खं ब्रह्म ॥१८॥
ॐ पूर्णमित्यादिशान्तिः ३ ॥

इति शुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनीशाखान्तर्गता
ईशावास्योपनिषद् । (शु. य. सं. अ. ४०) ।

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतकाण्वशाखानुसारमीशावास्योपषन्मन्त्राणां पाठः विषय-सूची च ।

(९) अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ।। पृ. २४७

(१०) अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।। पृ. २५६

(११) विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।। पृ. २६२

(१२) अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याँ रताः ।। पृ. २७२

(१३) अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणा ये नस्तद्विचचक्षिरे ।। पृ. २७९

(१४) संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ।। पृ. २८४

(१५) हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।। पृ. २९२

(१६) पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ
पुरुषः सोऽहमस्मि ।। पृ. २९८

(१७) वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर ।। ३०४

१८) अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयु-
नानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम
उक्तिं विधेम ।। पृ. ३०९ ॐ पूर्णमित्यादि शान्तिः ३।।
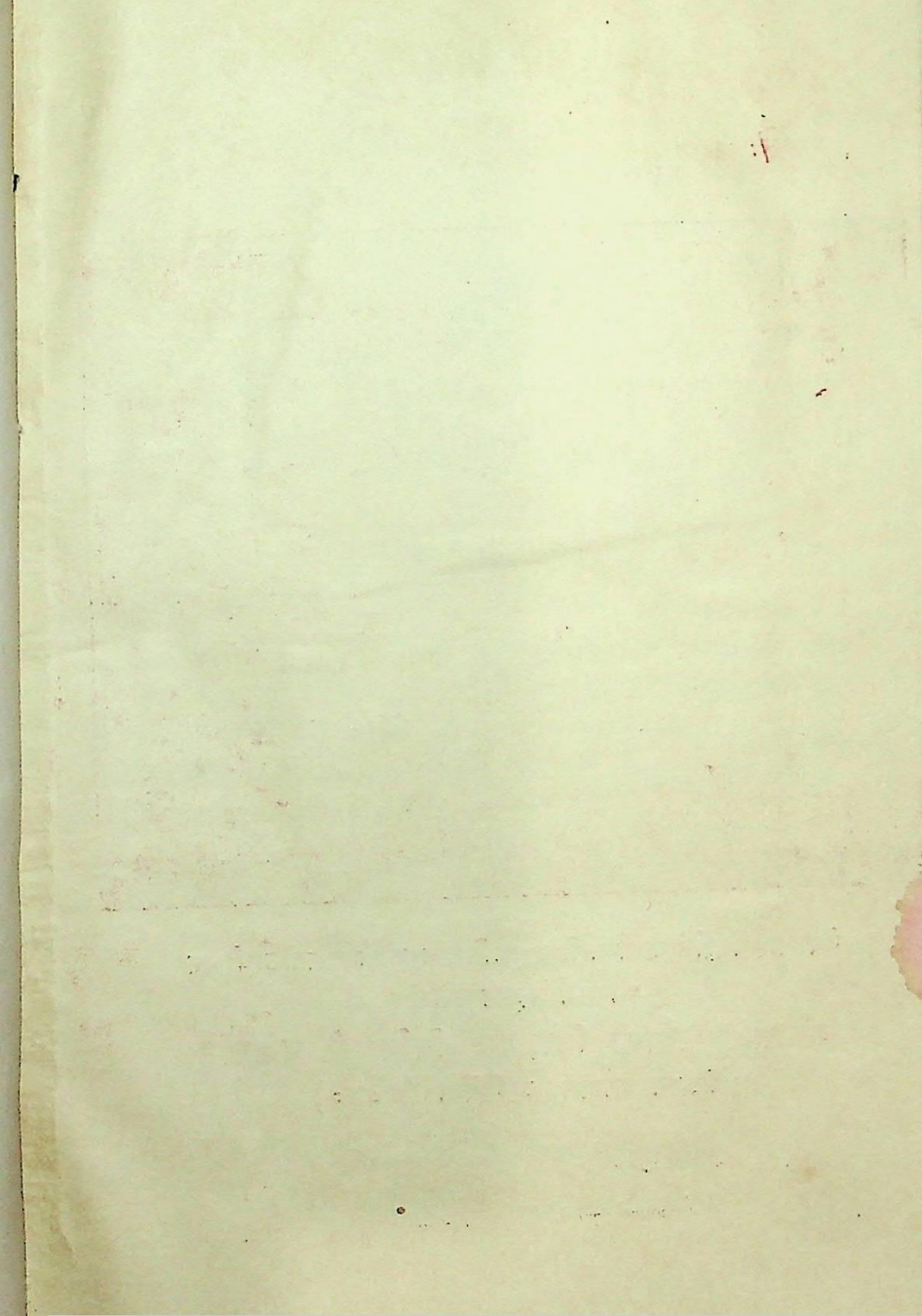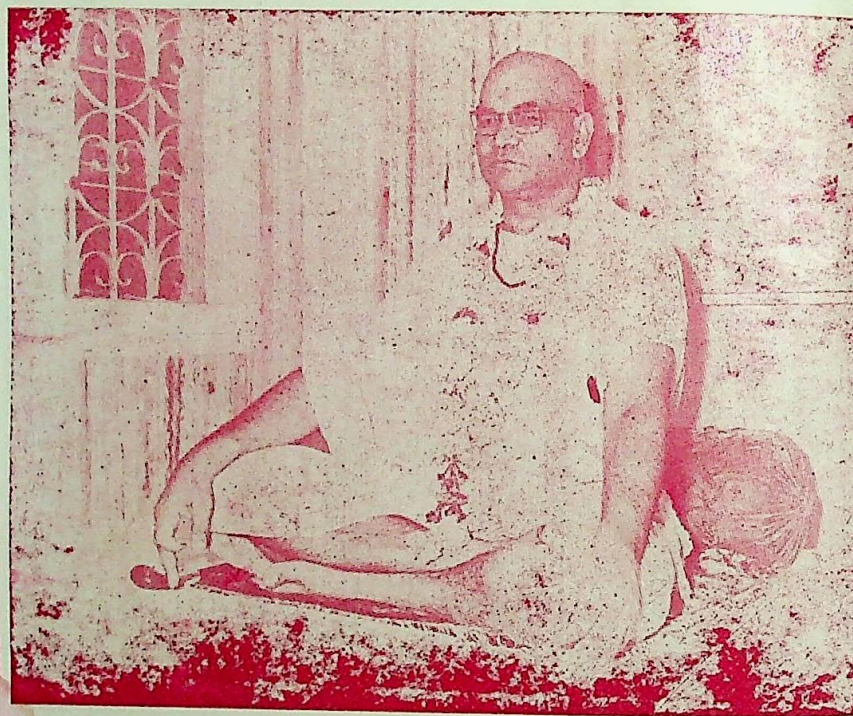
वेदान्तसर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर
आचार्य महामण्डलेश्वर
अनन्तश्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज
कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ०प्र०)

ईशावास्यप्रवचनसुधा

मङ्गलाचरण

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो महद्भ्यो नमो गुरुभ्यः। सर्वोपप्लवरहितः प्रज्ञानघनः प्रत्यगर्थो ब्रह्मैवाहमस्मि। योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना। अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

संगति :

प्रथम दिन : सर्व प्रथम उस सर्वान्तर्यामी परमात्मा को शतशः धन्यवाद है, जिसकी प्रेरणा से प्रेरित हो जामनगर के भीड़भंजन महादेव के श्रोतामण्डल ने मुझे प्रवचन के लिये आमंत्रित किया। चौदह वर्ष के बाद मुझे यहाँ आने का अवसर प्राप्त हुआ। इस अवसर पर मैं आप लोगों की अभिलाषा के अनुसार वेदान्त की चर्चा आपके सामने करना चाहता हूँ।

वेद अपौरुषेय है अर्थात् इसका बनानेवाला कोई पुरुष नहीं है। यह तो अनादि काल से ऐसा ही प्रवाहित होता हुआ अपने दिव्य ज्ञान से सारे विश्व को मार्गदर्शन कर रहा है।

सृष्टि के प्रारम्भ में पूर्वकल्प के अनुसार ही श्वास-निःश्वास के समान वेदों की रचना परमात्मा ने की। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' अर्थात् इस अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक के ही निःश्वास से निकले हुये ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद हैं। रामचरितमानस मे गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है कि—

जिनके सहज श्वास श्रुति चारी।
सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी।

वेद को छोड़कर जितने भी धर्मग्रन्थ हैं, उन सभी के बनाने-वाले कोई न कोई व्यक्ति हैं, किन्तु वेद को बनानेवाला कोई मनुष्य नहीं है। ऋषियों के नाम पर कठशाखा इत्यादि जो नाम रखे गये हैं, वे तो केवल उन शाखाओं के प्रवर्तक एवं उन मन्त्रों के द्रष्टा होने के कारण ही रखे गये हैं, क्योंकि 'ऋषयो मन्त्र-

द्रष्टारः' ऐसा ऋषियों का लक्षण किया गया है। अतः सृष्टि के प्रारम्भ में अनन्त, अचिन्त्यशक्तिशाली परमात्मा ने जिन मंत्रों का प्रादुर्भाव जिन ऋषियों में किया, उन्हीं के नामपर उन शाखाओं का एवं उन मन्त्रों का भी संकेत मिलता है। इसलिए प्रत्येक मंत्र के विनियोग से पहले सनातन धर्म के अनुसार यह जानना आवश्यक होता है कि इस मत्र का द्रष्टा कौन है, इस मंत्र का छन्द कौनसा है तथा इसका कहाँ पर विनियोग होना चाहिए ? इसके बिना जाने एवं बोले वह कर्म निच्छिद्र नहीं होता है।

वेद अनादि, अपौरुषेय हैं; इसका वर्णतः, पदतः तथा वाक्यतः भी कोई नाश नहीं कर सकता, फिर भी काल क्रम से संप्रदाय विच्छेद हो जाता है। चारों वेदों में एक लाख मंत्र माने गये हैं। महर्षि वेदव्यास ने सूतसंहिता में कहा है कि—

'एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदो भेदितोऽमुना।
यजुर्वेदो द्विधा एकशतभेदेन भेदितः॥
नवधा भेदितोऽथर्वो वेदः साम्नः सहस्रधा।
व्यस्तवेदतया व्यास इति लोके श्रुतो मुनिः॥

अर्थात् २१ शाखा भेदवाला ऋग्वेद है, १०१ शाखा भेदवाला यजुर्वेद है, अथर्ववेद की ९ शाखाएँ हैं और सामवेद की १००० शाखाएँ हैं।

शताब्दियों तक भारत में यवनों एवं अंग्रेजों का शासन रहने के कारण सभी शाखाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं फिर भी शास्त्रप्रमाणानुसार चारों वेदों में एक लाख मंत्र हैं। उनमें से

८० हजार कर्मकाण्ड के, १६ हजार उपासनाकाण्ड के तथा ४ हजार ज्ञानकाण्ड के मंत्र हैं। कर्म और उपासनाकाण्ड के मंत्रों को मिलाकर ९६ हजार मंत्र होते हैं। उनमें बतलाये गये कर्म और उपासना का दायित्व ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन द्विज-बालकों के ऊपर उसी समय से आ जाता है, जब इनका उपनयन संस्कार होता है। इसी बात के स्मरणार्थ ९६ चौवे का यज्ञोपवीत इनके कन्धों पर लटकाया जाता है, जिससे उन्हें अहर्निश स्मरण रहे कि हमें ९६ हजार मंत्रों में बतलाये गये कर्म और उपासना का यथासम्भव अनुष्ठान करते ही रहना चाहिये। इसी यज्ञोपवीत में तीन-तीन धागे मिलाकर बाँटने एवं बनाने का तात्पर्य यह है कि तीन प्रकार के ऋण भी हमारे ऊपर हैं, वह हैं देवऋण, पितृऋण एवं ऋषिऋण। इन तीनों ऋणों को चुकाने के बाद ही मोक्ष के अधिकारी बन सकेंगे 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्' (तीनों ऋणों को चुकाने पर मन को मोक्ष में लगावे)। विधिपूर्वक निष्काम भाव से कर्म एवं उपासना का अनुष्ठान करने पर संसार से वैराग्य होना स्वाभाविक है और वैराग्य होने पर 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' अर्थात् जिस दिन वैराग्य हो जाय उसी दिन संन्यास लेवे,' इस जाबाल श्रुति के अनुसार संन्यास ग्रहण कर चार हजार मंत्रों में बतलाये गये ज्ञान का संचय करे। अतः वेद के अन्तिम उपनिषद् भाग को ही वेदान्त कहते हैं। इस वेदान्त का मुख्य अधिकारी वित्तेषणा, पुत्रेषणा तथा लोकेषणा से मुक्त होकर भिक्षाचरण करनेवाला संन्यासी है, किन्तु ऐसे वैराग्य के अभाव में सद्गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं ब्रह्मचारी भी वेदान्त का श्रवण कर सकते हैं, इनका श्रवण व्यर्थ न होगा।

आजकल वेदान्तश्रवण करनेवालों के ऊपर कुछ लोग व्यंग कसते हैं कि 'जब उसके अनुसार चलते नहीं, तो सुननेमात्र से क्या होगा ?' मैं वही स्मरण करा देना चाहता हूँ कि हमारी श्रुतियों में वेदान्त श्रवणमात्र का भी महाफल बतलाया गया है, कहा है कि—

दिने दिने तु वेदान्तश्रवणाद्भक्तिसंयुतात् ।
गुरुशुश्रूषयालब्धात् कृच्छ्राशीतिफलं लभेत् ॥

अर्थात् प्रतिदिन गुरुसेवा करते हुये भक्तिपूर्वक वेदान्त का श्रवण करे तो उसे रोज-रोज ८० कृच्छ्रचांद्रायण व्रत करने का फल मिलता है। चाद्रायण व्रत उसे कहते हैं, जिसमें चन्द्रमा की कला के घटने और बढ़ने के अनुसार अपने भोजन का नियंत्रण कर सके अर्थात् शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन चन्द्रमा की एक कला होती है। अतः रोज जौ इत्यादिक हविष्यान्न के बने हुये पदार्थ का केवल एक ही ग्रास लेवे, द्वितीया के दिन दो ग्रास, तृतीया के दिन तीन ग्रास; इस प्रकार चन्द्रकला की वृद्धि के अनुसार अपने भोजन बढ़ाते हुये पूर्णमासी के दिन १५ ग्रास भोजन करे। वैसे ही कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से एक-एक ग्रास को घटाते हुये अमावस्या को पूर्ण उपवास करे, ऐसा करने पर एक चांद्रायण व्रत पूर्ण होता है, किन्तु कृच्छ्रचांद्रायण व्रत इससे भी कठोर होता है। यवादि हविष्यान्न गौ को खिलाया जाय और उसके गोबर से उस अन्न को निकालकर, धोकर, सुखाकर पीसे, उसका पूर्वोक्त रीति से चन्द्रकला के अनुसार भोजन में वृद्धि एवं ह्रास करता जाये तो एक मास में एक कृच्छ्रचान्द्रायण व्रत पूर्ण होता है। ऐसे ८० व्रत करने का फल गुरु सेवा और

भक्ति पूर्वक वेदान्त सुननेवाले को प्राप्त होता है। वेदान्त श्रवण का मुख्य फल आत्मतत्त्व का साक्षात्कार है। ठीक रीति से वेदान्त श्रवण करने पर श्रवण, मनन और निदिध्यासन होना स्वाभाविक ही है। मतलब वेदान्त का किया हुआ श्रवण व्यर्थ नहीं जायेगा। इसलिए व्यंग कसनेवालों की बातों से विक्षिप्त नहीं होना चाहिये।

दूसरा दिन : कल के प्रसंग में वेदान्त क्या है और उसके श्रवण से क्या फल मिलता है, यह बात बतलायी गयी थी।

'वेदान्तो नाम उपनिषद् प्रमाणम्' इस वाक्य के अनुसार उपनिषद् को वेदान्त कहते हैं। उपनिषद् संहिता एवं ब्राह्मण भाग दोनों में ही देखी जाती हैं। वेद को माननेवाले भी कुछ भारतीय ऐसे हैं, जो संहिता भाग के समान ब्राह्मण भाग को प्रमाण नहीं मानते, उनके विचार से संहिता भाग ही वस्तुतः वेद है, ब्राह्मण, आरण्यक इत्यादि नहीं। अस्तु।

ईशावास्योपनिषद् शुक्लयजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। इस समय शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा एवं काण्वशाखा नाम की दो शाखाएँ उपलब्ध हैं। कुछ मंत्रों में पूर्वापर का भेद दोनों शाखाओं में दीखता है एवं अन्तिम के कुछ मंत्रों में भी भेद है; शेष सभी मंत्र दोनों शाखाओं में समान हैं। इन्हें संहिता भाग के होने से वे लोग भी अवश्य प्रामाणिक मानेंगे, जो ब्राह्मण भाग को प्रामाणिक न मानकर केवल मंत्र भाग को ही वेद मानते हैं।

अन्य उपनिषदों की अपेक्षा ईशावास्योपनिषद् के ऊपर अनेकानेक भाष्य एवं टीकाएँ हो चुकी हैं और आज भी होती

जा रही हैं। इस उपनिषद् की प्रामाणिकता में यह भी एक प्रमाण है।

काण्व शाखा की ईशावास्य के ऊपर प्रातःस्मरणीय अनन्त श्री विभूषित भगवत्पाद जगद्गुरु शंकराचार्य जी का भाष्य है। उन्होंने किस उपनिषद् के ऊपर पहिले एवं किसके ऊपर पीछे भाष्य लिखा; इसका निर्णय होना कठिन है, फिर भी संप्रदाय के अनुसार अध्ययन तथा अध्यापन के क्रम में सर्वप्रथम ईशावास्योपनिषद् ही आती है। अतः हम अपने वक्तव्य का विषय इसी को बनाकर आपके समक्ष वेदान्त की चर्चा करना चाहते हैं।

इस उपनिषद् के प्रथम मंत्र को प्रतीक मानकर ही इसका नाम रखा गया है, क्योंकि इसमें पहला मंत्र 'ईशावास्यमिदम्' इत्यादि है।

यों तो उप नि पूर्वक सद् धातु से उपनिषद् शब्द निष्पन्न होने के कारण इसका अर्थ ब्रह्मविद्या है। उप=समीप, नि=नितराम् ऐसा उपसर्गों का अर्थ है और विशरण, गति तथा अवसादन 'सद् धातु' का अर्थ है। जिसकी प्राप्ति हो जाने पर अवश्यमेव संसारदुःखों का शैथिल्य हो, उसे उपनिषद् कहते हैं। ऐसा पदार्थ तो ब्रह्मज्ञान ही है। देह और संसार में मिथ्यात्व बुद्धि के साथ सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा की आकारवाली वृत्ति में प्रकाशमान् चेतन को ब्रह्मविद्या शब्द से कहा गया है, क्योंकि उसी से सांसारिक दुःख का नाश और परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है; अन्य प्रकार से नहीं।

'तरति शोकमात्मवित्' 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः'
'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' ॥

अर्थात्—'आत्मज्ञानी ही शोक को पार कर सकता है, ज्ञान के बिना मुक्ति मिलना असम्भव है, उस परमात्मा को जानकर ही मृत्यु के मुख से छूट सकता है, मोक्ष के लिये ज्ञान को छोड़-कर कोई दूसरा मार्ग नहीं है'; ये सभी श्रुतियाँ डिमडिम उद्घोष करके यही तो बतला रही हैं कि परम शान्ति का साधन एकमात्र ब्रह्मविद्या ही है और यही उपनिषद् शब्द का मुख्य अर्थ है, फिर भी ऐसी ब्रह्मविद्या का सम्पादक होने के कारण ग्रन्थ को भी उपनिषद् शब्द से कहते हैं। यथा 'मैं उप-निषद् पढ़ता हूँ' 'पढ़ाता हूँ' इत्यादि। इसीलिये ईशावास्य इत्यादि मन्त्र भी उपनिषद् मन्त्र हैं। इसका विचार हम आपके सामने रखने जा रहे हैं।

ईशावास्यादि मन्त्रों के दध्यङ्ङाथर्वन् ऋषि है, परमात्मा देवता है, आत्मज्ञान में इनका विनियोग होता है, सभी मंत्रों के छन्द कुछ समान और कुछ भिन्न-भिन्न हैं। हम सबसे प्रथम इसमें आये हुये शान्ति मन्त्र पर ही विचार करना चाहते हैं—

'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' ॥

यह शान्ति मंत्र मंगल वाक्य है। किसी भी ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण करने का नियम है। मंगलाचरण के दृष्ट एवं अदृष्ट दो फल हैं। मन की एकाग्रता, विघ्न-बाधाओं का नाश एवं ग्रन्थ के तात्पर्य-निश्चय में सहायता की प्राप्ति दृष्टफल और अपूर्व की उत्पत्ति अदृष्टफल माना गया है। दृष्टफल में

भी चित्त की एकाग्रता सद्यःफल है और अन्य परम्परा से प्राप्त होते हैं। वह मंगल नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक एवं वस्तु-निर्देशात्मक, तीन प्रकार का है। जिसमें अपने इष्ट देवताओं को नमन, वन्दना की जाय उसे नमस्कारात्मक मंगल कहते हैं। जिसमें आशीर्वाद दिया जाय अथवा मांगा जाय, उसे आशी-र्वादात्मक मंगल कहते हैं और जिसमें अपने प्रतिपाद्य विषय का निरूपण हो, उसे वस्तुनिर्देशात्मक मंगल कहते हैं।

'ॐ पूर्णमदः' इस शान्ति मन्त्र में वेदान्त विषय का प्रति-पादन होने के कारण वस्तुनिर्देशात्मक मंगल है। मंगल के व्याज से सम्पूर्ण वेदान्त का जो तात्पर्य है, उसका संकेत हमें यहाँ से प्राप्त होता है। बिना सोचे इस शान्ति मन्त्र का अर्थ सरल प्रतीत होता है। 'वह न दीखनेवाला परमात्मा पूर्ण है और यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय संसार भी पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण परमेश्वर से ही इसकी उत्पत्ति हुई है, पूर्ण दो नहीं हो सकते, अतः दृश्यमान जगत् के पूर्णत्व को समेट लेने पर अन्त में पूर्ण ब्रह्म ही अवशेष रहता है'। दृश्यमान् जगत् के पूर्णत्व समेटने का अर्थ होता है कि इसके नामरूप को बाधित मान लेना। नामरूप को बाधित अर्थात् मिथ्या मान लेने पर शेष सत्-चित्-आनन्द तो पूर्ण ब्रह्मस्वरूप ही है, यही जगत् के पूर्णत्व को लेकर सच्चिदानन्द ब्रह्म को पूर्णरूप से शेष रहना कहा है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये इसमें तीन बार शान्ति शब्द का उच्चारण किया गया है। देह से उत्पन्न होनेवाले दुःख को आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। वह शारीरिक एवं मानसिक भेद से दो प्रकार का है, इसी को आधि और व्याधि भी कहते

हैं। स्थूल शरीर में किसी प्रकार का रोग हो, तो उसे व्याधि अर्थात् शारीरिक दुःख कहते हैं, एवं सूक्ष्म शरीर अन्तःकरण में काम-क्रोधादि विकारों के उत्पन्न होने को आधि कहते हैं। दोनों को मिलाकर आध्यात्मिक दुःख कहा जाता है। चोर व्याघ्रादि अन्य प्राणियों से होने वाले दुःख को आधिभौतिक दुःख कहते हैं, एवं जो दुःख अपने शरीर या अन्य किसी प्राणी से न होकर किसी अदृश्यमान् शक्ति से होते हैं, उन्हें आधिदैविक दुःख कहते हैं। यथा गरमी, उल्कापात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि इत्यादि दुःखों को आधिदैविक दुःख कहते हैं। इन तीनों दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये तीन बार शान्ति कहा गया है।

इस प्रकार शान्ति मन्त्र का संक्षेप रूप से अर्थ बतलाने पर अब शान्ति मन्त्र के प्रारम्भ में आये हुये ओंकार का विचार किया जाता है, 'पूर्णमदः' इत्यादि मन्त्र का सविस्तार विचार आगे के प्रसंग में किया जायेगा।

तीसरा दिन : ॐकार सम्पूर्ण वेदों का सार है यथा 'प्रणवः सर्ववेदेषु' इस वाक्य से भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में वेदों का सार प्रणव (ॐ) को ही बतलाया है।

शब्द-व्युत्पत्ति की ओर ध्यान देने पर गति, कान्ति, रक्षण इत्यादि जितने भी 'अव' धातु के अर्थ बतलाये गये, वे सभी अर्थ ओंकार पदवाच्य परमात्मा में विद्यमान हैं, क्योंकि उस 'अव' धातु से 'अवतेर्टिलोपश्च' इस उणादि सूत्र के द्वारा 'मन' प्रत्यय करके तथा इस प्रत्यय के टि भाग का लोप कर देने पर एवं

पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'अव' धातु के स्थान में 'ऊठ्' आदेश गुण इत्यादि किये जाने पर ओम् (ॐ) शब्द बनता है। अनन्तगुणसम्पन्न परमात्मा के अनन्त गुण एवं महिमा बतलाने में समर्थ सबसे छोटा नाम ॐ ही है, परमेश्वर का इससे छोटा और कोई नाम नहीं है। इसीलिये इसे एकाक्षर ब्रह्म भी कहते हैं। साथ ही परमेश्वर के उत्कृष्ट गुण एवं महिमा का प्रतिपादन जितना इसके द्वारा विस्तार से किया जा सकता है, उतना कोई लोक और वेद में दूसरा शब्द नहीं है, जिसके माध्यम से परमात्मा के अनन्त गुणों का निरूपण कर सकें।

अभी हम बतला आये हैं कि जिस धातु से ॐ शब्द बनता बनता है, उस धातु के अनेक अर्थों का संकेत स्वयं ही महर्षि पाणिनि ने किया है। यों तो सभी धातु अनेकार्थक हैं, फिर भी 'अव' धातु के अर्थों का कण्ठतः संकेत मिलता है, जो सभी अर्थ परमेश्वर में सम्भव हैं और इतने बृहद् अर्थवाले 'अव' धातु से बना हुआ ॐ शब्द ही परमेश्वर के अधिकाधिक गुण एवं महिमा का वर्णन करने में समर्थ है। यहाँ पर विस्तार के भय से उन सभी अर्थों का विश्लेषण करना सम्भव नहीं है, किन्तु यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि व्याकरण की दृष्टि से यौगिक अर्थ को बतलाने में ॐ के समान अन्य कोई भी परमेश्वर का नाम नहीं है। भगवान् के सभी नाम समान हैं, बड़ा छोटा कहना अपराध माना जायेगा। अपनी रुचि और भावना के अनुसार परमेश्वर के किसी भी नाम का आश्रय लेने पर साधक का निश्चित कल्याण हो जायेगा, इसमें सन्देह नहीं है। फिर भी विवेचना की दृष्टि से शास्त्र प्रमाण के आधार पर परमेश्वर के सर्वोत्कृष्ट 'ॐ' नाम की महिमा बतलाने में कोई अपराध नहीं माना जायेगा। यह भी याद रखें, कि श्रुति, स्मृति, इति-

हास तथा शिष्टाचार परम्परा के अनुसार केवल 'ॐ' शब्द जिसमें आगे पीछे कुछ भी न लगा हो ऐसे मंत्र जपने का अधिकारी चतुर्थाश्रमी परमहंस यति ही है; अन्य तीन आश्रम वाले नहीं। वे किसी मंत्र के साथ ॐकार का जप कर सकते हैं। जैसे 'ॐ नमः शिवाय' 'ॐ नमो नारायणाय' 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इत्यादि।

परमात्मा के कुछ नाम वैदिक और कुछ तांत्रिक हैं। जिनका वेद और वेदानुसारी ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है, उन्हें वैदिक कहते हैं एवं जिनका उल्लेख तंत्र ग्रन्थों में मिलता है, उन्हें तांत्रिक कहते हैं। 'ॐ' शब्द वैदिक है, जो सम्पूर्ण वेदों का सार है। इसके बिना कोई भी वैदिक मंत्र, जप, अनुष्ठान आदि में प्रयोग किये जाने पर भी फल देने में समर्थ नहीं हैं। इसीलिये तो भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के सातवें अध्याय में अपनी अनेक विभूतियों का वर्णन करते हुए जहाँ 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च' 'शब्दः खे पौरुषं नृषु' इन लौकिक उदाहरणों में पृथिवी के असाधारण गुण ग्राह्य आकर्षक पवित्र गन्ध को उसका सार बतलाया है। आकाश का मौलिक स्वरूप शब्द तन्मात्रा बतलायी गयी है। वहाँ वेदों का सार प्रणव अर्थात् ॐकार को बतलाया है। गन्ध से पृथ्वी व्याप्त है, उसके बिना उसका अस्तित्व नहीं है। उसी प्रकार वेदों में ॐकार व्याप्त है। छान्दोग्योपनिषद् के द्वितीय अध्याय में कहा है कि 'तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णोंकार एवेदꣳ सर्वमोंकार एवेदꣳ सर्वम्' (२।२३।३) अर्थात् पत्तों के अन्दर अत्यन्त सूक्ष्म तन्तु होते हैं, जिन्हें पत्तों के सड़ जाने पर भी आपने देखा होगा। उन्हीं को शंकु कहते

हैं, उन शंकुओं से सभी पत्ते जिस प्रकार जाल की भाँति गुथे हैं, वैसे ही ओंकार से संपूर्ण संसार की सभी वाणी गुथी है, अर्थात् जैसे पत्तों में शंकु व्याप्त है, वैसे ही ओंकार शब्दों में व्याप्त है। शब्द अपने अर्थ को सदा अधीन किये रहता है। अतएव उसे उस अर्थ से अभिन्न माना है। तदनुसार यह चराचरात्मक विश्व भी ॐ ही तो है।

उक्त छान्दोग्य श्रुति से यह स्पष्ट हो जाता है कि ओंकार का साम्राज्य न केवल शब्द के ऊपर है अपितु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होने वाले सभी अर्थ और प्रमाणातीत अप्रमेय वस्तु परमेश्वर के ऊपर भी है। इसीलिये तो माण्डूक्य श्रुति में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के सोपाधिक चेतन को ॐकार ने अपने अकार, उकार तथा मकार मात्रा से नापा है और निरुपाधिक तुरीय आत्मा को अमात्र पद से मापना कहा गया है। ऐसी परिस्थिति में ॐकार के अर्थ को समझने के लिए अपने अस्तित्व को पहले समझना पड़ेगा।

प्रत्येक सर्व सामान्य प्राणी द्वारा जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा अनुभव किया जाता है। जब हम बाह्य व्यावहारिक विषयों को चक्षुरादि इन्द्रियों से निकली हुयी अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं, तब ऐसी अवस्था को जाग्रत् कहते हैं। जब बाह्य विषयों से उपरत होकर मनोराज्य में हम विचरने लग जाते हैं, उस समय अपनी महिमा से असंख्य वस्तुओं को रचना कर हम उसी के साथ खेलने लग जाते हैं, तब उस अवस्था को स्वप्नावस्था शब्द से कहा जाता है। जीव की असंगता एव

ईमानदारी का यह ज्वलन्त उदाहरण है कि कठिन परिश्रम से अर्जन किये गये धन, जन, ऐश्वर्य तथा अन्य सभी जाग्रत् की वस्तुओं को बाहर ही छोड़कर अकेला ही स्वप्न में चला जाता है। जाग्रत् के एक तिनके को भी स्वप्न में साथ नहीं ले जाता। आवश्यकता पड़ने पर अपनी अचिन्त्य शक्ति निद्रारूप अविद्या के द्वारा स्वप्न के प्रपञ्च को रच लेता है। चाहे जाग्रदवस्था में, उस समय सीमेंट और लोहे पर सरकार का नियंत्रण होने के कारण उनकी प्राप्ति दुर्लभ हो रही हो, फिर भी वह स्वप्न-द्रष्टा अत्यन्त सरलता से विशाल-भवन का निर्माण एक क्षण में कर लेता है। पत्नी की आवश्यकता रहने पर उसका भी सृजन कर उसके साथ व्यवहार करता है। यहाँ तक कि अपने पिता और माता को भी बनाकर उनके साथ उचित व्यवहार करने लग जाता है। उस स्वप्न के पिता, माता तथा पत्नी आदि को जन्म देने वाला स्वप्नद्रष्टा ही तो है। इन बातों से जीव की अचिन्त्य शक्ति का अनुमान किया जा सकता है। इसके बाद अन्तर्जगत् को भी समेट कर गाढ़ निद्रा मे गया हुआ व्यक्ति किसी भी पदार्थ को नहीं देखता है। इसलिये इसे माण्डूक्य श्रुति में प्रज्ञानघन शब्द से कहा गया है। उस समय अज्ञान से आवृत अपने स्वरूप सुख का अनुभव वह अविद्यावृत्ति के द्वारा करता है। अतएव निद्रा से उठे हुये व्यक्ति को अनुभव किये हुये सौषुप्त सुख और अज्ञान का स्मरण होता है। वह कहने लग जाता है कि 'न किञ्चिदवेदिषं सुखमहमस्वाप्सम्' अर्थात् आज मैं सुख से सोया और कुछ भी नहीं जाना। इसी अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं।

जाग्रत् में स्थूल विषयों को भोगने के लिए दस इन्द्रियाँ,

पंचप्राण तथा अन्तःकरण-चतुष्टय ऐसे उन्नीस द्वार होते हैं। स्वप्नावस्था में भी वैसे ही जानना चाहिये। इन दोनों में भेद इतना ही है कि जाग्रदवस्था में बाह्य स्थूल विषय होते हैं और स्वप्न में जाग्रत् के अनुभवजन्य संस्कार से सहकृत निद्रारूप अविद्या से उत्पन्न होने के कारण सूक्ष्म होते हैं। दोनों अवस्थाओं को सुख-दुःख, मान-मोह एवं तृप्ति इत्यादिक समान ही होते हैं। स्वप्न से जगने के बाद स्वप्न के पदार्थों में मिथ्यात्व का बोध हो जाता है और वे जाग्रत् में बाधित माने जाते हैं, यह बात सत्य है। किन्तु उस समय तो उन्हीं से उसका सारा व्यवहार होता है, किंबहुना उस समय उसकेलिये जाग्रत् के अखण्ड वैभव बेकार ही माने जायेंगे। जाग्रत् और स्वप्न में अनन्त पदार्थों के साथ सम्पर्क होने पर भी जीव को वैसा सुख नहीं मिलता, जैसा सुषुप्ति में मिलता है। तभी तो सुख के साधनों को छोड़कर आत्मसुख के लिये सुषुप्ति में जीव प्रवेश करता है 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' 'उस समय सुषुप्ति में जीव ब्रह्म के साथ एकीभूत हो जाता है'। इस सुषुप्ति का उदाहरण रहते कौन कह सकता है कि विषयों के बिना सुख मिल नहीं सकता क्योंकि उस समय किसी भी बाह्याभ्यन्तर विषयों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है, फिर भी उसे अपार सुख का अनुभव होता है। जाग्रत् और स्वप्न में भी अनुकूल विषयों की प्राप्तिदशा में कुछ क्षण के लिये अन्तःकरण की वृत्ति शान्त हो जाती है। उस शान्तवृत्ति में स्वरूप सुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उसे भ्रांति से विषय सुख मान लेता है, वस्तुतः वह भी स्वरूप सुख ही है। इसी को पञ्चदशी में कहा है कि—

'विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति।

अन्तर्मुखमनोवृत्तावानन्दः प्रतिबिम्बति ॥

यद्यत्सुखं भवेत्तद्ब्रह्मै व प्रतिबिम्बनात् ।

वृत्तिष्वन्तर्मुखात् स्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम्' ॥

अर्थात्—'विषयों की प्राप्तिदशा में इच्छा नष्ट होने से मनोवृत्ति अन्तमुंख हो जाती है, उसी में आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ता है। याद रखो, जहाँ कहीं सुख मिल रहा है, वह ब्रह्मानन्द का प्रतिबिम्ब ही है। जब तक इच्छा बनी रहती है, तब तक मनोवृत्ति अन्तामुंख नहीं हो पाती और ऐसे अशान्त अन्तःकरण में ब्रह्मानन्द का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, किन्तु वृत्ति के अन्तर्मुख होते ही स्वरूप सुख का प्रतिबिम्ब अपने आप पड़ जाता है। इसलिये विषयसुख भी स्वरूपसुख का एक छींटा है।

चतुर्थ दिवस : कल के प्रसंग में बतलाया गया था कि ओंकार को समझने के लिये पहले अपने जीवन को समझना पड़ेगा। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में जीव परवश घूमता रहता है। इन तीनों अवस्थाओं का व्यतिरेक होता रहता है, अर्थात् जाग्रत् में स्वप्न सुषुप्ति नहीं रहती, सुषुप्ति में स्वप्न जाग्रत् नहीं रहता। इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा विद्यमान रहता है। तभी तो प्रत्येक व्यक्ति ऐसा अनुभव करता है कि मैं जगा हुआ हूँ, मैंने स्वप्न देखा, मैं आनन्द से सोया था। अब तो बिचारशील व्यक्ति स्वयं ही इसका बिचार कर लें कि तीन अवस्थाएं सत्य हैं या तीनों अवस्थाओं में अनुगत रूप से प्रतीत होनेवाला आत्मा सत्य है। सत्य पूछो तो जो कभी रहे और कभी न रहे, ऐसे पदार्थ को कोई भी विचारशील व्यक्ति सत्य नहीं मान सकता, किन्तु जो

सदा सर्वदा रहता है, वही सत्य माना जाता है। तदनुसार तीनों अवस्थाओं में प्रतीत होने वाले शरीर एवं शरीर संबन्धी प्रपञ्च सत्य नहीं माने जा सकते क्योंकि इनका परस्पर व्यतिरेक होता है। इसके विपरीत आत्मा को तीनों अवस्थाओं में रहने से सत्य मानना चाहिये। ये अवस्थाएँ आत्मा की स्वाभाविक नहीं हैं, अपितु स्वरूप के अज्ञान से भ्रान्ति होने के कारण दीखती हैं। इन तीनों अवस्थाओं में से जाग्रत् के साथ लगाव रहने पर आत्मा को 'विश्व', स्वप्न के साथ रहने के कारण 'तैजस' तथा सुषुप्ति के साथ रहने के कारण 'प्राज्ञ' नाम से कहा जाता है। माण्डूक्योपनिषद् में आचार्य गौडपाद ने कहा है कि अग्रहण एवं अन्यथाग्रहण इन दोनों से जाग्रत् स्वप्न व्याप्त हैं और सुषुप्ति केवल अग्रहण से व्याप्त है। इन सब का अभाव तुरीयात्मा में तत्त्ववेत्ता को अनुभव होता है—

अन्यथागृह्णतः स्वप्नो निद्रातत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥
अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥
प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥

(आ० प्र० १५।१६।१७)

आचार्य गौडपाद ने जाग्रत् एवं स्वप्नपद से बतलाते हुये इनका कारण अन्यथाग्रहण अर्थात् भ्रान्ति को बतलाया है। सुषुप्ति में केवल स्वरूप का अज्ञान मात्र रहता है, अन्यथाग्रहण नहीं रहता। इन दोनों (अग्रहण, अन्यथाग्रहण) का तत्त्वज्ञान से बाध कर देने पर साधक तुरीय पद को प्राप्त कर लेता है।

माया अनिर्वचनीय अनादि है, उसकी पकड़ में आकर यह जीव निद्रा तथा स्वप्न का अनुभव कर रहा है। जिस रोज यह मुमुक्षु प्राणी अनादि कुम्भकर्णी निद्रा से जग जायगा, यह सत्य बात है कि वह अपने को उस रोज निद्रा और स्वप्न से रहित अजन्मा अद्वितीय रूप में अनुभव करेगा। यदि प्रपंच सत्य होता तो निःसन्देह इसकी निवृत्ति भी होती, किन्तु यह मायामात्र है, पारमार्थिक वस्तु तो अद्वैतात्मा ही है। इस अद्वैतात्मा को जानने वाला कोई माता का लाल विरला ही होता है, शेष तो सभी उक्त तीनों अवस्थाओं में ही चक्कर काटते रहते हैं। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप को समझ लेने के बाद भी सम्भवतः साधक अपने में परिच्छिन्नता का अनुभव कर सकता है। इसी परिच्छिन्नता को मिटाने के लिये भगवान् माण्डूक्य मुनि ने व्यष्टि एवं समष्टि में अभेद रूप से आत्मा का चिन्तन करने के लिये उपदेश किया है। व्यष्टि स्थूल जगत् में अभिमान करने के कारण जहाँ चेतन का नाम विश्व पड़ जाता है, वहाँ ही समष्टि स्थूल जगत् में अभिमान करने से उसका नाम विराट् या वैश्वानर पड़ जाता है। वैसे ही व्यष्टि सूक्ष्म प्रपञ्च में अभिमान करने के कारण तैजस और समष्टि सूक्ष्म प्रपञ्च में अभिमान करने से हिरण्यगर्भ नाम पड़ जाता है तथा व्यष्टि कारण शरीर में अभिमान करने के कारण प्राज्ञ और समष्टि कारण शरीर में अभिमान करने के कारण अन्तर्यामी नाम पड़ जाता है। यही सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति एवं प्रलय का एकमात्र कारण है। इसे सहस्र शिल्पियों की कल्पना से अतीत विचित्र संसार को रचना के लिये किसी से कुछ उधार नहीं लेना पड़ता हैं, किन्तु अत्यन्त सरलता से आकाशादि भूत एवं भौतिक पिण्ड ब्रह्माण्ड की रचना कर अज्ञान से अपने आप को उसमें उलझा

हुआ देखता है। दीपक की अग्नि एवं सम्पूर्ण जगत् को क्षणमात्र में भस्मीभूत कर देने वाली अग्नि में सूक्ष्म और महान् उपाधि के सिवा क्या भेद है ? अग्नि तत्त्वतः तो एक ही है। इसी बात को यम ने कठोपनिषद् में कहा है कि—

'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

जैसे एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न काष्ठादि उपाधियों में प्रविष्ट हो तद्रूप हो बैठा है, ठीक वैसे ही सर्व भूतों का अन्तरात्मा परमात्मा मनुष्यादि शरीर में प्रविष्ट हो तद्रूप हुआ दीखता है। पर, याद रखो, इन उपाधियों के बाहर भी वह विद्यमान है।

इस प्रकार व्यष्टिशरीराभिमानी विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ को समष्टि वैश्वानर हिरण्यगर्भ एवं अन्तर्यामी में एकीभूत कर इस ओंकार की मात्राओं के साथ उसका अभिन्न रूप से चिन्तन करना चाहिये। इसी बात को माण्डूक्योपनिषद् कारिका के आगम प्रकरण में कहा गया है कि—

'ओंकारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः।
ओंकारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२४॥
युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥२५॥

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥२६॥
सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥२७॥

प्रणवं ह्यीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदये स्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति ।।२८।।
अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ।।२९।।

व्यष्टि को समष्टि में विलय कर देने के बाद क्रमशः ओंकार के अकार, उकार, मकार एवं अमात्रपद को आत्मा के चारों पाद समझे। ओंकार की जो चार मात्राएँ हैं, वे आत्मा के क्रमशः चार पाद हैं और आत्मा के जो चारों पाद हैं, वे ओंकार के अकारादि मात्रा स्वरूप ही हैं। अतः व्यष्टि का समष्टि में विलय कर देने के बाद उस आत्मा के चारों पादों को क्रमशः ओंकार की अकारादि मात्राओं के साथ अभेदरूप से चिन्तन करे। इस प्रकार वैश्वानर को ओंकार के अकारमात्रा स्वरूप, तैजस को उकारमात्रारूप, प्राज्ञ को मकारमात्रारूप एवं तुरीय आत्मा को अमात्ररूप जान लेने पर कुछ भी चिन्तन न करे। वहाँ पर सर्वथा चिन्तन का परित्याग कर देना ही निर्विकल्प आत्मा में स्थिर होना है। इसीलिये हे साधको ! प्रणव में मन को लगाओ। प्रणव ही निर्भय ब्रह्मस्वरूप है। यह ध्रुव सत्य है कि प्रणव में नित्य समाहित चित्तवाले को कहीं भी किसी प्रकार का भय नहीं है। ओंकार को ही अपर (सगुण साकार) ब्रह्म रूप माना गया है और प्रणव को ही परब्रह्म रूप भी कहा गया है। यह ओंकार अपूर्व अर्थात् कारणरहित, भेदरहित, बाह्य प्रपंचशून्य, कार्य जगत् से सर्वथा पृथक् तथा कभी भी विकारयुक्त न होने वाला है। ओंकार ही सम्पूर्ण प्रपञ्च का आदि, मध्य और अन्त है। इस प्रकार ओंकार को जानकर साधक परमात्मा से अपने आप को सर्वथा अभेद प्राप्त कर लेता है। इसलिये ओंकार को ही सभी के हृदय में साक्षीरूप से स्थित

ईश्वर समझना चाहिये। इस प्रकार सर्वव्यापी ओंकार को जानकर तत्त्ववेत्ता को शोक नहीं होता। जिसने परिच्छेद-शून्य अनन्तमात्रा वाले द्वैत के उपशमस्वरूप शिवरूप ओंकार को जान लिया; वह ओंकार स्वरूप परमात्मतत्त्व का मनन करने वाला पुरुष ही मुनि है। उससे भिन्न मननशील कोई भी मुनि हो नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि उस परमार्थ तत्त्व को जानने के लिये यह प्रणव सर्वोत्तम साधन है। महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में कहा है कि 'तस्य वाचकः प्रणवः' (१।२७) 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (१।२७) 'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (१।२६)। समाधिपूर्वक आत्मानात्मख्याति प्राप्त करने के लिये सर्वोत्तम साधन यही है कि उस परमेश्वर की अनन्त महिमा के सहित स्वरूप का वाचक ओंकार का जप किया जाय, साथ ही उसके अर्थ की भावना करे। बस! इतने मात्र से प्रत्यक् चेतन अन्तरात्मा का बोध भी हो जाएगा और सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओं का सर्वथा विनाश भी हो जायेगा। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' की व्याख्या करते हुए योगवार्तिक में कहा गया है कि—'प्रणवजपेन सह ब्रह्मध्यानं प्रणिधानं कर्तव्यम्' प्रणव जप के साथ ब्रह्म की ज्ञानयुक्त उपसना करनी चाहिये, इससे साधक को जीते जी सफलता प्राप्त होती है अर्थात् यह अन्तरात्मा परमात्मा को अवश्य प्राप्त करता है। साधन काल में आये हुये अनेक विघ्नों की थपेड़ों से कभी-कभी साधक निरुत्साह हो जाता है और कभी-कभी तो साधन ही छोड़ बैठता है। ऐसी परिस्थिति में महर्षि पतञ्जलि अपने अनुभव के आधार पर उद्घोषण कर रहे हैं कि हे साधकों! प्रणव का का आश्रय लेने पर तुम्हें उक्त अन्तरायों से कोई भय नहीं है। तुम तो प्रणवाश्रित हो, अनेकविध अन्तरायों के सिर पर

नाचते हुये उस परमात्मा को प्राप्त कर लो, चिन्ता न करो। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है कि—

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्'॥(८।१३)

'ॐ' ऐसे एकाक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण एवं उसके अर्थस्वरूप मुझ परमात्मा का चिन्तन करता हुआ जो पुरुष शरीर छोड़ता है, वह निश्चित परम गति को प्राप्त करता है। अतः जीते जी भगवत्प्राप्ति का साधन तथा मरणानन्तर परमधाम प्राप्ति का साधन एकमात्र प्रणव ही है।

पाँचवाँ दिवस : कल के प्रसंग में मैंने बतलाया था कि ओंकार की चार मात्राओं के साथ आत्मा के चारों पादों का अभिन्नभाव से चिन्तन करते हुए अन्त में निर्विकल्पक स्थिति को साधक प्राप्त कर लेता है। आज मैं उस स्थिति से पूर्व की अवस्थाओं पर पुनः सिंहावलोकन करना चाहता हूँ। जाग्रत् स्वप्न तथा सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ सर्व सामान्य व्यक्ति से अनुभव की जाती हैं। इनके अनुभव के लिए योग समाधि की आवश्यकता नहीं है, किन्तु इनकी स्थिति पर साधक को विचार करना ही चाहिए। सुषुप्ति अवस्था में चेतन आत्मा के साथ अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान का तादात्म्य बना रहता है। उसी अज्ञान में जाग्रत् स्वप्न के सम्पूर्ण ससार विलीन होकर रहते हैं। उस अज्ञान का अनुभव सुषुप्त पुरुष को अवश्य होता है। वैसे ही सुषुप्ति का सुख भी सर्वानुभवसिद्ध है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि सुषुप्तिकाल में सुख और आनन्द का अनुभव

करने वाला कौन है। वह किस साधन से अज्ञान एवं सुख का अनुभव करता है ? सुषुप्ति से उठे हुए पुरुष को 'न किंचिद-वेदिषम्' 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस स्मरण ने सौषुप्त सुख तथा अज्ञान के अनुभव को निर्विवाद सिद्ध कर दिया है, क्योंकि स्मरण सदा अनुभव किये हुए पदार्थ का ही होता है, अननुभूत का नहीं। स्मरण के प्रति कारण चाहे अनुभव हो या संस्कार, उभय पक्ष में अनुभव को नित्य मानने पर कभी भी स्मृति हो नहीं सकती। अनुभव अपने मृत्यु के पश्चात् संस्कार में परिणत हो जाता है और उससे कालान्तर में स्मृति होती है। सुषुप्ति काल में अज्ञान एवं साक्षी आत्मा के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं रहता। अज्ञान को तो जड होने के कारण अनुभव करने वाला कह नहीं सकते। साक्षी चेतन प्रकाशक होने से अनु-भाविता कहा जा सकता है, किन्तु वह नित्य, अमर, निर्विकार एकरस है। अनुभव जब तक विद्यमान रहता है, तब तक न तो स्मृति को पैदा कर सकता और न तब स्मृति की आवश्यकता ही है क्योंकि स्मृति में परोक्षरूप से वस्तु का भान होता है और अनुभव में अपरोक्षरूप से भान होता है।

स्मरण रहे कि क्षणिक-विज्ञानवादी बौद्धों ने आलय-विज्ञान एवं प्रवृत्ति-विज्ञान के भेद से विज्ञान की दो धाराएँ मान रखी हैं। वे दोनों ही विज्ञान प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होते हैं। इसीलिये तो उन्हें क्षणिक-विज्ञानवादी कहा गया है। विज्ञान की उक्त दो धाराओं में से 'अहम् अहं' धारा को आलय-विज्ञान और 'इदम् इदं' धारा को प्रवृत्तिविज्ञान कहते हैं। प्रवृत्तिविज्ञान आलयविज्ञान से उत्पन्न होता है और जाग्रत् स्वप्न में इसकी धारा चलती रहती है। जो घटाकार पटाकार इत्यादि विषया-

कार रूप से परिणत होता हुआ दीखता है। किन्तु सुषुप्ति में प्रवृत्तिविज्ञान की धारा बन्द हो जाती है और आलयविज्ञान की धारा तब भी चलती रहती है। वह आलयविज्ञान ही क्षणिक-विज्ञानवादियों की आत्मा है। पर वेदान्त में उस आत्मस्वरूप विज्ञान को क्षणिक न मानकर नित्य माना गया है। जो नित्य माना गया है। जो नित्य मुक्त, विशुद्ध, असंगरूप है, जिसका अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान के कारण अज्ञानी पुरुषों को जाग्रत्, स्वप्न में स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के साथ तथा सुषुप्तिकाल में कारण शरीर के साथ तादात्म्य दीखता है। यदि सुषुप्ति के सुख और अज्ञान का अनुभव करनेवाला उस नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मा को माने तो जाग्रत् में उनकी स्मृति कभी भी न हो सकेगी। ऐसी परिस्थिति में गम्भीरता से इसका विचार आवश्यक हो जाता है।

उक्त शंकाओं का समाधान यह है कि 'सर्वे भावाः क्षण-परिणामिनः ऋते चितिशक्तेः' केवल चेतनात्मा को छोड़कर सभी वस्तुएँ प्रतिक्षण परिणामशील होने के कारण बदलती रहती हैं। इस अभियुक्त वचन के अनुसार मायाअविद्या एवं उसके कार्य, स्थूल सूक्ष्म शरीर तथा प्रपञ्च प्रतिक्षण परिणामी हैं। अनवधानता के कारण चाहे हम उसके परिणाम को न भी समझ सकें; पर परिणाम अवश्य होता है। सांख्यों ने सृष्टि-काल में त्रिगुणरूपा प्रकृति का महदादि रूप से जहाँ विषम परिणाम माना है, वहाँ पर प्रलयकाल में भी परिणाम माना ही है। भेद इतना ही है कि सृष्टिकाल में तीनों गुणों की विषमावस्था होती रहती है परन्तु परिणाम तो प्रलयकाल में तीनों गुणों की साम्यावस्था बनी रहती है। परन्तु परिणाम तो

प्रलयकाल में वे मानते ही हैं। वैसे ही सृष्टिकाल में निराकार प्रकृति आकाशादि पञ्चभूत एवं प्रपञ्च के रूप में बदलती रहती है। किन्तु प्रलयकाल में प्राणियों के भोगदात्री कर्मों के उपरत हो जाने से भूत-भौतिक रूप से माया का परिणाम नहीं होता फिर भी परिणाम होना युक्तिसंगत ही है, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं—'सर्वे भावाः क्षणपरिणामिनः ऋते चितिशक्तेः'।

उस माया के समान ही जीव की उपाधि अविद्या भी जाग्रत् स्वप्न में स्थूल-सूक्ष्म शरीर के साथ तादात्म्य रूप विपर्यय के रूप में बदलती रहती है। सुषुप्तावस्था में इस अविद्या का विषम परिणाम कथंचित् न भी मानें, फिर भी उसका परिणाम मानना युक्तिसंगत ही है। ऐसी परिणामी अविद्या के साथ तादात्म्य हुआ चेतन को भी व्यावहारिक दृष्टि से अनित्य मान लेते हैं। इस रहस्य को न समझने के कारण बौद्धों ने आलयविज्ञान धारा को भी अनित्य मान लिया है। सुषुप्ति का अनुभव करने वाला विशुद्ध चैतन्य को हम नहीं मानते और न जड़ अज्ञान को भी उसका अनुभविता मानते हैं किन्तु अज्ञानोपहित चेतन ही उसका (सुषुप्ति का) अनुभव करने वाला है। उपाधि के अनित्य होने से उपधेय को भी अनित्य माना गया है। जैसे घटज्ञान पटज्ञान वस्तुतः नित्य चैतन्यरूप होते हुये भी घटाकारादि रूप वृत्ति उपाधि के कारण उत्पत्ति-विनाशशील माना गया है। अतएव उस घटज्ञान के नाश होने पर संस्कार बनता है और उसकी कालान्तर में स्मृति होती है। ठीक वैसे ही सुषुप्ति में सुख और अज्ञान को विषय करने वाली अविद्या वृत्ति से उपहित चैतन्य का नाश होता है।

इसीलिये इसका संस्कार द्रवीभूत होकर अन्तःकरण में आता है और पुनः कालान्तर में स्मृति होती है। तात्पर्य यह कि स्वरूपज्ञान नित्य तथा वृत्तिज्ञान को हम भी अनित्य मानते हैं। वृत्ति जैसी अन्तःकरण की बनती है, वैसी ही अविद्या की भी बनती है। इस पर शङ्का हो सकती है कि साकार का परिणाम देखा गयाहै लेकिन निराकार अविद्या का परिणाम कैसे मान सकेंगे ? इसका समाधान यह है कि जैसे निराकार अविद्या का परिणाम आकाश एवं निराकार आकाश का परिणाम वायु 'तस्माद्वा एतस्मादात्मान आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुः' इत्यादि श्रुति से सिद्ध हो चुका है। वैसे ही अविद्या का परिणाम मानने में कोई दोष नहीं है। वस्तुतस्तु 'सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो। सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा' (विवेक चूडामणि) इस वाक्य में आचार्य भगवत्पाद ने माया को साकार, निराकार तथा उभयरूप नहीं माना किन्तु इन तीनों से विलक्षण माना है। ऐसी स्थिति में माया=अविद्या को निराकार मानकर कुछ भी दोष नहीं दिया जा सकता है। आचार्य ने उक्त श्लोक में सत्, असत् तथा उभयरूप से भिन्न चेतन से भिन्न, अभिन्न एवं उभयरूप से पृथक् बतलाते हुये महती आश्चर्य स्वरूपा अनिर्वचनीयरूपा माया को माना है। इस माया की अद्भुतता का वर्णन करते हुये पञ्चदशीकार कहते हैं कि—

'एतस्माद्‌किमिवेन्द्रजालमपरं यद्‌गर्भवासस्थितं
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाङ्कुरम्।
पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरावेषैरनेकैर्वृतं
पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति॥

(६।१४७)

इससे बड़ा क्या अन्य इन्द्रजाल हो सकता है कि रेत की एक बूंद गर्भ में स्थित हो चेतन हो जाती है। वह हाथ, पैर, मस्तक इत्यादि अनेक अंकुरों से युक्त हो जाता है। पुनः क्रमशः बालपन, यौवन तथा वार्धक्य रूप अनेक वेषों से युक्त होता है। वह रूपादि को देखता भक्ष्यवस्तु को खाता, शब्द को सुनता, गन्ध को सूँघता, अपने गन्तव्य देश में जाता और आता है। कौन भला अन्दाज लगा सकता है कि उस रेत की बूँद में ७२ करोड़ नाड़ियों वाला शरीर और अनेक अवयव कैसे निकल आये। इसे इन्द्रजाल (माया) न मानें तो और क्या कहेंगे। वट के एक छोटे से बीज में से अंकुर, टहनियाँ, पत्ते, शाखाएँ, प्रशाखाएँ, पुष्प एवं फल कैसे निकल आते हैं। यह तो एक 'अघटित घटना पटीयसी माया' की ही अद्भुत शक्ति है, जो विश्व की प्रत्येक वस्तुओं में दीख रही है। इन अनन्त उदाहरणों के रहते जो व्यक्ति अविद्या के परिणाम मानने में ही भड़कता हो, उसे तो निर्बुद्ध ही मानना चाहिये। और उसके सम्बन्ध में विशेष क्या कहें। इस अनिर्वचनीय अविद्या से युक्त आत्मा सुषुप्ति के सुख तथा अज्ञान का अनुभव करता है। सुषुप्तकाल में स्थूल अज्ञान प्राणी के भोगदायी कर्मरूप ताप से पिघलकर जाग्रदवस्था में अन्तःकरण के रूप में तरल हो जाता है। जो रंग डालकर हमने बर्फ को जमाया, पिघलने पर जल भी उसी रंगवाला रहेगा। बर्फ का रंग उसके पिघले हुये जल में भी हम देखते ही हैं। ठीक वैसे ही प्राज्ञात्मा का संस्कार उसके अपररूप विश्व और तैजस में आना स्वाभाविक है। अतएव प्राज्ञात्मा के अनुभव किये हुये सुषुप्ति के सुख और अज्ञान का स्मरण जाग्रत् में विश्वात्मा को होता है। आखिर विश्व, तैजस प्राज्ञ में उपाधियों का ही भेद है। चेतनात्मा उक्त तीनों अवस्थाओं में एक ही विद्यमान

है । फिर भला सुषुप्ति के अज्ञान और सुख का स्मरण विश्वात्मा को क्यों न हो ? ये तीनों अवस्थाएँ तथा उनके अभिमानी चेतन परमार्थ दृष्टि से उस निर्विकल्प तुरीयात्मा में कल्पित है, जिस तुरीयात्मा को एकमात्र प्रणव का आश्रय लेकर हमें साक्षात्कार करना है ।

यदि किसी साधक ने अपने जीवन भर के प्रयास से प्रणव के अर्थ का प्रत्यक्ष कर लिया, तो उसका जीवन सफल हो गया क्योंकि यह तत्त्वमसि इत्यादिक महावाक्य के समान ही ब्रह्म और आत्मा के अभेदबोधन करने में समर्थ है । प्रणव के अर्थ का ज्ञान तथा उसका चिन्तन प्रत्यक्ष फल देने वाला है । धर्म का ज्ञान और धर्मानुष्ठान के फल का ज्ञान परोक्ष है क्योंकि मरण के बाद ही स्वर्गादि फल मिलते हैं । अतः उनके सम्बन्ध में कदाचित् सन्देह हो सकता है किन्तु वेदान्त विचार का फल प्रत्यक्ष है । यहाँ तो नगद का सौदा करना है; उधार नहीं ।

जिस धन, जन, ऐश्वर्य को धर्म और परलोक को भी तिलाञ्जलि देकर एकत्रित किया, वे मरने के बाद छूटेंगे, ऐसी बात नहीं बल्कि प्रतिदिन जाग्रत् से स्वप्न और स्वप्न से जाग्रत् में जाता हुआ जीव इन्हें छोड़कर अकेले ही सो जाता है, इसे हम पूर्व प्रसंग में भी बतला आये हैं । इससे तीनों अवस्थाएँ तथा उनमें दृश्यमान् प्रपञ्च से मिथ्यात्व निश्चय के साथ आत्मा का सत्यत्व निश्चय कर लेता है ।वह आत्मा न केवल सत्य है किन्तु अलुप्तप्रकाश होने के कारण स्वप्रकाश चेतनस्वरूप भी है । यदि वह चेतन न होता तो बाह्य प्रपञ्च आभ्यन्तर प्रपञ्च स्वप्न तथा सुषुप्ति को कौन प्रकाश कर सकता था, क्योंकि उससे भिन्न वस्तु तो जड माया के कार्य

होने जड ही तो है। जड वस्तु अपने या अन्य को नहीं प्रकाश कर सकती। चिदाभास से युक्त बुद्धि को प्रकाशक मानने पर भी आत्मा की प्रकाशरूपता स्वतः सिद्ध हो जाती है, क्योंकि उसके चेतन, प्रकाशरूप होने पर ही उसका आभास भी प्रकाशक हो सकता है। अतः आत्मा सत्य एवं चेतनस्वरूप है। उसकी आनन्दरूपता का अनुभव सुषुप्तिकाल में सभी जीव करते ही हैं, जिसे हम पूर्व प्रसंग में कह आये हैं। प्रकारान्तर से भी आत्मा की सुखरूपता का निश्चय हो सकता है।

छठा दिन : यह सर्वानुभव सिद्ध बात है कि सुख एवं सुख के साधनों में सबका स्वाभाविक प्रेम देखा जाता है, जो जितनी अधिक सुख देनेवाली वस्तु होगी, उसमें उतना ही अधिक प्रेम होगा। धनादि की अपेक्षा पुत्र में, पुत्र की अपेक्षा अपने स्थूल शरीर में, उसकी अपेक्षा सूक्ष्म शरीर प्राणादि में अधिक प्रेम सब किसी का है। आवश्यकता पड़ने पर धन-पुत्रादिक को छोड़कर भी मनुष्य सुखी होना चाहता है। घर में आग लगने पर जलते हुये धन और पुत्र को छोड़कर अपने शरीर एवं प्राण की रक्षा के लिये पुरुष निकल आता है। यह उसका अपने प्रति अधिक स्नेह का ज्ञापक है। जिन हस्त-पादादि अपने अवयव को तेल फुलेल लगाकर धोता है, वस्त्र से सजाता है, अकड़कर उनकी ओर बारबार देखता और प्रसन्नता से फूला नहीं समाता है। उन्हीं हाथ पैर किसी अवयव में असाध्य रोग हो जाने पर उस रोग के प्रतिकार की सम्भावना न देख डॉक्टर की सलाह से फीस देकर भी उसे कटवा डालता है क्योंकि अब उसे कटवाकर ही अपने को सुखी देखना चाहता है। निर्मम प्राण का प्यासा किसी शत्रु के पाले पड़ जाने पर उससे प्रार्थना करता है कि भैया ! तू चाहे हाथ

पाँव तोड़ दें, एक आँख फोड़ दें परन्तु किसी प्रकार जीव को रहने दे। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि स्थूल शरीर, इन्द्रियों की अपेक्षा प्राण अधिक प्यारा है। कभी-कभी प्राण का परित्याग कर भी जीव सुखी होना चाहता है। आये दिन आत्महत्या की घटनाएँ हमें बताती हैं कि प्राण का परित्याग कर आत्महत्यारा सुखी होना चाहता है। ये सभी विचारधाराएँ स्पष्ट कर रही हैं कि आत्मा ही परमप्रेम का विषय होता है। उसे परमानन्द-रूप होने में पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार कोई सन्देह नहीं है। सभी वस्तु सुख के लिये है, सुख किसी अन्य वस्तु के लिये नहीं है। परमप्रेमास्पद हेतु से अन्तरात्मा की सुखरूपता का निश्चय हम करा आये हैं। इसी को संक्षेप शारीरक में स्वामी सर्व-ज्ञात्ममुनि कहते हैं कि—

सर्वं यदर्थमिह वस्तु यदस्ति किञ्चित्
पारार्थ्यमुज्झति च यन्निजसत्तयैव।
तद्वर्णयन्ति हि सुखं सुखलक्षणज्ञाः
तत्प्रत्यगात्मनि समं सुखतास्य तस्मात्॥
प्रेमानुपाधिरसुखात्मनि नोपलब्धः
स प्रत्यगात्मनि कृमेरपि नित्यसिद्धः।
प्रेयः श्रुतेरपि ततः सुखतानुमानं
नैयायिकोऽपि न हृगात्मनि निह्नवीत॥

(२४-२५) सं० शा०

इस संसार में जो कुछ भी वस्तु दीखती है, ये सब जिसके लिये हैं और जो स्वभाव से अन्य किसी के लिये नहीं है, उसी को सुख के स्वरूप जाननेवाले विद्वानोंने सुखरूप से वर्णन किया है। हम देखते हैं कि समस्त पदार्थ सुख प्राप्ति के लिये

हैं; पर सुख किसी अन्य के लिये नहीं है। सुख का यह लक्षण अन्तरात्मा में घट रहा है। इसलिये आत्मा को सुखरूप मानने में कोई सन्देह नहीं है। आत्मा की सुखरूपता का इस प्रकार भी अनुमान लगाया जा सकता है कि जो वस्तु सुखरूप तो नहीं है, किन्तु सुख का साधन है, ऐसी वस्तु में सुख प्राप्ति के लिये प्रेम हुआ करता है। ऐसे प्रेम को सोपाधिक प्रेम कहते हैं तुच्छ जन्तु कीड़ों का भी नित्य सिद्ध देखा जाता है। वे भी अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक प्रेम आत्मा में करते हैं। इसी निरुपाधिक प्रेम को परमप्रेम भी कहा जाता है।

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' (बृ० १।४।८) यह श्रुति स्पष्ट कह रही है कि पुत्र, धन, शरीरादि अन्य सभी वस्तुओं से सर्वाधिक प्रिय सर्वानुभव सिद्ध यह अन्तरात्मा ही तो है। सर्वलोकानुभव तथा श्रुति प्रमाण से भी आत्मा में परमप्रेमास्पदत्व सिद्ध हो जाता है। उस आत्मा की सुखरूपता का अनुमान अत्यन्त सरलता से किया जा सकता है। आत्मा परम प्रेमास्पद है। इसका अपलाप तार्किक भी नहीं कर सकते।

बृहदारण्यक के मैत्रेय ब्राह्मण में महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेया से कहा—अरी मैत्रेयि ! पति, पत्नी, पुत्र, धन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, देव तथा सभी प्राणी से हम जो प्रेम करते हैं, वह अपने लिये ही करते हैं; न कि उनके लिये। इन सभी प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि सुखरूप आत्मा ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के योग्य है। मानस में गोस्वामी जी ने भी कहा है कि 'सुर नर मुनि सबकी यह रीति। स्वारथ लागी करै सब प्रीति।' वहाँ स्वार्थ शब्द का अर्थ आत्मा ही करना

चाहिये। इस प्रकार त्रिकालाबाध्य होने के कारण आत्मा सत्य है, सबका प्रकाशक एवं किसी अन्य का प्रकाश्य न होने से चेतन तथा परमप्रेम का विषय होने से आत्मा परमानन्दस्वरूप है। इतना सिद्ध हो जाने के वाद भी आत्मा में परिच्छिन्नता दीखती है तथा परतन्त्रता भी दीखती है। कोई भी जीव अपनी सत्ता को सीमित नहीं देखना चाहता और न परतन्त्र ही रहना चाहता है। इसीलिये तो इस लोक के अखण्ड साम्राज्य स्वर्ग का आधिपत्य तथा ब्रह्मलोक के अधिकार को भी अपने हाथ में लेना चाहता है। परिच्छिन्नता ही दुःख है और सर्वाधिक अपरिच्छिन्नता अमृत एवं सुखरूप है, इसे छान्दोग्य श्रुति में कहा गया है कि—

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। यदल्पं तन्मर्त्यं तद्दुःखम्'

निश्चित ही जो अपरिच्छिन्न है, वही सुखरूप है और जो परिच्छिन्न है वह नश्वर दुःख रूप है। अपरिच्छिन्न सत्ता ज्ञान तथा आनन्द परमात्मस्वरूप ही है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ भी कह रही हैं। ऐसे परमात्मतत्त्व को जो अपने अन्तःकरण में आत्मभावेन साक्षात्कार करता है, उसी को शाश्वत शान्ति तथा सुख प्राप्त हो सकता है।

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेकोबहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषांशान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥
(कठ० २।२।१३)

जो अनित्य वस्तुओं में भी नित्यरूप, चेतन में भी चेतन, अकेले अनन्त प्राणियों की कामनाओं को सिद्ध करनेवाला है, ऐसे अन्तःकरण में स्थित तत्त्व का आत्मभावेन जो साक्षात्कार करते हैं, उन्हीं धीर पुरुषों को शाश्वत शान्ति मिल सकती है। मानस में कहा है कि—

प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।
तुम तजि तात सोहात गृह जिन्हहि तिन्हहि बिधि बाम।।
(अयोध्याकाण्ड २।२९०)

हे राम ! तुम प्राणों के प्राण, जीवों के जीव, और सुख के सुख हो अर्थात् प्राणों में प्राण की शक्ति, जीव में चेतनता प्रदान करने वाले तथा लौकिक सुख का एकमात्र उद्गमस्थान तुम्हीं हो। तुम्हें छोड़कर जिन्हें घर, संसार, भोगादि प्रिय है उन पर विधाता ही बाम है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि—

'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ'।।

अर्थात् कोई भी प्राणी प्राण एवं अपान से जीवित नहीं होता है किन्तु जीवन का कारण तो कुछ और ही है, जिसमें ये दोनों ही जुड़े हुये हैं। इस श्रुति से भी प्राण में सत्ता स्फूर्ति एवं प्रेरणा भरने वाले चेतन तत्त्व को ही सम्पूर्ण संसार का एकमात्र आश्रय माना गया है। अन्तःकरण में स्थित ऐसे सच्चिदानन्द ब्रह्म को देखने वाला कोई धीर पुरुष ही होता है। कठोपनिषद् में कहा है कि—

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ्
पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षु-
रमृतत्वमिच्छन्' ।। (कठ० २।१ १)

ईश्वर ने प्रायशः इन्द्रियों को बहिर्मुख ही बनाया है, इससे जीव की हिंसा हो गयी । अतएव जीव बाहर ही देखता है; अन्तरात्मा को नहीं । इसी से इसे बार-बार जन्म-मरणादि दुःख का अनुभव करना पड़ता है । कोई विरला ही गुरु का लाल धीर पुरुष अमरत्व की आकांक्षा से चक्षुरादि इन्द्रियों की बहिर्मुखता को रोककर अन्तरात्मा परमेश्वर को देखता है । इस मन्त्र में धीर उसी को कहा गया है, जो इन्द्रियों की एवं मन की बहिर्मुखता को रोककर अन्तरात्मा का प्रत्यक्ष कर सकता है । लोक में देखते हैं कि भयंकर शस्त्रास्त्रों से भयभीत न होनेवाला, वेदशास्त्र के व्याख्यान में पटु, समुद्र के अन्तस्तल में जलचरों की भाँति समुद्र की छाती को चीरकर अप्रतिहत गति से विचरने वाला तथा राकेट जैसे विमानों का निर्माण करने वाला पुरुष भी मन तथा इन्द्रियों की दासता से मुक्त नहीं है । अतः श्रुति ने इससे भी विलक्षण शक्ति सम्पन्न व्यक्ति को धीर शब्द से कहा है उस धीर व्यक्ति के लिये अमरत्व प्राप्ति का साधन प्रणव का चिन्तन ही है क्योंकि यह प्रणव उस परमात्म प्राप्ति का सबसे बड़ा आलम्बन है ।

'एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते' ।।

इस श्रुति में ओंकार को ही परमेश्वर प्राप्ति का सबसे

बड़ा आलम्बन माना गया है। रहस्य के सहित परमेश्वर के आलम्बन इस ओंकार को जानने वाले व्यक्ति की महिमा ब्रह्म लोक में गायी जाती है। याद रखे! दृढ़ता से इस आलम्बन का आश्रय लेने वाला पुरुष ही संसार चक्की में नहीं पीसा जा सकता है, अन्यथा इस चक्की के दो दल के बीच पड़ने वाले व्यक्ति कभी भी साबुत बच नहीं सकते। इसीलिये तो कबीर साहब ने कहा है कि—

चलती चक्की देख के दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय ॥

संसार में राग-द्वेषादि दो पाटों के समान हैं। निर्विकार कूटस्थ आत्मा एवं उसका आलम्बन ॐकार कील के समान है। कील से चिपका हुआ अन्न तो चक्कियों की पीसान से बच जायेगा किन्तु उससे पृथक् हुये अन्न कभी भी बच नहीं सकता।

चलती चक्की देख के दिया कमाल हँसाय।
जो कीली से लाग रहे सो क्यों पीसा जाय ॥

अतएव काल्याणकामी व्यक्ति का एकमात्र यही कर्तव्य है कि वह प्रणव के आश्रय में रहकर आत्मतत्त्व का चिन्तन करता रहे।

सातवाँ दिन : पूर्व प्रसङ्ग में यह बतलाया गया था कि ओंकार संपूर्ण वेदों का सार है और वह अपनी चार मात्राओं से सम्पूर्ण संसार, संसारी तथा संसारातीत सच्चिदानन्द ब्रह्म को भी बड़ी कुशलता से बतला रहा है। इस ओंकार के संबन्ध

में मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् । (मु० २।६) हे मुमुक्षुओं ! तुम अपनी आत्मा का ध्यान ओंकाररूप से करो; इसी से तुम्हारा कल्याण होगा। अनादि अज्ञान उसके कार्य प्रपञ्च के अधिष्ठान उस विज्ञानघन आत्मा का साक्षात्कार तुम कर लोगे। अविद्यारहित ब्रह्मस्वरूप आत्मा के प्रत्यक्ष के लिये ओंकार ही सर्वोत्कृष्ट आलम्बन है क्योंकि यह सम्पूर्ण वेदों का सार है। इसे गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा और कठोपनिषद् में नचिकेता के प्रति यमाचार्य ने बड़े उदात्त स्वर से ओंकार की महिमा गायी है। यथा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्
'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
(कठ० १।२।१५-१६)

'हे नचिकेता ! मैं तुम्हारे प्रष्टव्यविषय परमात्मतत्त्व को संक्षेप में बतला रहा हूँ, शारीरिक, वाचिक, मानसिक जितने भी तप वेदविहित हैं, इनका जो प्रतिपाद्य है, उस अपने प्रतिपाद्य वस्तु को ये सभी तप मूक भाव से बतला रहे हैं। जिसकी आकांक्षा रख के कठोर ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण साधक करते हैं, वह ओंकार स्वरूप ही तो है। 'ॐ' यह अक्षर अपर ब्रह्मस्वरूप और परब्रह्म स्वरूप भी है, इस ओंकार रूप प्रतीक को पर, अपर ब्रह्म की प्राप्ति के साधन जानकर और उसका अनुष्ठान कर साधक जिसे चाहता है; उसे प्राप्त कर लेता है।'

यह तो पहले भी कहा जा चुका है कि इस ओंकार में चार मात्राएँ हैं। इन मात्राओं की आत्मा के चार पादों के साथ अभेद भाव से चिन्तन की बात भी कही गयी है। अकार मात्रा का साम्य वैश्वानर के साथ है क्योंकि जैसे अकार सभी वर्णों में व्याप्त है 'अक्षराणामकारोऽस्मि (गीता १०।३३) इस गीतोक्त भगवद्वाक्य से भी अकार की सभी वर्णों में व्यापकता सिद्ध होती है। वैसे वैश्वानर की व्यापकता लोकप्रसिद्ध है। इसी समानता को लेकर वैश्वानर को ओंकार का अकारस्वरूप माना गया है। हमारी संस्कृत भाषा में वर्ण माला से लेकर वाक्य तथा महावाक्य तक वर्णों का स्वरूप ,एक सा ही माना गया है। हम जिस वर्ण के सम्बन्ध में जैसा सोचते हैं, वैसे ही लिखते हैं और उच्चारण भी उसी प्रकार करते हैं। यथा सम्पूर्ण वर्णों में अकार को व्याप्त रूप से जानते हैं, वैसे ही लिखते और उच्चारण भी करते हैं। जब कि अन्य भाषाओं में वर्णों का चिन्तन कुछ और प्रकार से, लेखन कुछ और प्रकार तथा उच्चारण कुछ और ही ढंग से करते हैं। इसे भाषा के जानकार सभी जानते हैं। अंग्रेजी के 'A' वर्णमाला का अन्यरूप से उच्चारण तो होता है और ग्रहण करते हैं अन्य रूप से। वैसे ही अलिफ़ वर्ण का भी वाक्य में अकार रूप से ही उच्चारण होता है। इसलिये विवश हो कहना पड़ता है कि संस्कृत महात्माओं की भाषा है, और अन्य भाषाएँ दुरात्माओं की हैं क्योंकि नीतिकारों ने कहा है कि—

> 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
> मनस्यन्यद्वचस्यन्मत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥'

जैसे अकार से सम्पूर्ण वर्ण व्याप्त हैं, वैसे ही वैश्वानर

आत्मा से सम्पूर्ण स्थूल प्रपंच व्याप्त हैं। इसी व्यापकता-सदृश्य को लेकर वैश्वानर और अकार मात्रा को अभिन्न माना गया है। प्रणव के उपासक अकार का उच्चारण करते ही वैश्वानर को अकार मात्रा में विलय कर देते हैं। वैश्वानर की अपेक्षा हिरण्यगर्भ और तैजस भी सूक्ष्म उपाधिक होने के कारण उत्कृष्ट है। वैसे ही अकार के बाद उकार मात्रा के उच्चारण में भी उत्कृष्टता प्राप्त होती है। इसी उत्कृष्टता रूप साहृश्य को लेकर उकार मात्रा में साधक हिरण्यगर्भ एवं तैजस को विलीन कर दे। सम्पूर्ण प्रपञ्च का विलय स्थान ईश्वर और प्राज्ञात्मा है। इधर ओंकार की मकार मात्रा भी क्रमशः उकार का विलय स्थान है। इसी साहृश्य को लेकर मकारोच्चारण के साथ उसमें समष्टि व्यष्टि-कारण प्राज्ञात्मा में ईश्वर और प्राज्ञ को विलीन कर दे। तत्पश्चात् इस मकार को ओंकार के अर्धमात्रा में विलीन करे, जो तुरीय आत्मस्वरूप ही है। तुरीय स्वरूप अर्ध-मात्रा में मकार के विलय का अर्थ है अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान का ध्वंस हो जाना। उस समय आवरणशून्थ चिन्मय तत्त्व का भान उस तत्त्ववेत्ता को होता है। जीवन के लक्ष्य की सिद्धि हो जाने के कारण वह कृतकृत्य हो चुका, वह संसार का वन्दनीय है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। स्मरण रहे माया एवं उसके कार्य से सर्वथा शून्य तुर्यात्मा है, उसी रूप में जब साधक उसे देख भी लेता है, तभी उस परतत्त्व को जानने वाले में कृतकृत्यता आती है। उसके पूर्व स्थूल, सूक्ष्म कारण देह और प्रपञ्च से विशिष्ट कारण को अपर ब्रह्म कहते हैं।

प्रश्नोपनिषद् के पञ्चम प्रश्न में शिवि के पुत्र सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा है कि—'स यो ह वैतद्भगवन्मनुष्येषु

प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जायतीति ।' 'तस्मै स होवाच । एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म, यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ।' (५।१।२) हे भगवन् ! मनुष्यों में जो कोई भी प्रणव का अधिकारी मरणपर्यन्त ओंकार का चिन्तन करता है, वह उस ओंकार की उपासना से किस लोक के ऊपर विजय प्राप्त करता है ? महर्षि पिप्पलाद ने सत्यकाम से कहा—हे सत्यकाम ! यह जो ओंकार है, वही पर और अपर ब्रह्मस्वरूप है। इसे तुम सगुण एवं निर्गुण ब्रह्मरूप समझो। अतः उपासक इसी के आलम्बन से उनमें से एक ब्रह्म को व्याप्त कर लेता है। इसी प्रसंग में ओंकार की एक-एक मात्रा की उपासना का भी महान् फल बतलाया गया है क्योंकि यह प्रणव सम्पूर्ण वेदों का सार है 'प्रणवः सर्ववेदेषु'। प्रणव की अकार मात्रा को ऋग्वेदस्वरूप, उकार को यजुर्वेदस्वरूप और मकार मात्रा को सामवेदस्वरूप माना गया है। अतएव ओंकार की अमात्रा के उपासक को ऋग्वेद मृत्यु के पश्चात् ऐसे मनुष्य लोक में पहुँचा देता है। जहाँ वह ब्राह्मण शरीर, तप, ब्रह्मचर्य तथा सम्पदा से सम्पन्न हो ओंकार की उपासना की महिमा का अनुभव करता है। यदि इस प्रणव की उकार मात्रा का चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है तो उस साधक को यजुर्वेद अन्तरिक्षलोक में पहुँचा देता है, जिस स्वर्गलोक में परमैश्वर्य का अनुभव कर पुनः मनुष्यलोक में लौट आता है, एवं प्रणव की तीनों मात्राओं से विशिष्ट ओंकार द्वारा परब्रह्म की उपासना करने वाले साधक को सामवेद ब्रह्मलोक में पहुँचा देता है, जहाँ वह हिरण्यगर्भ से इस व्यापक परमात्मतत्त्व को देखता है। वह सम्पूर्ण पाप से वैसे ही मुक्त हो जाता है, जैसे सर्प केंचुली से मुक्त हो जाता है।

विशेष क्या कहूँ, इस प्रणव की उपासना करने वाले साधक को ऋग्वेद मनुष्य लोक को, यजुर्वेद स्वर्गलोक को प्राप्त करा देता है। इसे मेधावी विद्वान् लोग भी जानते हैं। अतएव साररूप से पिप्पलाद महर्षि ने कहा है कि—

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥' (५-७)

अर्थात्—ओंकार आलम्बन से उपासक न केवल उक्त लोकों को प्राप्त करता है अपितु इसी ओंकार के आलम्बन से वह विद्वान् उस स्वयंप्रकाश आनन्दस्वरूप आत्मा को प्राप्त कर लेता है, जिसे वेदान्त में दोष से रहित, शान्त, वार्धक्य से रहित, मरणादि दुःख से शून्य, द्वैतप्रपञ्च से परे परब्रह्मरूप माना गया है। इस प्रकार ओंकार की महिमा श्रुति-स्मृति में सर्वत्र उदात्त स्वर से गायी गयी है। हमारे दर्शनविचार की परम्परा में नाम और नामी अर्थात् वाच्य और वाचक को भिन्नाभिन्न रूप से माना गया है। उन दोनों का सर्वथा भेद भी नहीं मान सकते और न सर्वथा अभेद ही मान सकते हैं। अग्नि शब्द उसके अंगार अर्थ में सर्वथा अभेद मानें तो अंगार के समान अग्नि शब्द के उच्चारण से जीभ को आग की प्रतीति होनी चाहिये। अतः दोनों सर्वथा अभिन्न नहीं हैं। ऐसे ही दोनों को सर्वथा भिन्न भी नहीं कह सकते, अन्यथा अग्नि शब्द से अंगार अर्थ का बोध नहीं होना चाहिये था। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन कवि कालिदास ने 'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥" (रघु० १।१) इस

श्लोक से किया है। ऐसा ही अभिप्राय गोस्वामी तुलसीदासजी का है। उन्होंने मानस में कहा है।

'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
वंदौ सीतारामपद जिनही परम प्रिय खिन्न ॥'

अर्थात् शब्द और अर्थ कहने मात्र के लिये भिन्न है, वस्तुतः भिन्न नहीं है। वैसे ही सीता और राम ये दोनों कहने के लिये भिन्न हैं, वस्तुतः अभिन्न हैं। इसी भरोसे से गोस्वामी नाम का आश्रय लेकर अपार संसार समुद्र से स्वयं भी तरे और सारे विश्व को तैरने के लिये उन्होंने मार्ग प्रदर्शित किया है। उनका कहना है कि नाम और नामी में बड़ा छोटा कहना अपराध माना जायेगा फिर भी मैं दोनों के गुण-दोष सामने रख देता हूँ, विद्वान् स्वयं इसका निर्णय करें। वे कहते हैं—

'को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुनभेदु समुझिहहिं साधू ॥
देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना ॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें ॥
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी ॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ॥
(रा० च० बा० काण्ड २०)

अर्थात् रूप नाम के अधीन है क्योंकि नाम के बिना रूप का ज्ञान नहीं होता। हाथ पर रखी हुई चीज की भी नाम के बिना पहिचान नहीं होती, किन्तु रूप न जानने पर भी प्रेमपूर्वक नाम का स्मरण करने से रूप स्वयं सामने आ जाता है। यों तो नाम

और रूप दोनों की महिमा अवर्णनीय है, समझने पर बड़ा आनन्द तो मिलता है, इसे वाणी कह नहीं सकती। निर्गुण और सगुण ब्रह्म में नाम ही परिचायक साक्षी है। श्रुति सिद्धान्तानुसार यह दोनों का बोधक है और यह चतुर दुभाषिया का काम करता है। गोस्वामीजी ने नाम की महिमा इतनी अधिक गायी है कि निर्गुण और सगुण दोनों ही से नाम को श्रेष्ठ मान लिया है—

'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ।।
मोरें मत बड़ नामु दुहू तें। किए जेंहि जुग निज बस निज बूतें ।।

निर्गुण तथा सगुण दोनों ही ब्रह्म के स्वरूप हैं। दोनों ही वाणी के अविषय, अपरंपार, अनादि एवं अनुपम हैं, जिन्हें मैं अग्रिम प्रसंग में बताऊँगा। यहाँ तो गोस्वामीजी के मत से सगुण और निर्गुण दोनों से नाम बडा है क्योंकि नाम ने अपने बल बूते पर दोनों को ही अधीन कर रखा है। जैसा कि अभी उपनिषद् में भी बतलाया गया है। ऐसी सुदृढ़ ओंकाररूप नौका का आश्रय ले संसार समुद्र से पार उस परात्पर परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। चतुर्थाश्रमी यतियों का तो यह उत्कृष्ट जीवन है, इसलिये मैंने संक्षेप में इसका स्वरूप एवं माहात्म्य वर्णन किया।

आठवाँ दिन : आज पुराणों के आधार पर भी प्रणव का स्वरूप, अर्थ एवं महिमा बतलाऊँगा। शिवपुराण में प्रणव मंत्र जपने का अधिकारी चतुर्थाश्रमी यति ही माना गया है। भगवान् शंकर ने जगदम्बा पार्वती के प्रति प्रणव का स्वरूप एवं अर्थ बतलाते हुए कहा है कि—

'ब्रह्मादिस्थावरान्तानां सर्वेषां प्राणिनां खलु।
प्राणः प्रणव एवाऽयं तस्मात् प्रणव ईरितः ॥'
(शि० पु० कैलास० सं० ३।१४)

ब्रह्मादि देवता से लेकर जड़-स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों का यह प्रणव मंत्र ही प्राण अर्थात् जीवन या आधार है। इसी से इसे प्रणव कहा गया है। वेदान्त सिद्धान्तानुसार महा-वाक्यार्थ ज्ञान के बिना आत्मा का परिच्छिन्नत्व मिटता नहीं है अर्थात् विचार की दृष्टि से स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीन शरीरों से पृथक् असंग आत्मा का बोध हो जाने पर भी उसकी परिच्छिन्नता बनी रहती है, जिसका नाशक एकमात्र 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य ही है। इसके बिना देश, काल, वस्तुपरिच्छेद से शून्य, सर्वत्र व्यापक परिपूर्ण, अनन्त ब्रह्माण्ड के अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता। फिर भी प्रणवाश्रित साधक को प्रणव के यथार्थ चिन्तन के अनुसन्धान मात्र से अद्वैत ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। कैवल्योपनिषद् में कहा है कि—

'आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः ॥'
(कै० १।११)

अग्नि सर्वत्र व्यापक है। अतएव काष्ठ के भीतर भी है, फिर भी उस अग्नि से काष्ठ का दाह नहीं होता। जब दो काष्ठ का सतत घर्षण किया जाता है तो उससे प्रकट हुई अग्नि उस काष्ठ को जला डालती है। ठीक इसी प्रकार से व्यापक ब्रह्म सभी के अन्तःकरण में अन्तरात्मारूप से विद्यमान है। फिर भी

जीव दीन हीन हो रहे हैं। मानस में गोस्वामीजी ने कहा है कि—

'व्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी।।
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।।
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।।'
(रा० च० बा० का० २२)

सच्चिदानन्दघन, व्यापक, अजर, अमर, अभयस्वरूप ब्रह्म ही सभी जीवों का अपना स्वरूप है। फिर भी जीव अज्ञान के कारण दुःखी हो रहे हैं। नाम का आश्रय ले परमात्मतत्त्व का चिन्तन करने पर वह विद्यमान परमात्मा वहीं पर प्रकट हो जाता है, जैसे रत्न की पहिचान से उसकी कीमत प्रकट हो जाती है। इसीलिए उक्त कैवल्य श्रुति में परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार का साधन बतलाया गया है कि अपने अन्तःकरण को नीचे वाली अरणि (काष्ठ) और प्रणव को ऊपर वाली अरणि बनाकर ध्यानरूपी मन्थन करके साधक बुद्धिरूपी गुहा में छिपे हुए परमात्म देव का प्रत्यक्ष कर लें। अतः अन्य साधनों का आश्रय न लेकर केवल प्रणव के जप तथा अभिचिन्तन से वेदान्तवेद्य ब्रह्मात्मतत्त्व का बोध होने में कोई सन्देह नहीं है। यह तारक मंत्र है और काशी में मरने वाले को भगवान् शंकर प्रणव मंत्र का ही उपदेश करते हैं। यथा—

'एनमेव हि देवेशि सर्वमंत्रशिरोमणिम्।
काश्यामहं प्रदास्यामि जीवानां मुक्तिहेतवे।।'
(के० स० ३।१०)

'हे देवेश्वरि ! सभी मंत्रों में शिरोमणि इसी ओंकार तारक

मंत्र को मैं काशी में मरने वाले जीवों को मुक्ति के लिये देता हूँ'। मानस में कहा है कि—

आकर चारि जीव जग अहहीं। कासी मरत परम पद लहहीं।।
सोपि नाम महिमा मुनिराया। सिव उपदेश करन करि दाया।।

(रा० बालकाण्ड)

अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज चार प्रकारों का कोई भी जीव काशी में मरने पर परम पद प्राप्त करता है। यह काशी की महिमा नहीं अपितु नाम की महिमा है क्योंकि काशी में मरनेवाले को आशुतोष दयालु अवढर दानी भोले बाबा नाम का ही तो उपदेश करते हैं। 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' ऐसी श्रुति है अर्थात् काशी में मरने से मुक्ति होती है। अतः तारक मंत्र (प्रणव) का ही उपदेश कर भगवान् शंकर काशी में मरने वाले को मुक्ति देते हैं। बिशेष क्या कहा जाय; वेद, पुराण, उपनिषद् और सन्तवाणी में नाम की महिमा गायी गई है। एक स्थल पर शिवपुराण में ओंकार (प्रणव) की व्युत्पत्ति विचित्र रूप से बतलायी गई हैं।

'यो हि प्रकृतिजालस्य संसारस्य महोदधेः।
नवं नावान्तरमिति प्रणवं वै विदुर्बुधाः।।
प्र प्रपञ्चो न नास्ति नो युष्माकं प्रणवं विदुः।
प्रकर्षेण इवेद्यस्मान्मोक्षं वः प्रणवं विदुः।।'

(विश्वेश्वरो संहिता १७।४।५)

संसार एक महासमुद्र के समान है जो प्रकृति से उत्पन्न हुआ है। इस संसार सागर से पार होने के लिए यह प्रणव नौका

के समान है। इसीलिये विद्वानों ने इसे प्रणव कहा है। प्र= प्रपंच, न=नहीं है, वः=तुम में अर्थात् जिसके जप से अपार दुःखमय संसार सागर नहीं रह जाता यानी सूख जाता है, इसलिए इसको प्रणव कहते हैं। अथवा प्र=प्रकृष्टरूप से न= संसार का अत्यन्ताभावस्वरूप मोक्ष जो प्राप्त करा दे वः= तुम्हें, इसीलिये इसे प्रणव कहते हैं। प्रणव और ओंकार दोनों एक ही चीज है। इसे अथर्व शिरोपनिषद् में कहा है कि 'य ओंकारः स प्रणव यः प्रणवः स सर्वव्यापी यः सर्वव्यापी सोऽनन्तः।' अतः प्रणव और ओंकार में भेद नहीं मानना चाहिये। महिम्न-स्तोत्र में पुष्पदन्ताचार्य ने कहा है कि—

'त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा—
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ॥२७॥'

'हे अशरण के शरण भगवान् शंकर! सम्पूर्ण वेदों का सार ॐ यह पद आपके समस्त तथा व्यस्त दोनों ही रूपों को कह रहा है। उनमें से अकार, उकार, मकार वर्णों के द्वारा आपके व्यस्तरूप ऋग् यजुः सामवेद इन त्रयी को, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति एवं इनके अभिमानी विश्व, तैजस प्राज्ञरूप तीनों अव-स्थाओं को, भूः, भुवः, स्वः एवं इनके अभिमानी विराट्, हिरण्य-गर्भ और अन्तर्यामीरूप त्रिभुवन को तथा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इनके सृष्टि, पालन, संहार को, एवं अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत समस्त भेदों को शक्तिरूप से बतला रहा है। इतना ही नहीं, यह ओंकार अपने सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतमादि अर्धमात्रारूपी ध्वनियों के

द्वारा आपके निर्विकार, त्रिपुटीशून्य,समस्त तुरीय धाम का अर्थात् स्वरूप का अवरोधन करते हुये लक्षणावृत्ति से निरूपण कर रहा है।' तात्पर्य यह है कि ओंकार शक्तिवृत्ति से कार्य के समस्त रूप को और लक्षणावृत्ति से कार्य कारण से अतीत विशुद्ध चैतन्य को भी बतला रहा है। समस्त प्राणियों का लक्ष्य परब्रह्म परमात्मा ही है। उसकी प्राप्ति तन्मयता के बिना नहीं हो सकती है। जैसे सब कुछ भूलकर मराठों ने लड़ा और सिंहगढ़ को जीत लिया। कुतुबनुमा सुई ध्रुवतारे की ओर संकेत करती है और सूर्यादि महान् शक्तिशाली ग्रहों से भी प्रभावित नहीं होती। विद्युत्ग्राही विद्युत् की बिखरी हुयी शक्तियों को एकाग्रता से केन्द्रित कर लेती है। वैसे ही मन की सम्पूर्ण चेतना एवं इच्छाशक्ति को अपने लक्ष्य अन्तरात्मा की ओर केन्द्रित कर देना ही तन्मयता है। ऐसी तन्मयता से ही आत्मविश्वास की प्राप्ति सहज में हो जाती है। ज्यों ज्यों तन्मयता होगी, त्यों त्यों आत्मविश्वास बढ़ेगा और उसी अनुपात से आत्मनिष्ठा बढ़ेगी। लक्ष्य की ओर तन्मयता के लिये मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (२।२।४)

ओंकार धनुष है, तीनों अवस्थाओं से पृथक् किया गया जीव का स्वरूप बाण है और व्यापक ब्रह्म उसका लक्ष्य है। जिस प्रकार बाण लक्ष्य में प्रविष्ट हो लक्ष्यस्वरूप हो जाता है अर्थात् उसमें मिल जाता है, ऐसे ही प्रणवरूप धनुष के ऊपर चढ़ाया हुआ जीव का निजरूप बाण से व्यापक ब्रह्मरूप लक्ष्य का

भेदन कर देना चाहिये। शर्त एक ही है कि लक्ष्य भेदन काल में प्रमाद न करे। यहाँ पर लक्ष्य से भिन्न वस्तु का दर्शन और चिन्तन ही प्रमाद है। यह लक्ष्य के भेदन से दूर हटा देनेवाला है। अतः ऐसे प्रमाद का त्याग नितान्त आवश्यक है। महाभारत का प्रसंग है—आचार्य द्रोण ने अपने शिष्य कौरव और पाण्डव को धनुर्विद्या की शिक्षा देने के बाद परीक्षा लेने का विचार किया। उनकी परीक्षा के लिये विशाल उत्तुंग वटवृक्ष की ऊँची शाखा के अग्रभाग में कागज का पक्षी बनाकर लटका दिया। उसकी दाहिनी आँख में एक बिन्दु काजल का लगा दिया, जिसे उन राजकुमारों के लक्ष्यबेध बतलाते हुये आचार्य ने प्रोत्साहित किया। उन्होंने कहा कि तुम में से जो उस पक्षी की आँख में विद्यमान काले बिन्दु का बेधन करेगा, वही धनुर्विद्या में निपुण माना जायेगा। प्रथम कौरव कुमार आगे बढ़े, दुर्योधन ने लक्ष्य की ओर बाण का अनुसन्धाम भी किया, पर प्रमाद को छोड़ा नहीं। द्रोणाचार्यजी के पूछने पर उसने कहा कि मुझे विशाल पेड़, उसकी शाखाएँ, एक शाखा के अग्रभाग में पक्षी, उसकी आंख एवं उसमें काली बिन्दी सभी दीखते हैं, साथ ही पृथिवी पर खड़े सभी दर्शकों, अपने भाइयों तथा पाण्डवों के सहित आप को भी देख रहा हूँ। द्रोणाचार्य ने कहा कि इतना विशाल प्रमाद रहते लक्ष्य का बेधन नहीं हो सकता। इसी प्रकार सभी कौरव कुमार अनुत्तीर्ण हो गये। उसके बाद पाण्डवों में से युधिष्ठिर की बारी आयी उसने भी लक्ष्य की ओर बाण किया। गुरुदेव ने पूछा तुम्हें क्या दीख रहा है युधिष्ठिर ने विनय भाव से कहा—गुरुदेव ! मुझे तो वृक्षादि सब कुछ दीखते हैं। द्रोणाचार्य ने उनको भी अनुत्तीर्ण घोषित किया। उसके बाद अर्जुन का नम्बर आया। उसने लक्ष्य की ओर बाण का अनुसन्धान

किया और द्रोणाचार्य के पूछने पर उत्तर दिया—गुरुदेव ! मुझे इस समय केवल पक्षी की आँख की बिन्दी ही दीख रही है और कुछ भी नहीं दीखता। अर्जुन के उत्तर से द्रोणाचार्य बड़े प्रसन्न हुये। उसकी पीठ थपथपाते हुये उसको धन्यवाद दिया और लक्ष्य बेधन के लिये आज्ञा दी। तन्मयता और प्रमाद के अभाव के कारण ही अर्जुन लक्ष्य बेधन करने में सफल हुआ और सभी राजकुमारों में अकेले अर्जुन को ही धनुर्विद्या में निपुण माना गया। ऐसे ही साधक त्रिपुटी को लाँघकर केवल लक्ष्य की ओर ध्यान देने पर उस परमात्मा के साथ तन्मयता को प्राप्त करता है। इसके लिये साधक को प्रणव का ही आश्रय लेना चाहिये। अतएव प्रणव का विचार संक्षेप में बतलाया गया।

नवौं दिन : ॐकार की व्याख्या के बाद आज 'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इस शान्ति मंत्र के ऊपर विचार प्रारम्भ होने जा रहा है। इस मंत्र का ब्रह्मा ऋषि, अनुष्टुप् छन्द, सोम देवता, मंगलाचरण में इसका विनियोग है। इसका सरल अर्थ यह है कि उस जगत् का कारण पूर्ण है, दृश्यमान् यह जगत् भी पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण का आविर्भाव हुआ है, दृश्यमान् जगत् के पूर्णत्व को निकाल लिया जाय तो अन्त में कारण रूप से पूर्ण ही शेष रह जाता है। गम्भीरता से विचार करने पर कार्य-कारण, सृष्टि प्रलय एवं साध्य साधन इत्यादि अनेक अर्थ इसमें निहित प्रतीत होते हैं।

इसमें जगत्कारण और कार्य को केवल पूर्ण शब्द से कहा है, ब्रह्मादि शब्द से नहीं। इसलिये प्रत्येक दार्शनिक इसे अपने सिद्धान्त के समर्थन के लिये अपनी ओर मोड़ सकते हैं। पर इस मंत्र से किसका समर्थन मिलता है और किसका खण्डन

होता है, इसका निर्णय मैं श्रोताओं के ऊपर ही छोड़कर केवल विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के दृष्टिकोण को आपके सामने उपस्थित कर देना चाहता हूँ। अपने जीवन को तपाकर भारतीय सपूतों ने संसार और संसार के कारण सम्बन्ध में निश्चय कर भावी पीढ़ी के लिये उन्होंने जिन ग्रन्थों का निर्माण किया, उन्हें भारतीय दर्शन कहते हैं। वह चाहे नास्तिक अथवा आस्तिक दर्शन हो, सभी भारतीय दर्शन हैं क्योंकि भारतीय सपूतों के मस्तिष्क की यह उपज है। अतः वेदान्त के रहस्य को समझने के लिये संक्षेप रूप से अन्य दर्शनों के ऊपर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

कारण के सम्बन्ध में सत्कारणवाद और असत्कारणवाद ऐसे दो वाद माने गये हैं। अर्थात् कार्य जो दृष्टिगोचर हो रहा है इसका कारण किसी के मत में सत्य है और किसी के मत में असत्य है। असत्कारण वाद के भी दो भेद हैं। एक तो कारण की सत्ता ही नहीं मानता और दूसरा कारण की सत्ता मानता तो है, पर कारण नष्ट हुये विना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अतः ये दोनों ही असत्कारण वाद हैं। सत्कारणवादी का मत है कि कारण की विद्यमानता में ही कार्य देखा जाता है, मिट्टी और तन्तु के नष्ट हो जाने पर घट तथा पट कार्य की स्थिति नहीं देखी जाती। अतः कारण का अभाव अथवा कारण के नाश होने पर कार्य की उत्पत्ति रूप दोनों ही प्रकार के असत्कारणवाद पक्ष ठीक नहीं है। सत्कारणवाद पक्ष में भी दो विचारधाराएँ हैं; एक कारण के विकृत होने पर कार्य की उत्पत्ति मानते हैं, दूसरे कारण निर्विकार, निष्क्रिय रहता है और कार्य भी उत्पन्न हो जाता है, ऐसा मानते हैं, वैसे ही कार्य के सम्बन्ध में भी

सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद भेद से दो विचारधाराएँ हैं। अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य विद्यमान रहता है या नहीं; इस प्रश्न के उत्तर में एक ने उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य के कारण में सत्ता मानी है; दूसरे ने नहीं। सत्कार्यवाद पक्ष में भी दो प्रकार की मान्यताएँ हैं, एक ने कारण के समान ही कार्य की सत्ता मानी, दूसरे ने कारण की अपेक्षा कार्य की विषम सत्ता मानी है। इन्हीं के भीतर आरम्भवाद, परिणाम-वाद, विवर्तवाद ये सब वाद-प्रतिवाद और विवाद निहित हैं, जिनका स्पष्टीकरण उन दर्शनों के विचार काल में स्पष्ट रूप से करूँगा। अभी तो मैंने केवल सूत्र रूप से दिग्दर्शन मात्र कराया।

पूर्व कारण से आविर्भूत कार्य जगत् के सम्बन्ध में अनादि काल से आज तक अनेक विचारधाराएँ हो चुकी हैं। इसके सम्बन्ध में दुःखवाद, द्वेषवाद, घृणावाद (जुगुप्सा) और आनन्दवाद ऐसे अनेक वाद भी चल रहे हैं। अब देखना है कि इन सारे वादों में से यह अपौरुषेय वेद वाक्य किसका समर्थन और किसका खण्डन करता है। उक्त सारे विचार को मैं यथा समय बतलाऊँगा। आप लोग स्वयं इसका निर्णय कर लेना।

इस मंत्र में आये हुये पूर्ण शब्द का अर्थ अखण्ड सत्ता, ज्ञान और आनन्द है। यह मंत्र ही कह रहा है कि वह कारण यद्यपि परोक्ष है, फिर भी उसकी सत्ता, ज्ञान और आनन्द अखण्ड है। अतएव वह पूर्ण है। उससे आविर्भूत इस अपरोक्ष दृश्यमान् जगत् में भी सत्ता, ज्ञान तथा आनन्द भी अखण्ड ही है और

ये दो नहीं है। यदि दृश्यमान जगत् से इन तीनों अंशों को पृथक् कर लें तो अन्त में अखण्ड सच्चिदानन्द कारण ही शेष रह जाता है। इतना स्पष्ट अर्थ होते हुये भी कार्य-कारण के सम्बन्ध में दार्शनिकों ने बड़ा ही मतभेद खड़ा कर दिया। इसलिये इनके विचारों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

दशवाँ दिन : कल मैंने इस मंत्र में निहित सिद्धान्त समझने के लिये भारतीय दार्शनिकों का दृष्टिकोण परोक्ष रूप से ही आपके सामने रखा था। अब उसका स्पष्टीकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। सब से पहली बात यह है कि यदि पूर्वाचार्यों ने आत्मकल्याण के लिये जो कुछ भी विचार किया, उसे अपने तक सीमित न रखकर सर्वसाधारण तक पहुँचाने का प्रयास क्यों किया ? इसका उत्तर यह है कि यदि उनके रचित ग्रन्थ न होते तो हम आज कैसे समझ पाते १००० वर्ष पहले राम, कृष्ण, कपिल, कणाद, गौतम, पतञ्जली, जैमिनी, व्यास, गौतम बुद्ध तथा शङ्कराचार्य प्रभृति ने संसार तथा उसके कारण के सम्बन्ध में क्या समझा था। यह तो एक ऋषि परम्परा है जिसमें मुक्त होने के लिये वर्तमान तथा भावी पीढ़ी को किसी न किसी रूप में अपने विचार प्रगट किये हैं। सूर्य से विद्या प्राप्त करने के बाद याज्ञवल्क्य महर्षि संसार से उपरत हो आत्मकल्याण के लिये जाना ही चाहते थे किन्तु उनके गुरु सूर्य ने कहा कि हमारी दी हुई विद्या का इस लोक में प्रचार करो। एतदर्थ कुछ काल के लिये तुम्हें गृहस्थ जीवन स्वीकार करना पड़ेगा। गुरु की आज्ञा से महर्षि याज्ञवल्क्य ने ऐसा ही किया। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने अपने शिष्य विवेकानन्द से कहा था कि बेटा नरेन्द्र ! मैं उसे साधु नहीं मानता, जो अपनी मुक्ति के लिये

मरता हो और गिरि-गुफा में बैठकर केवल ध्यान रत रहता हो। किन्तु उसे साधु मानता हूँ, जो स्वयं मुक्त हो अथवा मुक्ति के मार्ग पर चलता हो और मानव समाज को उस मार्ग पर चलने के लिये प्रेरणा देता हो। किसी नीतिकार ने कहा है कि—

> किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
> यत्र स्थिताहि तरवस्तरवस्त एव।
> मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
> सारोट निम्बकुटजा अपि चन्दनानि॥

आपने अपनी आँखों से यद्यपि मिट्टी, पत्थर या बर्फ का ही पहाड़ देखा होगा, सोने चाँदी का नहीं, किन्तु शास्त्र में रजतगिरि तथा हेमगिरि का भी वर्णन देखा जाता है। निश्चय ही उन पर भी पेड़ पौधे उगते ही होंगे, किन्तु वे बिचारे रजतगिरि एवं हेमगिरि पर्वत पर पैदा होकर भी चाँदी सोने नहीं बने प्रत्युत जन्म से लेकर मरणपर्यन्त वृक्ष के वृक्ष ही रहे। ऐसे रजतगिरि और हेमगिरि को लेकर हम क्या करेंगे, जहाँ जन्म से मरणपर्यन्त वृक्ष का वृक्ष ही रहा, सोना चाँदी नहीं बन सका। हम तो प्रशंसा उस मलयपर्वत की करेंगे, जिसके संपर्क से उत्पन्न होकर नीरस साकु और कुटज के पेड़ तथा अत्यन्त कड़वे तिक्त निम्ब के वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं। ऐसे ही जो अपनी मुक्ति के लिये गिरि-गुफा में बैठकर अपने देह को जर्जरीभूत कर ब्रह्मानन्द में तल्लीन रहते हैं, और पुनः विदेहकैवल्य को प्राप्त करते हैं, उनकी प्रशंसा क्यों करें। हम तो उनकी प्रशंसा करेंगे जो ब्रह्मात्मैक्यबोध को प्राप्त कर जन-

समुदाय की आवश्यता के अनुसार अपनी जीवन्मुक्ति को भी तिलाञ्जलि देकर धर्म और ब्रह्म के प्रचार में निरत रहते हैं। ऐसे महान् उपकार करने वाले सद्गुरु की उपमा किससे दी जाय ? आचार्य भगवत्पाद ने शतश्लोकी में कहा है कि—

> दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः
> स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम् ।
> न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये
> स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वाऽलौकिकोऽपि ॥१॥

अर्थात् ज्ञान देने वाले सद्गुरु की उपमा तीनों भुवन में कहीं भी नहीं दीखती है। अहो ! पारसमणि से उपमा दें, वह भी गुरुदेव की उपमा तो कर भी नहीं सकती क्योंकि वह अपने स्पर्श से लोहे को सोना तो बना सकती है। लेकिन पारस नहीं बनाती, किन्तु अपने चरणकमलाश्रित शिष्य में तो सद्गुरु अपनी समता पैदा करा देते हैं अर्थात् अपने समान ही तत्त्वज्ञानी, जीवन्मुक्त लोकोपकार में निरत अपने शिष्य को भी योग्य बना डालते हैं। इसलिये सद्गुरु की उपमा संसार में कोई नहीं कर सकते हैं। अतएव वे निरुपमेय हैं या अलौकिक हैं। इस वाक्य से भी आचार्य भगवत्पाद परोपकारनिरत जीवन्मुक्त महापुरुष की भूरिशः प्रशंसा कर रहे हैं। परोपकार और ऋषिऋण से मुक्त होने की भावना को लेकर प्रत्येक महापुरुष अपने अनुभव को भावी पीढ़ी के लिये लिपिबद्ध कर गये हैं। भारतवर्ष में छः आस्तिक दर्शन और छः नास्तिक दर्शन माने जाते हैं। किसी मौलिक प्रमाण को पहले से न मानकर अपने विचार को लक्ष्य की ओर केन्द्रित करना तार्किक दर्शन का काम है।

प्रारम्भ से ही किसी मौलिक प्रमाण को स्वीकार कर तदनुसार अपने विचारों को लक्ष्य की ओर केन्द्रित कर जाना आस्तिक दर्शन का काम है ।

वेद अपौरुषेय है, उसे किसी पुरुष ने नहीं बनाया । अतः वह सर्वथा निर्दुष्ट माना गया है । साथ ही बड़ा प्रमाण भी है । ऐसे वेद को प्रबल प्रमाण मानकर तदनुसार अपनी विचारधारा को लक्ष्य की ओर आकर्षित करना आस्तिक दर्शन का काम है । नास्तिक दर्शन में केवल अपने विचार से ही अपने निश्चय की ओर जाने के लिये कहा गया है । वेद को अपने लक्ष्य का साधक प्रमाण रूप से नहीं माना गया है । ऐसी परिस्थिति में नास्तिक दर्शन इस शान्ति मन्त्र से समर्थित है, या नहीं; इस विचार की कोई आवश्यकता नहीं है, फिर भी कहीं कहीं नास्तिकों ने भी अपने सिद्धान्त को वेद से समर्थित कराने का प्रयास किया है । इसलिये यहाँ पर उनका विचार करना अनावश्यक नहीं है ।

चार्वाक दर्शन, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन के चार विभाग मिलाकर नास्तिक दर्शन छः माने गये हैं । चार्वाक दर्शन के आचार्य बृहस्पति है । उनके मत में पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु इन चार भूतों का समुदाय शरीर है और मदिरागत मादकता के समान भूतों के समुदाय में अपने आप चैतन्य उत्पन्न हो गया है, ऐसा मानते हैं ।

"अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्य्वनलानिलाः ।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥"

शरीर से भिन्न जन्मान्तर एवं परलोक से सम्बन्ध रखने वाला कोई जीव नहीं है। सर्वसामान्य व्यक्ति का ऐसा अनुभव भी है कि मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ। स्थूलतादि देह के धर्म हैं, उसके साथ सामानाधिकरण्य होने के कारण देह ही आत्मा है; अन्य नहीं। आत्मपुराण में कथा आती है कि एक बार प्रजापति ने प्रतिज्ञा की थी कि "य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाँश्चलोकानाप्नोति सर्वाँश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच।" (छा० उ० ८।७।१)

'जो आत्मा संपूर्ण पापों से सर्वथा मुक्त, बुढ़ापा, मृत्यु तथा शोक से रहित, क्षुधा-पिपासा के संस्पर्श से शून्य, सत्यकाम एवं सत्यसंकल्प है, उस आत्मा का अन्वेषण करना चाहिये और उसी की जिज्ञासा करनी चाहिये क्योंकि जिसने उस आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया, वह संपूर्ण लोकों को एवं संपूर्ण ऐश्वर्य को भी प्राप्त कर लेता है'। ऐसी स्पष्ट रूप से प्रजापति ने घोषणा की। इधर देवता और दानवों का शाश्वत वैर था ही। एक दूसरे को परास्त कर अपने साम्राज्य को चिरस्थिर बनाना चाहते थे। बुद्धि, पौरुष इत्यादि लौकिक उपायों के साथ-साथ प्रजापति की प्रतिज्ञा के अनुसार अलौकिक मार्ग का अनुकरण किया जाय तो निश्चय ही हमारी विजय होगी। किन्तु ऐसी आत्मविद्या के लिये प्रजापति के पास ही जाना होगा। दोनों ही देवता और दानवों ने अलग-अलग सभा की और उसमें प्रस्ताव पारित कर अपने प्रतिनिधि को भेजने का निश्चय किया। देवताओं की ओर से इन्द्र और दैत्यों की ओर

से विरोचन, दोनों ही समित्पाणि हो आत्मविद्या प्राप्ति के लिये प्रजापति के पास गये। बत्तीस वर्षों तक ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरुकुल वास किया। इतने लम्बे समय तक सेवा में लगे हुये इन्द्र तथा विरोचन से प्रजापति ने बात भी नहीं की। बत्तीस वर्ष के बाद प्रजापति के पूछने पर उन्होंने प्रतिज्ञा के अनुसार ब्रह्म को जानने की इच्छा व्यक्त की। प्रजापति ने कहा कि—

"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष
आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म"
(छा० उ० ८।७।२)

जो यह आँख में पुरुष दीखता है, वही आत्मा है, यह अमर और अभय रूप ब्रह्म है, ऐसा ब्रह्मा ने कहा। ब्रह्मा की इस बात से इन्द्र एवं विरोचन दोनों को प्रतिबिम्ब रूप आत्मा का संकेत मिला। उन्होंने फिर से पूछा—जो यह जल में और दर्पण में दीखता है, इनमें से आत्मा कौन है ? प्रजापति ने कहा कि जलपात्र में आत्मा को देखकर भी आत्मा का बोध यदि तुम्हें न हो तो हमें आकर कहना। दोनों ने ही जल में अपने प्रतिबिम्ब को देखा। प्रजापति ने कहा—क्या देख रहे हो ! दोनों ने कहा—हम लोग अपने आत्मा के नख से लेकर चोटी तक समग्र रूप को देख रहे हैं। प्रजापति ने फिर से कहा—जाओ अपने-अपने वस्त्राभूषण पहिनकर उस जलपात्र को देखो, उन्होंने वैसे ही किया और ब्रह्मा के पूछने पर बतलाया, कि हे भगवन् ! अब हम लोग सुन्दर वस्त्राभूषण से संस्कृत परिष्कृत रूप आत्मा को देख रहे हैं। प्रजापति ने कहा—बस यही आत्मा है, यह अमृत और अभय ब्रह्मस्वरूप है। ऐसा सुनकर

दोनों ही शान्त एवं प्रसन्न चित्त हो अपने घर की ओर लौट चले। उन दोनों को देखकर ब्रह्मा ने कहा इनमें से आत्मा को प्रत्यक्षानुभव न करने वाले का निश्चय ही पराभव होगा। फिर भी असुरराज विरोचन शान्त तथा प्रसन्न हो असुरों के पास आ गया। बत्तीस वर्ष के बाद आये हुए अपने राजा के स्वागत के लिये दैत्यों ने जबरदस्त तैयारी की। स्वागत वाक्योत्तर में बोलते हुए विरोचन ने कहा—मैंने प्रजापति से आत्मविद्या प्राप्त की है और अभी आप लोगों को उसका उपदेश करता हूँ। यह स्थूल शरीर ही आत्मा है। इसकी सेवा शुश्रूषा करते हुए दोनों लोकों को प्राप्त करोगे अर्थात् जीते जी सुखी रहोगे और मरते ही मुक्त हो जाओगे, क्योंकि मरना ही मुक्ति है—

"देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते।"

'बस मैं आज तो उस आत्मा की संक्षेप में चर्चा कर रहा हूँ। कल से विस्तारपूर्वक वैदिक धर्म तथा आत्मा की व्याख्या करूँगा' इतना कहकर सभा विसर्जित की गयी।

ग्यारहवां दिन : प्रजापति से ब्रह्मविद्या प्राप्त कर विरोचन अपने समाज में प्रचार करने लगे कि·········

"यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्ममुण्डनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥"

यावज्जीवन सुखपूर्वक जीओ, मृत्यु के बाद कोई ऐसी चीज़ नहीं रह जाती जो दीखती नहीं उसे आत्मा कहते हैं। परलोक में

जाने वाला आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। किन्तु फिर जो जलकर राख ही हो गया, उसका आना कैसे सम्भव हो सकेगा। अग्निहोत्रादि कर्म करना, तीनों वेदों को कण्ठ कर गरेडी के राग में उन्हें गाना और दूसरे को सिखाना, त्रिदण्ड धारण करना, और सारे शरीर में राख लपेटना इत्यादि बुद्धि एवं पौरुषहीन, आलसी बुद्धु लोगों की जीविका है। ईश्वर नाम का भी कोई पदार्थ नहीं है किन्तु 'लोकसिद्धो भवेत् राजा परेशो नापरः स्मृतः' लोक प्रसिद्ध राजा ही ईश्वरों का ईश्वर है। न स्वर्ग है और न नरक है और न इन परलोक से सम्बन्ध रखने वाला शरीर से भिन्न आत्मा ही है। वेद में कहा गया है कि धर्म से सुख और अधर्म से दुःख होता है। इस वैदिक सिद्धान्त का आप प्रत्यक्षानुभव कर सकते हैं। यथा प्रातःकाल उठकर ठण्डे जल में स्नान और सन्ध्या करना दुःखरूप है। इसलिये यह पापकर्म है। इसके विपरीत सूर्योदय होने तक सोये रहना, परदाराभिगमन एवं परधनापहरण इत्यादि प्रत्यक्ष सुखप्रद है। इसलिये यह धर्म है। इससे भिन्न ज्योतिष्टोमादि यागजन्य स्वर्ग का जनकरूप धर्म नामक अन्य कोई चीज नहीं है।

'पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां वृथा पाथेयकल्पनम्॥
स्वर्गस्थिता यदि तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामिह कस्मान्न दीयते॥
यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥'

धर्म के नाम पर पशुहिंसा करने वाले इन विषयलोलुप लोगों से पूछो तो सही। यदि ज्योतिष्टोम याग में मरा हुआ पशु स्वर्ग चला जायगा, जैसा कि वे कहते हैं, तो भला उस ज्योतिष्टोम याग में यजमान अपने पिता की ही हिंसा क्यों न कर डाले क्योंकि यजमान का पिता भी हिंसा करने से स्वर्ग चला जायेगा। वे पाखण्डो मूर्ख मरे हुये जीव को तृप्त करने के लिये पिण्डदान श्राद्धादि करते हैं। यदि यह सत्य है, तो स्वर्ग में गये हुए व्यक्ति के लिये यहाँ के पिण्डदान श्राद्ध एवं तर्पणादि तृप्तिकारक हो सकते हो तो घर से यात्रा करने के लिये निकले हुए व्यक्ति को कलेवा क्यों बाँध देता है? क्यों नहीं सायं प्रातः भोजन के समय उनके नाम पर थाल में परोस-कर मन्त्र पढ़कर भोजन कराया जाता? स्वर्ग में बैठे हुये व्यक्ति तुम्हारे यहाँ के पिण्डदान से यदि तृप्त हो सकते हों तो तीन मञ्जिल के मकान की छत पर बैठे हुए व्यक्ति को भोजन करने के लिये नीचे आने की क्या आवश्यकता है? क्यों नहीं, उनके नाम पर दान किए जाने पर वे तुम्हारे दान से तृप्त हो जाते। इसलिये मैं कहता हूँ कि स्वर्ग, नरक तथा मोक्ष ये सभी पण्डित, साधुओं की कपोल-कल्पना है। अतः मैं तुम्हें सच्ची शिक्षा दे रहा हूँ—जब तक जीओ तो सुखपूर्वक जीओ। जीने के लिये पास में पैसे नहीं हैं तो ऋण लेकर माल चखो, कारण कि राख हुये देह का गमनागमन कहाँ से होगा? इन मूर्खों ने कहा है कि मरते समय आत्मा देह से निकल कर चला जाता है। भला इनसे पूछो तो सही कि यदि देह से आत्मा निकल जाता है तो फिर अपने परिवारों के प्रेम से व्याकुल हुआ पुनः लौटकर क्यों नहीं आता? इसलिये तुम झूठे, तुम्हारे वेद झूठे और उनके कर्ता भी झूठे हैं। 'त्रयो वेदस्य कर्तारो धूर्तभाण्डनिशा-

चराः।' इत्यादि इस प्रकार उसने प्रचार किया।

न जाने चार्वाकों ने इस तरह वेदविरुद्ध कितना असम्बद्ध प्रलाप किया है। मैंने तो संक्षेप में सुनाया। उनके सिद्धान्तानुसार 'पूर्णमदः' पदवाच्य परोक्ष पदार्थ अखण्ड सत्ता, ज्ञान एवं आनन्द से सम्पन्न जगत्कारण ही नहीं है और न संसार ही पूर्णरूप है, क्योंकि इसकी नश्वरता प्रत्यक्षानुभव सिद्ध है, तो भला इस मन्त्र से चार्वाक सिद्धान्त का समर्थन कैसे माना जायगा ?

उक्त प्रकार से वैदिक धर्म के ऊपर जैन सम्प्रदाय वालों ने भी कीचड़ कम नहीं उछाला। पर इन बेचारों को स्वयं अपने घर के अन्धेरे का पता नहीं है। इन्होंने जीव और अजीव भेद से दो तत्त्व माने हैं। इनमें संसारी तथा मुक्त भेद से जीव दो प्रकार के माने गये हैं। आकाश, धर्म, अधर्म एवं पुद्गल इत्यादि अजीव पदार्थ माने गये हैं। जैन मत में नित्य, सर्वगत, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सृष्टि, पालन एवं संहार करने वाला, अखण्ड सत्ता, ज्ञान एवं आनन्द से युक्त कोई ईश्वर नहीं माना गया है। किन्तु ईश्वर एक पद या स्थिति का नाम है, जिसे शिलारोहण व्रतोपवासादि तथा केशलुंचनप्रभृति कठोर तप से कोई भी प्राप्त कर सकता है। उस पद की प्राप्ति से व्यक्ति को ही ईश्वर कहा जाता है। इसमें श्वेताम्बर एवं दिगम्बरादि अनेक अवान्तर भेद हैं। फिर भी स्याद्वाद अनेकान्तवाद सभी को मान्य है। केवल मीमांसा में भिन्नता है। सम्पूर्ण कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाने पर असंगरूप से अवस्थिति को ही मोक्ष कहते हैं। किसी भी लौकिक-पारलौकिक वस्तु के विषय में इनका 'इदमित्थं' निश्चित विचार नहीं है। इनका सर्वत्र सप्तभंगी न्याय चलता

है। एक भंगी ही काफी था यहाँ तो सात भंगी मिलकर न्याय करने बैठे हैं तो किसी वस्तु का निश्चय कैसे हो सकेगा ? उनका वह न्याय इस प्रकार है, स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च स्यान्नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति; यही इनका सप्तभंगी न्याय है। इस सप्तभंगी न्याय की योजना सभी वस्तुओं में करते हैं; जहाँ तक कि उन्होंने वस्तु की कल्पना की है। अतः अनिश्चित अर्थ को बतलाने वाले शास्त्र के प्रणेता जैनधर्माव-लम्बी उन्मत्तों के समान उपेक्ष्य हैं। इनकी खबर सूत्रकार तथा भाष्यकार ने ली है।

सत्य पूछो तो लौट कर किसी प्रकार सप्तभंगी न्याय के द्वारा 'घटकुट्टी प्रभातन्याय' से हमारे अनिर्वचनीय वेदान्त सिद्धान्त का ही समर्थन करते हैं। एक नगर में कोई व्यापारी था। वह कंजूस होता हुआ भी अपने को बड़ा बुद्धिमान् मानता था। सरकार की नजर में न केवल इन्कम टैक्स देने से बचाना चाहता था अपितु चुंगी देने से भी हिचकिचाता था। एक बार वह गाड़ियों में सामान लादकर दूसरे नगर में व्यापार के लिये जा रहा था। नगर के पास पहुँचने पर दिन तो उसने खाने पीने में बिता दिया, रात्रि आने पर उसने गाड़ी चलवायी और चुंगी बचाने की सोचकर उस नगर में प्रवेश करते हुए टेढ़े-मेढ़े मार्ग से उनकी गाड़ी रात्रि भर चलती रही। पर उस नगर में वह प्रवेश न कर सका। प्रातःकाल होते ही वह बेचारा गरीब वहीं पहुँचा जहाँ चुंगी ऑफिस था। विवश होकर उसे चुंगी देनी पड़ी, व्यर्थ में रात्रिभर स्वयं परेशान हुआ और बैलों को भी उसने परेशान किया। वैसे ही वैदिक सिद्धान्तों पर न चलने

वाले जैनमतावलम्बियों ने न जाने क्या-क्या कल्पना की। यहाँ तक कि इन्होंने सप्तभंगी न्याय को भी स्वीकार किया। पर बेचारे ऐसा कहकर वेदान्त सिद्धान्त सिद्ध अनिर्वचनीयता का ही तो समर्थन कर रहे हैं। हमने भी जगत् एवं उसके कारण माया के सम्बन्ध में 'सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो' (अर्थात् जगत् न सत् है, न असत् है, न उभयरूप ही है) ऐसा ही माना है। इसी का वे प्रकारान्तर से समर्थन कर रहे हैं। पर इतना होने पर भी न तो दृश्यमान् जगत् के कारण को अखण्ड सत्ता ज्ञान एवं आनन्द को पूर्ण मानते और न जगत् को ही पूर्ण मानते हैं। देह और संसार को परमाणु का संघात मानते हैं जिसे पुद्गल शब्द से कहते हैं। संसार का कारण पूर्ण परमेश्वर को वे मानते ही नहीं हैं। ऐसी स्थिति में इस मंत्र से उनका समर्थन कैसे मिल सकेगा। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त २४ तीर्थंकर हैं। वे सभी ऐश्वर्यपद को प्राप्त कर चुके हैं। किन्तु जगत्सृष्टा, नित्य, सर्वज्ञ, पूर्ण, परमेश्वर उनके मत में नहीं माना गया है। अतः इस शान्ति मन्त्र में इनके सिद्धान्त से अभिमत जगत्कारण एवं जगत् से विलक्षण कार्य कारण के सम्बन्ध में बतलाया गया है। जिसे वेदान्त सिद्धान्त निरूपण के समय बतलाऊँगा।

बारहवाँ दिन : आज मैं 'पूर्णमदः' इत्यादि शांति मन्त्र का विचार करते हुए नास्तिक बौद्ध दर्शन के प्रस्थानचतुष्टय को आपके सामने उपस्थित करना चाहता हूँ, जिससे आप समझ जायँ कि यह मंत्र जगत्कार्य-कारण एव साध्य-साधन के सम्बन्ध में बौद्धों के सिद्धान्त का समर्थन करता है या नहीं। संक्षेप में बौद्धों का दर्शन सर्वदर्शन संग्रह के निम्नांकित श्लोक से मिल सकता है।

'मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचारमते ते सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः,
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते'॥

सर्वशून्यत्ववाद, क्षणिक विज्ञानवाद तथा सर्वास्तित्ववाद ऐसे तीन भेद बौद्ध दर्शन के हैं। इनमें बाह्याभ्यन्तर सभी वस्तु क्षणिक हैं, ऐसी मान्यता सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक दोनों की है। फिर भी पदार्थ का अस्तित्व सौत्रान्तिक ने जहाँ अनुमान से सिद्ध किया है, वहाँ पर वैभाषिक ने प्रत्यक्ष प्रमाण से क्षणिक बाह्याभ्यन्तर वस्तु का अस्तित्व सिद्ध किया है, दोनों में यही भेद है। माध्यमिक ने शून्य में ही सम्पूर्ण जगत् को कल्पित माना है और योगाचार मत में क्षणिक विज्ञान का ही विवर्त सम्पूर्ण संसार है। इनमें शून्यवादी प्रमुख माना गया है। उन्होंने कार्य जगत् को तो कल्पित ही माना है। किसी की सत्ता नहीं मानी। इतना ही नहीं; कारण को भी शून्य मानकर अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय स्पष्ट रूप से दिया है। इनके सारे तर्क ब्रह्मवादियों के समान हैं। जैसे वेदान्त में ब्रह्म ही एक पारमार्थिक तत्त्व है और उसीके अज्ञान से सम्पूर्ण जगत् की कल्पना हो रही है, ठीक वैसे ही परमार्थ वस्तु शून्य है। इसी में सम्पूर्ण संसार की कल्पना हो रही है। बौद्ध सिद्धान्त की शरण लेकर शून्य तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर कल्पित संसार बाधित हो जायेगा और केवल शून्यमात्र शेष रह जायगा।

इस सज्जन से पूछना चाहिये कि कल्पित संसार के मिट जाने पर अवशिष्ट शून्य तत्त्व को किसने जाना? क्या शून्य ने

किसी को जाना अथवा अन्य ने ? शून्य से भिन्न तो सभी कल्पित हैं, उनका बाध तो हो ही गया। साथ ही कल्पित वस्तु परमार्थ को नहीं जान सकती। परिशेषतः शून्य नही जाना, ऐसा कहने पर व्याघात दोष आ जायगा। जब शून्य की सत्ता ही नहीं है तो भला उसमें शून्य को जानने की शक्ति कहाँ से आयेगी ? और शून्य को प्राप्तकर बेचारे शून्यमतावलम्बी मुक्त होना चाहते हैं, यह भी एक आश्चर्य ही है। अस्तु। शान्तिमंत्र से सिद्ध अखण्ड सत्ता, ज्ञान तथा आनन्द स्वरूप पूर्ण तत्त्व ही जगत् का कारण है और जगत् भी वैसे ही पूर्ण है। इसे तो वे गरीब शून्यवादी नहीं मानते। इसलिये इससे शून्यवाद का समर्थन नहीं हो सकता।

क्षणिक विज्ञानवादियों ने उक्त रीति से शून्यवाद का परिहास करते हुए कहा है कि क्षणिक विज्ञानही पारमार्थिक तत्त्व है, रस्सी में सर्प की भाँति घट-पटादि सम्पूर्ण संसार उसी में कल्पित है। उस क्षणिक विज्ञान की दो धाराएँ हैं—आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान। इसकी चर्चा मैं पहले भी कर आया हूँ। 'अहम् अहं' ऐसी धारा को आलय विज्ञान धारा कहते हैं और 'इदम् इदं' प्रवृत्ति विज्ञान की धारा मानी जाती है। इन्हीं में सम्पूर्ण संसार कल्पित है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु को सत्ता वे नहीं मानते।

उक्त दोनों मतों के ऊपर आक्षेप हो सकता है कि वासना के लिये अन्यत्र कहीं सद्वस्तु की सत्ता होनी चाहिये। रस्सी में सर्प कल्पित है किन्तु अन्यत्र सर्प सत्य भी है। वैसे ही विज्ञान एवं शून्य में जगत् की कल्पना के लिये कहीं अन्यत्र जगत् को

सत्ता माननी चाहिये। इसका उत्तर उन्होंने दिया है कि कल्पना के लिये अन्यत्र संसार सत्ता की आवश्यकता नहीं है, अपितु वस्तु के अनुभव जन्य संस्कार की आवश्यकता है। वस्तु सत्य हो या मिथ्या, इसका आग्रह निरर्थक ही है। पूर्व कल्पित वस्तु के अनुभव जन्य संस्कार विज्ञान में विद्यमान होने के कारण उत्तरोत्तर कल्पना होती रहती है। अस्तु। दोनों ही विज्ञान को क्षणिक मानने के कारण इनका सिद्धान्त भी शान्ति मन्त्र से समर्थित नहीं है क्योंकि उनके मत से जगत् में पूर्णता का तो अत्यन्ताभाव ही है। पर जगत् के अधिष्ठान विज्ञान को क्षणिक मान लेने के कारण उसकी पूर्णता भी खपुष्प के समान है। क्षणिक विज्ञान कल्पना का अधिष्ठान हो भी नहीं सकता। पर उसका विचार हम यहाँ करना नहीं चाहते। हम तो इतना ही कह सकते हैं कि कार्य-कारण के सम्बन्ध में शून्यवाद तथा क्षणिक विज्ञानवाद का समर्थन इस मन्त्र से नहीं मिलता है।

ऐसे ही संसार एवं विज्ञान को क्षणिक मानने वाले सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक मत भी कार्य कारण के सम्बन्ध में इस शान्तिमन्त्र से समर्थित नहीं माना जायगा। इन दोनों ने ही क्षणिक विज्ञानवादियों की अत्यन्त हँसी उड़ायी है। कहा है कि बुद्धि में आकार के लिये बाह्य वस्तु की आवश्यकता है, उसके बिना घटाकार-मठाकार बुद्धि ही बन जाती है ऐसा विज्ञानवादियों का कहना ठीक नहीं है, किन्तु विज्ञान के समान बाह्य वस्तु भी हैं। इसी मान्यता के कारण इन दोनों को सर्वास्तित्ववादी कहा गया है। किन्तु उन चारों ने सभी वस्तुओं को क्षणिक मानकर जगत् एवं उसके कारण की पूर्णता को अस्वीकार कर दिया है। अतः ये दोनों ही 'पूर्णमदः' इत्यादि

मन्त्र से समर्थन प्राप्त नहीं कर सकते। 'सर्वं क्षणिकं' 'सर्वं दुःखं' 'सर्वं शून्यं' का उपदेश गौतम बुद्ध ने संसार से वैराग्य होने के लिये किया था, किन्तु उन लोगों ने उनके तात्पर्य को न समझने के कारण उसे पारमार्थिक मान लिया और तभी से दुःखवाद का जन्म हुआ। हमारा वैदिक सिद्धान्त 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' कह कर आनन्दवाद का समर्थन करता है, न कि दुःखवाद का। उन चारों ने ही विवर्तवाद का समर्थन किया, किन्तु वह ब्रह्म का विवर्त है, ऐसा नहीं माना। इसलिये मनःकल्पना के अनुसार शून्य का विवर्त, क्षणिक विज्ञान का विवर्त ऐसे तो अनेक मतान्तर हैं। आचार्य भगवत्पाद ने उन सबको वैनाशिक शब्द से सम्बोधित किया है। ये सभी असत्कारणवादी हैं। अन्तर इतना ही है कि शून्यवाद में कारण की सत्ता न मानकर स्वरूपतः कारण को असत् माना है। क्षजिक विज्ञानवादी ने क्षणिक विज्ञान रूप जगत् के कारण को प्रति क्षण विनाशी माना है। इसलिये वह भी असत्कारणवादी माना गया है। ऐसे ही सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक ने भी वस्तु को स्थायी न मानकर असत्कारणवाद का ही समर्थन किया। कार्य के सम्बन्ध में भी ये लोग लगभग बराबर ही हैं। सभी ने असत्कारणवाद का ही समर्थन किया किन्तु हमारा शान्ति-मन्त्र कार्य एवं कारण को पूर्ण कह कर इन सभी मतों की उपेक्षा करता है। इसका कहना है कि कारण तो पूर्ण है ही; कार्य भी पूर्ण है। अपूर्णता देखने वाले की दृष्टि में है, न कि वस्तु में। उसको अनादि अज्ञान के कारण जीव संसार में देख कर और कुछ इन मत-मतान्तरों में पड़कर कार्य की अपूर्णता मान बैठा था। इसका निरूपण सिद्धान्त निरूपण के समय करूँगा।

तेरहवाँ दिन : 'पूर्णमदः' इस शान्ति मंत्र से भारतीय नास्तिक दर्शनों की कार्य-कारण सम्बन्धी मान्यताओं को समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। अब उन छः आस्तिक दर्शनों ने जगत्कारण एवं जगत् के सम्बन्ध में जैसा निश्चय किया है, उनमें से किसका समर्थन इस शान्ति मंत्र से सम्भव है। इसका विचार आज से प्रारम्भ होगा। सर्वप्रथम जैमिनिमहर्षि प्रणीत पूर्वमीमांसा पर ही विचार किया जायगा। जो उनके विचार का आधारभूत वेद ही है। वेद के चार हजार मंत्रों को (उपनिषद् भाग को) छोड़कर शेष सम्पूर्ण वेद पर पूर्वमीमांसा में विचार किया गया है। अतएव अन्य दर्शनों की अपेक्षा पूर्वमीमांसा दर्शन बड़ा है। सम्पूर्ण वेद का अध्ययन कर लेने के बाद पूर्वमीमांसा दर्शन का अधिकारी बन सकता है। जैसे 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र के 'अथ' शब्द से सूचित किया गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य इन्हें द्विज इसलिये कहा है कि एक बार माता के गर्भ से इनका जन्म होता है और दूसरी बार सावित्री के गर्भ से। वेदाध्ययन में इन्हीं द्विज बालकों का अधिकार है। गुरुमुखोच्चारानूच्चारण को अध्ययन कहते हैं। मनमाने ढंग से हिन्दी, अंग्रेजी या किसी भाषा के अनुवाद के आधार पर वेद का अध्ययन नहीं कहा जा सकता। ऐसी परम्परानुगत से वेदाध्ययन समाप्ति पर वेदार्थ विचार के लिये गुरुकुल में वास करना पड़ता था। तदनन्तर समावर्तन संस्कार कर लौटने की आज्ञा आचार्य देते थे। समावर्तन संस्कार काल में भी आचार्य उसे कर्तव्य का स्मरण दृढ़ता के साथ कराते थे। वे कहते थे कि—

'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्।

धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् ।स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।।१।। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव ।। अतिथिदेवो भव ।। यान्यस्माकँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि ।।२।। नो इतराणि ।। (तैत्तिरीय० १-१)

"सत्य बोलो । धर्म का आचरण करो । स्वाध्याय से प्रमाद न करो । आचार्य के लिये प्रिय धन की भेंट कर सन्ततिपरम्परा का विच्छेद न करो । मन कर्म वचन से सत्य के पालन में प्रमाद न करो । धर्माचरण से प्रमाद न करना चाहिये । कुशल से प्रमाद न करो । ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये प्रयत्न से प्रमाद न करो । स्वाध्याय एवं प्रवचन से प्रमाद न करो । देव-पितृकार्य से प्रमाद न करो । माता को देव समझो । पिता को देव समझो । आचार्य को देव समझो और अतिथि को देव समझो । जो शास्त्र-विहित निर्दोष कर्म हैं, उन्हीं का सेवन करना; अन्यों का नहीं । हमारे अच्छे आचरण व्यवहार की ही उपासना एवं अनुकरण करना, इतर कर्मों का नहीं ।" इत्यादि अनेक दृढ़तम वाक्यों से स्नातकों को उपदेश कर आचार्य घर जाने की आज्ञा देते थे । आज के विश्वविद्यालयों में नाटकीय ढंग से इनका उपदेश किया जा रहा है, किन्तु आचार्य, छात्र एवं स्नातक के जीवन में इनका शास्त्रीय ढंग से पालन नहीं किया जाता । यह एक खेद का विषय है ।

यद्यपि शताब्दियों तक भारत के ऊपर विदेशियों का शासन रहने के कारण वेद की सभी शाखाएँ उपलब्ध नहीं हैं । जो हैं भी, उनका अध्ययन, अध्यापन, विधिपूर्वक बहुत थोड़े ही लोग

कर रहे हैं। वेदाध्ययन न करने से द्विज में शूद्रत्व आ जाता है। इसे मनु भगवान् ने कहा है कि—

'योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः'॥

अर्थात् जो द्विज वेदों का अध्ययन नहीं करता और अन्य विद्या, कलाकौशल की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, वह अतिशीघ्र ही अपनी भावी पीढ़ी के सहित जीते जी शूद्र हो जाता है। अतः कम से कम अपनी शाखाओं का अध्ययन तो अवश्य करना ही चाहिये। अस्तु—

वेदाध्ययन के बाद धर्माधर्मादिरूप वेदार्थ का विचार करने के लिये शास्त्र की आज्ञा है क्योंकि धर्मज्ञान के बिना उसका अनुष्ठान होना सम्भव नहीं है। इसलिये उसका विचार तो करना ही चाहिये। पूर्वमीमांसा दर्शन में मूलतः दो ही पदार्थ माने गये हैं; जीव और परमाणु। इनके यहाँ संसार स्वरूप से अनादि एवं अनन्तरूप माना गया है। मीमांसक महाप्रलय नहीं मानते। जीवात्मा जड़ चेतनरूप व्यापक, कर्ता, भोक्ता एवं नाना है। ये खण्ड प्रलय तो मानते हैं किन्तु महाप्रलय नहीं मानते। नरकादि दुःखों के साथ संबन्ध होना ही बन्धन है और वेदविहित कर्म से ही निषिद्ध कर्म एवं तज्जन्य बन्धन को काटकर स्वर्गादि की प्राप्ति को मोक्ष कहा गया है। किसी भी खण्डप्रलय के बाद कालान्तर में उस ब्रह्माण्ड सृष्टि के लिये जीव के अदृष्टरूप निमित्त से परमाणुओं का संयोग होता है। द्वयणुक, त्रसरेणु एवं चतुरेणु क्रम से महत्सृष्टि बनती है। जैसे महल के नाश होने पर उसके ईंट पत्थर अवशेष रहते हैं,

वैसे ही सृष्टि का नाश होने पर ब्रह्माण्ड का किसी भी परमाणु रूप में अवशेष रहना ही खण्ड प्रलय माना गया है। मीमांसा दर्शन में ईश्वर को नहीं माना जाता है। सर्वज्ञ ईश्वर के बिना शुभाशुभ कर्म जन्य धर्म और अधर्म कैसे फल दे सकेगा एवं सृष्टि भी कैसे हो सकेगी ? जीव के अदृष्ट से दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक बनता है। यह इनकी मान्यता कैसी बेढंगी है ? परमाणु जड़, अदृष्ट जड़, और जीव भी जड़ ही हैं। अतः ये जड़ वस्तु किसी दूसरे की प्रेरक कैसे हो सकेगी ?

शान्ति मन्त्र में जगत् एवं उसके कारण को पूर्ण बतलाया गया है, किन्तु मीमांसकों ने संसार का एवं उसके कारण का स्वरूप जैसा बतलाया है वह पूर्ण नहीं है। ऐसी स्थिति में जगत्कारण को मीमांसा दर्शन ने वेद सम्मत नहीं बतलाया। अतः इनका मत भी अमान्य है। कारण को सत् मानते हुए भी उत्पत्ति से पूर्ण कारण में कार्य की सत्ता नहीं मानते। अतः नैय्यायिकों के समान यह भी असत्कारणवादी है। परमाणुओं से जगदुत्पत्ति मानने के कारण यह आरम्भवादी है। मीमांसा की बहुत कुछ बातें वेदान्त दर्शन ने व्यावहारिक दृष्टि से मान ली हैं। इसीलिये व्यवहार में कुमारिल भट्ट के मत का अनुसरण करने वाला वेदान्ती माना गया। 'यथा व्यवहारे भट्टनयः।' जीव को अपने कर्म के अनुसार सुखदुःखादि भोग और शुभाशुभ योनियों की प्राप्ति होती है। कर्म का फल कर्ता को अवश्य भोगना पड़ता है। मानस में गोस्वामी जी ने कहा है—'कर्म-प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करहि सो तस फल चाखा ॥' इत्यादि बातों को मानते हुए भी जगत् के स्वरूप एवं जीव के स्वरूप परमार्थ दृष्टि से नानापन सर्वज्ञ ईश्वर के बिना स्वतन्त्र

अदृष्ट जगत् का द्रष्टा और परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति इत्यादि अनेक बातें मीमांसा दर्शन की अमान्य हैं। कुमारिल भट्ट, प्रभाकर एवं मुरारी मिश्र के विचारों में किञ्चित् भेद होते हुए भी जगत्कार्य-कारण के सम्बन्ध में सबका मतैक्य है, जिसे मैंने बतलाया। अतः ये सभी मत जगत्कारण को पूर्ण बतलाने वाले शान्ति मन्त्र की दृष्टि में अमान्य है।

चौदहवाँ दिन : आज न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तानुसार संसार एवं उसके कारण का विचार करते हुये हमें देखना है कि इनकी मान्यता भी 'पूर्णमदः' इस शान्ति मन्त्र से समर्थित है या नहीं। मीमांसकों की अपेक्षा इन्होंने नित्य, सर्वज्ञ ईश्वर को मानकर अपने सिद्धान्त को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया है। संस्कृत साहित्य में न्यायदर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। न्याय सूत्रों के प्रणेता गौतम से लेकर भाष्य, वार्तिक, तात्पर्य टीका एवं तात्पर्य परिशुद्धि के बनाने वाले उदयनाचार्य तक प्राचीन नैय्यायिक माने जाते हैं। गंगेशोपाध्याय ने तत्त्वचिन्तामणि की रचना कर नव्य-न्याय को जन्म दिया। जिसकी टीका प्रटीका क्रोड़पत्रादि बहुत से प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रन्थ हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने वेद से लेकर प्राचीन न्याय के सभी ग्रन्थों को चाहे पढ़ भी डाला हो किन्तु नव्य न्याय में इन पाश्चात्यों का पैर आज तक नहीं जम पाया। यहाँ पर उनकी सारी मान्यताएँ और विचारों का कथन सम्भव नहीं है। किन्तु जीव-जगत् और उसके कारण ईश्वर के सम्बन्ध में ही थोड़ा विचार किया जायगा।

इन्होंने नौ द्रव्य माने हैं, जिनमें आत्मा को भी एक द्रव्य माना है। उसी के जीवात्मा और परमात्मा ये दो भेद हैं। जीव

स्वरूप से जड़ हैं किन्तु आत्मा और मन का संयोग होने पर उसमें ज्ञान, कृति आदि गुण उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। इसलिये जीव के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि अनित्य हैं किन्तु परमात्मा के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न नित्य हैं। नित्य ज्ञानादि वाले परमात्मा की प्रेरणा से पार्थिवादि परमाणुओं में संयोग होता है। उससे द्व्यणुक त्रसरेणु इत्यादि क्रम से महान् पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु इत्यादि उत्पन्न होते हैं। पुनः पिण्ड और ब्रह्माण्ड बनते हैं। परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानने के कारण दोनों ही आरम्भवादी हैं एवं कारण में कार्य की उत्पत्ति से पूर्व वह प्रागभाव मानने के कारण असत्कार्यवादी हैं। कारण में कार्य समवाय संबन्ध से उत्पन्न होता है। अतः कारण की विद्यमानता में कार्य की उत्पत्ति मानने के कारण सत्कारणवादी हैं। अर्थात् कारण का नाश होने पर कार्य की उत्पत्ति बौद्धों के समान ये नहीं मानते। इसलिये ये सत्कारणवादी कहे जाते हैं। ईश्वर जीव पृथिव्यादि चारों भूतों के परमाणु तथा आकाश काल, दिशा, आत्मा और मन इतने द्रव्य को इन्होंने नित्य माना है। ईश्वर के ज्ञानादि नित्य होने के कारण उसकी इच्छानुकूल कार्य होता है, किन्तु जीव के ज्ञानादि अनित्य होने के कारण उसकी इच्छा के अनुसार कार्य सदा नहीं होते। सुख जीव का गुण है, परमात्मा का नहीं। इनके मतानुसार परमात्मा को आज तक सुख का अनुभव कभी हुआ ही नहीं। मीमांसकों की भाँति ये भी जीव को कर्ता, भोक्ता तथा नाना मानते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन, ये छः इन्द्रियाँ, इनके छः विषय और इन इन्द्रियों के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान सुख-दुःख एवं स्थूल शरीर ऐसे २१ दुःखों को वे बन्धन कहते हैं और इनके नाश होने पर मोक्ष होता है; ऐसा मानते हैं। इनका

ईश्वर सदा परोक्ष ही रहता है, उसका प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। ईश्वर के संबन्ध में प्रमाण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने अनुमान और शब्द को ही प्रमाण बतलाया है। यह बात सत्य है कि जीव से ईश्वर को भिन्न मानने पर उसका कभी भी प्रत्यक्ष हो नहीं सकता। इस अंश में इन्हें मैं ईमानदार मान सकता हूँ। पर जिन लोगों ने जीवात्मा और परमात्मा को भिन्न मानकर भी उसे प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया, उनका तो वह दुःसाहस ही मानना पड़ेगा क्योंकि यह बात भी सत्य है कि परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार किये बिना कभी भी दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती। कारण कि कठोपनिषद् में कहा है कि "एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥" (२।२।१२) सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा, सब भूतों को अधीन रखने वाला स्वतन्त्र जो परमात्मा एक है, वही अपने आपको अनेक रूपों में परिवर्तित कर लेता है। उस आत्मस्थ परमेश्वर का जो श्रुति एवं आचार्योपदेश के पश्चात् साक्षात्कार करते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त हो सकता है; अन्यों को नहीं। इस श्रुति में शाश्वत सुख का एकमात्र उपाय परमात्मतत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान ही बतलाया गया है; परोक्ष ज्ञान नहीं। या अन्य किसी भी साधन से शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी बात को "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" यह श्रुति भी बतला रही है। 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' "तरति शोकमात्मवित्" इत्यादि श्रुति है। अर्थात् उस 'परमात्मा को जानकर ही मृत्यु के मुख से छूट सकता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान से भिन्न कोई साधन नहीं है'। 'ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती'। आत्मज्ञानी

शोक को पार कर जाता है। इन सभी श्रुतियों ने एक स्वर से यही कहा है कि मोक्ष प्राप्ति का साधन परमात्मा का दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान ही है। अतः जीव से भिन्न परमात्मा को मानकर उसका अपरोक्ष कथमपि सम्भव नहीं है। इसे न्याय, वैशेषिक तथा योगियों ने भी स्वीकार किया है। अतएव वे परमात्मा का प्रत्यक्ष होना मानते भी नहीं। उसकी सिद्धि संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय के कारणरूप से करते हैं। इन सभी बातों के साथ एक बहुत बड़ी कमजोरी उनके मत में यह है कि जैसा हमने पहले पूर्ण शब्द का अर्थ किया था, वैसा वे जगत् का स्वरूप नहीं मानते। इसलिये इनका मत भी इस शान्ति मन्त्र से समर्थित नहीं माना जायगा। क्योंकि उनका परमेश्वर और जगत् पूर्ण तो है ही नहीं। जिन परमाणुओं से जगत् का सर्जन ईश्वर करता है, वे परमाणु जड़ हैं। चेतन भी नहीं हैं; सुखरूप मानने की तो बात ही नहीं। ईश्वर की इच्छादि नित्य हैं तो ऐसी स्थिति में सृष्टि नित्य होनी चाहिए, अथवा सदा प्रलय ही होना चाहिए, सृष्टि नहीं। पर ऐसा सम्भव भी नहीं और वे मानते भी नहीं है।

पन्द्रहवाँ दिन : आज सांख्य तथा योग दर्शन के अनुसार जगत् एवं उसके कारण सम्बन्ध में बतलाये गये सिद्धान्त पर विचार करते हुए यह देखना है कि इस सम्बन्ध में इन्हें शान्ति मन्त्र से समर्थन प्राप्त होता है या नहीं ?

सांख्य शास्त्र में प्रकृति और पुरुष ऐसे दो मौलिक तत्त्व माने गये हैं। दोनों ही पारमार्थिक हैं। इनमें जीव सत् तथा चेतन है और प्रकृति सत् किन्तु अचेतन है। पुरुष सुखरूप नहीं

है। सुख तो प्रकृति के सत्त्वगुण का परिणाम है। वे तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रधान (प्रकृति) कहते हैं। प्रलय में पुरुष के साथ प्रधान ही शेष रहता है। सृष्टिकाल में जीवों के संस्कारवशात् पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति के गुणों में वैषम्य= क्षोभ उत्पन्न होता है। उससे महतत्त्व, महतत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्चतन्मात्राओं से एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। ऐसे प्रकृति के परिणामरूप तेईस तत्त्वों को ही सांख्यकारों ने जगत् शब्द से कहा है। इनका निर्माण कर पुरुष को भोग एवं मोक्ष दिलाने के लिये स्वय प्रकृति कर्त्री है। पुरुष असंग एवं उदासीन है। वह संसार के किसी भी पदार्थ बनाने एवं बिगाड़नेमें हस्तक्षेप नहीं करता। जहाँ पर नैय्यायिक, वैशेषिक, मीमांसकों ने परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानी थी; वहाँ पर उसके विपरीत ये (सांख्य) प्रकृति के परिणाम रूप से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। इसलिए इन्हें परिणामवादी कहते हैं। पुरुष निर्विकार, कूटस्थ, नाना और विभुरूप है, फिर भी उसके सान्निध्य से जड़प्रकृति में स्वयं क्रिया वैसे ही होने लगती है, जैसे चुम्बक के सान्निध्य से लोहे में होने वाली क्रिया। चुम्बक स्वयं निष्क्रिय रहता है, पर उसके सान्निध्य से उत्पन्न हुई क्रिया के कारण लोहा उसकी ओर खिच जाता है।

इनकी वड़ी भूल यह है कि इन्होंने ईश्वर नहीं माना है। पुरुष असंग, उदासीन और निष्क्रिय है। ऐसी परिस्थिति में जड़ प्रकृति जगत् निर्माण करने में कैसे समर्थ हो सकती है। इस विषय में जो दलीलें दी गई हैं, वह निरर्थक हैं। पुरुष और प्रकृति के अविवेक से आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधि-

दैविक दुःखों का अनुभव सभी को होता है। दुःख रूप से परिणत हुई बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ना ही उसका भोग है। इस प्रकार त्रिविध दुःख ही बन्धन है और उनकी निवृत्ति पुरुष और प्रकृति के विवेक (ज्ञान) से होती है। कारणसहित त्रिविध दुःखों की निवृत्ति को ही इन्होंने मोक्ष माना है। विवेक-ख्याति से भिन्न त्रिविध दुःखरूप निवृत्ति का अन्य कोई साधन नहीं है। यदि सांख्य पुरुष-नानात्व एवं पुरुष में भोक्तृत्व तथा प्रकृति के पारमार्थिकत्व का आग्रह छोड़ दें तो वेदान्ती उसे गले से लगाने को भी तैयार है। उनके विचारानुसार जगत्-कारण एवं कार्य जगत् पूर्ण नहीं है क्योंकि ये दोनों ही अखण्ड-ज्ञान तथा अखण्डानन्द से शून्य हैं। अतः इनका मत भी कार्य-कारण के सम्बन्ध में उक्त शान्तिमन्त्र से समर्थित नहीं है।

सांख्यों की अपेक्षा योगदर्शनकार ने एक ईश्वर तत्त्व को भी माना है जिसका स्वरूप वे बतलाते हैं कि—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'
'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।'
'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्।' (१।२४-२५-२६)

अर्थात् 'अविद्यादि पञ्च क्लेश, शुभाशुभ एवं मिश्रित कर्म, इनका सुखदुःखादि परिणाम तथा संस्कार से जो सर्वथा सम्बन्ध रहित हो, ऐसे पुरुष विशेष को ही ईश्वर कहते हैं। इसमें सर्वाधिक निरतिशय ज्ञान रहता है, इसलिये सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न ऋषियों का भी यह गुरु है क्योंकि काल से इसका नाश नहीं होता।' ऐसा ईश्वर जीवात्मा से सर्वथा भिन्न है। इसीलिये न्यायदर्शन के समान ही इनके मत में भी ईश्वर का

प्रत्यक्ष नहीं होता। समाधिकाल में भी द्रष्टा पुरुष केवल अपने स्वरूप में स्थित रहता है। उसे ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता। प्रकृति से भिन्न पुरुष को समाधि के द्वारा जान लेने पर सांख्यों के जैसे ही इनके मत में भी त्रिविध दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है। गुणों की महदादिरूप से विकृति पुरुष के भोग एवं मोक्ष के लिये ही हुआ करती है। वह विकार समाधिपूर्वक विवेकख्याति हो जाने पर नहीं होता। उस समय पुरुष (चितिशक्ति) स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहता है। इसी को इन्होंने कैवल्य या मोक्ष कहा है। यथा—

'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।' पुरुष के भोग एवं मोक्षरूप पुरुषार्थ के पूर्ण हो जाने के कारण प्रकृति के तीनों गुण पुरुषार्थशून्य हो चुके हैं। इनका पुनः प्रसव (उत्पत्ति) नहीं होता। उस समय चितिशक्ति स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती है। यही योगदर्शन का मोक्ष है। अस्तु—

सांख्यों की अपेक्षा एक ईश्वरतत्त्व को मानकर योगदर्शन ने बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन तो अवश्य किया है। चित्त के समाधान में किसी हद तक इसका उपयोग भी मानें, फिर भी शान्ति मन्त्र में जगत् एवं उसके कारण का स्वरूप जैसा बतलाया गया है, वैसा इन्हें अभिमत नहीं है। हम पहले बतला आये हैं, कि प्रत्येक जीव अपनी पूर्णता तब समझेगा, जब देश, काल, वस्तु-परिच्छेद से शून्य अखण्ड सत्ता, ज्ञान, आनन्द उसे प्राप्त हो जायगा। सत्ता प्राप्त भी हो जाय पर उसे ज्ञान नहीं हो तो वह सत्ता किस काम की ? ज्ञान भी देश, काल, वस्तुपरिच्छेद से

शून्य होना चाहिए। पर इन दोनों के रहने पर भी सुख न हो या परिच्छिन्न सुख हो तो भी उसकी पूर्णता नहीं मानी जाती है। जगत् का कारण प्रकृति जड़ होने से पूर्ण नहीं कही जा सकती, फिर भला उसका कार्य जगत् कैसे पूर्ण हो सकेगा? ईश्वर को कथंचित् पूर्ण मानें भी तो जगत् का तटस्थ कारण होने से वह अपनी पूर्णता संसार में उडेल नहीं सकता। इसलिये अन्ततोगत्वा संसार तो अपूर्ण ही रहेगा। सत्य बात तो यह है कि इन्होंने भी ईश्वर को सत्य एवं चिद्रूप मानकर भी आनन्द-रूप तो माना ही नहीं। इसलिये वह भी अपूर्ण ही है, फिर भला दूसरे को पूर्ण कैसे बना सकेगा।

जीव को अनुकूल वस्तु की प्राप्ति दशा में थोड़ा सुख मिले भी किन्तु मोक्षावस्था में न तो स्वरूप सुख है और न वैषयिक सुख ही। अतः मोक्षावस्था में आनन्द का वैसा ही अभाव है, जैसा त्रिविध दुःखों का अभाव है।

जीव से भिन्न ईश्वर को मान लेने के कारण उसका प्रत्यक्ष होना असम्भव है और वे वैसा मानते भी नहीं हैं। इस विषय में नैयायिकों को जैसी ही इनकी भी ईमानदारी मानी जायगी, किन्तु परमात्मा के साक्षात्कार के बिना दुःख का अन्त कभी भी नहीं हो सकेगा। इस विषय में श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि—

'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति' ॥ (श्वे० ६।२०)

'चमड़े के समान आकाश को लपेटने में कोई समर्थ हो जायेंगे, तब यह भी मान लिया जायगा कि परमात्मा को जाने

बिना भी दुःख का अन्त हो जायगा।' अर्थात् जैसे चमड़े के समान आकाश को नहीं समेटा जा सकता, वैसे ही परमात्मा को जाने बिना दुःख का अन्त असम्भव है। ऐसी स्थिति में इन सभी दार्शनिकों की वह भूल समान ही है, जो परमात्मा को अपरोक्ष रूप से जाने बिना भी मोक्ष प्राप्ति का दुःसाहस इन्होंने किया है।

इस शान्ति मन्त्र में परोक्षार्थ के वाचक परमात्मा को 'अदः' शब्द से बतलाया है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि परमात्मा का प्रत्यक्ष होना इस श्रुति को भी इष्ट नहीं है। ऐसी स्थिति में उसे चाहे आप पूर्ण कह भी दें; पर दुःख से परिपूर्ण संसार को पूर्ण कह कर जीव को अन्धेरे में धकेलने के समान ही माना जायगा और यदि संसार भी पूर्ण ही है तो इसे छोड़कर मोक्ष के लिये वेदान्त श्रवणादि की भी क्या आवश्यकता है?

इसका उत्तर वेदान्त दर्शन के विचारावसर पर देंगे। यहाँ संक्षेप रूप से इतना ही समझें कि परमात्मा जीवात्मा का निजरूप होने के कारण सदा अपरोक्ष ही है, किन्तु अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान के कारण परोक्षता का भान हो रहा है। उसे मिटाने के लिये एवं संसार में पूर्णता दिखलाने के लिये श्रुति का प्रयास है।

किसी व्यक्ति ने जली रोटी खायी थी। अतः उसके पेट में दर्द होने लगा। वह डॉक्टर के पास गया और अपने पेट दर्द की व्यथा कह सुनायी। डॉक्टर ने कहा—तुमने कल क्या खाया था? रोगी ने उत्तर दिया—जली हुई रोटी। सुनते ही डॉक्टर ने दवा निकाल कर आँख में लगाना प्रारम्भ किया। रोगी बड़ा

हैरान हुआ, दर्द तो पेट में है और दवा आँख में लगा रहे हैं। भला पेटदर्द के लिये आँख में दवा लगाने की क्या आवश्यकता? डॉक्टर ने कहा—यदि तुम्हारी आँख अच्छी होती, तो तुम जली रोटी हरगिज नहीं खाते। ऐसे ही संसार की पूर्णता और पूर्ण परमेश्वर को देखने के लिये जीव की बुद्धि ठीक करनी चाहिये। अनादि अज्ञानावरण के कारण जीव सच्चिदानन्दरूप परमात्मा को आत्मभावेन नहीं जानता और परिच्छिन्न दृष्टि के कारण ही संसार को भी दुःखरूप से मानता है। ऋग्वेद में कहा है कि —"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्।" (१-१२-२०)

'परमात्मस्वरूप को विद्वान् लोग वैसे ही देखते हैं, जैसे आवरण रहित आकाश को हमारी आँख देखती है।' सिद्धान्त दृष्टि से आगे विचार करना ही है। यहाँ तो साँख्ययोग दर्शन के कार्य-कारण की मान्यताएँ 'पूर्णमदः' इत्यादि मन्त्र से समर्थित नहीं हैं, इतना बतलाना ही इष्ट है।

सोलहवाँ दिन : आस्तिक दर्शनों में से वेदान्त को छोड़कर मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य एवं योग इन पाँचों की कार्य एवं उसके कारण के सम्बन्ध में मान्यता पर बिचार करके देखा तो इनमें से एक भी दर्शन 'पूर्णमदः' मन्त्र से समर्थित नहीं है क्योंकि इनमें से मीमांसा, न्याय तथा वैशेषिक परमाणु से जगत् की उत्पत्ति मानने के कारण आरम्भवादी है और दो सांख्य तथा योग दर्शन प्रकृति से महदादि जगत् उत्पत्ति मानने के कारण परिणामवादी हैं। इन सभी को आचार्य सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेप शारीरक में अत्यन्त दीन बतलाया है। उन्होंने तो

विवर्तवाद को ही सिद्धान्त पक्ष माना है जिसमें अद्वितीय निर्विकार विशुद्ध आत्मचैतन्य को ही परमार्थतत्त्व कहा गया है।

'कृपणधीः परिणाममुदीक्षते क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम्। स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते व्यपगतद्वितयं परमं पदम्'। (२-८६)

संसार को प्रकृति के परिणाम रूप से देखने वाला अत्यन्त मलिन एवं मन्दमति है। जिसके हृदय में मलिनता नहीं है, बुद्धि मन्द नहीं है वह तो संसार को ब्रह्म का विवर्तरूप से देखता है। जिसकी बुद्धि अत्यन्त स्थिर है, वह बार-बार संसार की ओर जब देखता है तो इसे द्वैत कल्पनाओं से अतीत विशुद्ध चैतन्य ही परमार्थरूप से दीखता है। उसी में संसार रज्जुसर्प की भाँति कल्पित दिखायी पड़ता है। हमने पाँचों भारतीय आस्तिक एवं छः नास्तिक दर्शनों की वास्तविकता को टटोल देखा, तो बेचारे मीमांसक 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करते रहो' का नारा लगाने वाले हैं। उन्हें कैसे ज्ञान हो सकता है। नास्तिक तथा अर्द्धनास्तिक वैशेषिक तर्क को ही अपनी आँख मानने वाले हैं। उन्हें किसी तत्त्व का निश्चय कैसे हो सकेगा। अत्यन्त यत्नपूर्वक एक तार्किक किसी वस्तु को जैसा बतलाता है, दूसरा उसे विपरीत कर दिखलाता है। इसलिये ही तो तार्किक चक्रचूड़ामणि रघुनाथ शिरोमणि ने कहा है कि—

'विदुषां निवहैरिहैकमत्या यददुष्टं निरटंकि यच्च दुष्टम्। मयि जल्पति कल्पनाधिनाथे रघुनाथे अन्यथैव तन्यते'॥

इस ससार में एक स्वर से विद्वत्समुदाय ने जिसे निर्दुष्ट एवं जिसे दुष्ट सिद्ध किया है, मुझ कल्पनाधिनाथ रघुनाथ का जल्पना

के सामने निर्दुष्ट दुष्ट और दुष्ट निर्दुष्ट हो जायेंगे। इसीलिये तो महर्षि बादरायण ने 'तर्काप्रतिष्ठानात्' ऐसा सूत्र बनाया है। आचार्य भगवत्पादने सदाचारानुसन्धान में कहा है कि—

'कर्मशास्त्रे कुतो ज्ञानं तर्के नैवास्ति निश्चयः।
सांख्ययोगौ भिदापन्नौ शाब्दिकाः शब्दतत्पराः'
'अन्ये पाषण्डिनः सर्वे ज्ञानवार्तासुदुर्लभाः।
एकं वेदान्तविज्ञानं स्वानुभूत्या विराजते'॥ (२८।२९)

कर्मशास्त्र मीमांसा दर्शन में आत्मानात्म की बात ही नहीं है। तर्कशास्त्र में भी तत्त्व का निश्चय आजतक हो नहीं पाया। सांख्य और योगी भेद में पड़कर भटक रहे हैं, गरीब वैय्याकरण 'टिड्ढाणञ्' में लगे हुये हैं और शेष नास्तिक दर्शनावलम्बी लोक कल्पना में तत्पर हैं, उनमें ज्ञान की बात तो अत्यन्त दुर्लभ है। अतएव अन्त में यही कहना पड़ता है कि श्रुति के अनुसार अपने अनुभव पर अंकित किया हुआ अकेला वेदान्त विज्ञान ही अबाधगति से सर्वत्र सुशोभित हो रहा है। सृष्टि का क्या प्रयोजन है? इसके उत्तर में विभिन्न दार्शनिकों ने कहा है, कि—

'भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा'॥ (मा.आ. ९)

संसार भोग के लिये है, ऐसा किसी ने कहा है। किसी ने खेलने के लिये संसार की रचना मानी है। पर सिद्धान्त पक्ष में तो परमात्म देव का यह स्वभाव माना गया है, परमेश्वर पूर्णकाम

है उसे स्पृहा कहाँ, जो सृष्टि करने लगे। आचार्य गौडपाद सृष्टि के सम्बन्ध में कहते हैं कि—

'कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः।। (मा० वै० १२)

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः।।
निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः।। (मा०वै० अ०१७-१८)

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः (मा० वै० ३१)

आत्मदेव अपनी माया के द्वारा स्वयं ही अपने को जगत् रूप से अनुभव कर रहा है और फिर इन सारे भेदों का ज्ञाता भी वही है। ऐसा वेदान्त का निश्चय है। जैसे अन्धेरे में रखी हुई रस्सी का जब निश्चय नहीं होता तो सर्प, जलधारा, दण्ड एवं भूरेखा के रूप से कल्पना होने लग जाती है। ठीक वैसे ही अद्वैत आत्मा का निश्चय न होने के कारण संसार दीखता है। जब रस्सी का निश्चय हो जाता है, तो सर्पादि की कल्पना मिट जाती है। रस्सी के समान ही अद्वैतात्मा का निश्चय हो जाने पर संसार की कल्पना तीनों काल में नहीं रहती। स्वप्न एवं ऐन्द्रजालिक संसार जैसा देखा गया है और गन्धर्व नगर जैसा देखा गया है, वैसे ही वेदान्तदर्शन में तत्त्वदर्शियों ने संसार को जाना है। तात्पर्य यह है कि यह दृश्यमान् जगत् अखण्ड सत्ता, ज्ञान एवं आनन्द से युक्त पूर्ण ब्रह्म का विवर्त होने से पूर्ण ही

है। यह आरम्भ या परिणाम नहीं है, अपितु ब्रह्म का विवर्त है; यही सिद्धान्त पक्ष है।

आरम्भवाद एवं परिणामवाद में कारण के समान ही कार्य की सत्ता मानी जाती है। जैसे ईंट और पत्थर की सत्ता है। वैसे ही मकान की सत्ता है। दोनों ही व्यावहारिक सत्ता वाले हैं। वैसे ही दूध के समान सत्ता वाले दही को परिणाम कहते हैं, किन्तु विवर्तवाद में कारण की अपेक्षा कार्य को विषम सत्ता वाला माना जाता है। जैसे व्यावहारिक रज्जु का विवर्त प्रातिभासिक सत्ता वाला सर्प विषमसत्ताक कार्य है, वैसे ही तीनों काल में कभी भी न बाधित होने वाला पारमार्थिक सत्य का नाम-रूप जगत् विवर्त है, परिणाम या आरम्भ नहीं है। नामरूप के भीतर भी सत्ता, स्फूर्ति तथा प्रिय रूप से (सच्चिदानन्दरूप से) ब्रह्म ही तो विद्यमान है। परमार्थदर्शी को नामरूपात्मक जगत् के भीतर भी सच्चिदानन्द ब्रह्म ही दीखता है। इसीलिये श्रुति ने इस (जगत्) को भी पूर्ण कहा है। जगत् प्रत्यक्ष है, इसलिये इसे 'इदं' शब्द से और ब्रह्म परोक्ष है इसलिये उसे 'अद:' शब्द से कहा है। वेदान्त सिद्धान्त सम्मत विवर्तवाद का ही स्पष्ट उल्लेख इस शान्ति मन्त्र में किया गया है। किसी भी मत को सैद्धान्तिक रूप देने के लिये गीता, उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र से समर्थन मिलना चाहिये। कुछ लोगों ने श्रीमद्भगवद्गीता के कुछ श्लोकों को उद्धृत कर सांख्य शास्त्र सम्मत परिणामवाद को सिद्ध करना चाहा। मैं संक्षेप में उनके विचारों को आपके समक्ष रखूँगा। आप स्वयं ही देख लेंगे कि इसमें कहाँ तक सार है।

'अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥'

'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥'

(८।१८-१९)

हजार चतुर्युग बीतने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतनी ही बड़ी रात्रि होती है । ब्रह्मा के दिन के प्रवेश काल में सम्पूर्ण जड़ चेतनात्मक जगत् अव्यक्त से उत्पन्न होते हैं और उनकी रात्रि के प्रवेशकाल में उसी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । इस अव्यक्त शब्द को देखते ही सांख्यों के मुख में पानी आ जाता है और वे झटपट कह उठते हैं कि अव्यक्त से ही संसार की उत्पत्ति होती है । यह सम्पूर्ण भूत समुदाय ब्रह्मा के दिन में उत्पन्न होकर रात्रि के आगम में परवश हो लीन होता रहता है । सांख्य दर्शन में प्रधान को प्रकृति और अव्यक्त शब्द से कहा गया है, किन्तु यहाँ पर अव्यक्त का अर्थ सांख्यसम्मत प्रधान नहीं है । अपितु ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर को अव्यक्त शब्द में कहा गया है । इस प्रकार रात्रि दिन के विभागपूर्वक ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु मानी गयी है । उस समय महाप्रलय के अन्त में ब्रह्मा भी मूलप्रकृति सनातन अव्यक्त में लीन हो जाता है । जिसे गीता के चौदहवें अध्याय में महद्ब्रह्म शब्द से भी कहा गया है । यथा—

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥"
(१४।३-३)

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! संसार की उत्पत्ति में मेरी योनि महद्ब्रह्म है, उसी में संपूर्ण प्राणियों का मैं गर्भाधान करता हूँ और उसी से संपूर्ण भूतों की उत्पत्ति होती है। हे कुन्तीपुत्र ! ८४ लाख योनियों में जो मूर्तियाँ दीखती हैं, उनकी उत्पत्ति का कारण महद् ब्रह्म है । मैं तो, बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ । इन श्लोकों के आधार पर भी सांख्यमतावलम्बी प्रकृति को संसार का उपादान मानकर परिणामवाद सिद्ध करना चाहते हैं । पर उन्हें इस बात का पता नहीं, कि जहाँ साँख्यों ने जगत् की रचना में प्रकृति को स्वतन्त्र माना है वहाँ पर गीता जगत् के निर्माण में परमात्मा के अधीन प्रकृति को मानती है। जैसा कि उक्त श्लोकों से भी अर्थ निकलता है क्योंकि प्रकृति में गर्भाधान एवं बीजप्रदान करने वाला परमात्मा है। सांख्यों ने परमात्मा को माना नहीं और पुरुष को तो इन झंझटों से अलग ही रखा है। ऐसी स्थिति में सांख्यशास्त्रसम्मत परिणामवाद का उक्त श्लोकों से समर्थन कैसे हो सकेगा ? सांख्यों ने सभी शरीरों में आत्मा को नाना विभु, अकर्ता और असंग माना है। जबकि गीता सभी शरीरों में क्षेत्रज्ञ आत्मा को एक मानती है। यथा—

क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥
(गीता १३।२)

हे अर्जुन ! सभी क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तो केवल मुझे ही जानो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, मेरे मत में वस्तुतः वही ज्ञान है। सांख्यवादी प्रकृति को परिणामी और पुरुष को अविनाशी तथा एकरस मानते हैं। इस विषय में भी गीता का वाक्य उद्धृत करते हैं—

'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥'

संपूर्ण भूत नाश होने वाले हैं। उन नाश होने वाले संपूर्ण भूतों में समान, निर्विकार रूप से स्थित अविनाशी परमेश्वर को देखने वाला पुरुष ही वस्तुतः देखता है। इस वाक्य से भी परमात्मा निर्विकार सिद्ध होता है और संसार परिवर्तनशील सिद्ध हो रहा है। इसके आधार पर भी परिणामवाद सिद्ध करने का प्रयास सांख्य करते हैं, किन्तु जब संपूर्ण भूतों में एक परमेश्वर को वे मानते ही नहीं तो भला सांख्याभिमत परिणाम वाद का समर्थन कैसे हो सकेगा ? इसके विपरीत गीता में अनेक श्लोक स्पष्टरूप से विवर्तवाद का समर्थन कर रहे हैं। यथा—

'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

(गीता ९।४-५)

मुझ अव्यक्त से यह संपूर्ण संसार व्याप्त है। सभी प्राणी रस्सी में सर्प की भाँति मुझमें स्थित हैं, किन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। सत्य बात तो यह है कि ये भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं, मेरे ऐश्वर्य योग को तो देखो। भूतों का भर्ता होताहुआ अर्थात् सभी में सत्ता, स्फूर्ति प्रदान करता हुआ भी मैं असंग एवं उदासीन होने के कारण उनमें स्थित नहीं हूँ। मेरा स्वरूप भूतभावन अवश्य है, किन्तु संसार कल्पित होने के कारण अधिष्ठान एवं अध्यस्त भाव से समझना चाहिये। रज्जु-सर्प का दृष्टान्त लेकर ही उक्त श्लोकों का भाव समझा जा सकता है। जैसे रस्सी का सामान्य इदम् अंश सर्प, जलधारा भूरेखादि में व्याप्त है। इसलिये वे सर्पादि अपने आधारभूत रस्सी के आश्रित ही तो हैं। अधिष्ठान को छोड़ कल्पित सर्प का आधार कोई नहीं हो सकता। इसीलिये रस्सी में सर्प है, यह कहना तो ठीक है, किन्तु सर्प में रस्सी है, यह कहना गलत माना जायगा। कदाचित् अधिष्ठान तथा अध्यस्त भाव को भूलकर कल्पित सर्प एवं उसके अधिष्ठान रज्जु में अन्य प्रकार में आधार-आधेय भाव न मान लेना चाहिये। इन उदाहरणों को लेकर भगवान् कृष्ण कह रहे हैं कि मन वाणी का अविषय होने के कारण, मैं अव्यक्त स्वरूप हूँ और मैं ही संपूर्ण संसार का अधिष्ठान हूँ। संसार मुझमें कल्पित है। कल्पित वस्तु में अधिष्ठान व्याप्त हुआ करता है। इसीलिये मुझ अव्यक्तमूर्ति से यह संपूर्ण संसार व्याप्त है। पर पारमार्थिक सत्य होने के कारण मेरे आधार तो भूत नहीं हो सकते हैं। हाँ, मुझ अधिष्ठान के आश्रित कल्पित भूतसमुदाय रह सकते हैं। वस्तुतस्तु परमात्मा का यह ऐश्वर्य ही है। जब संसार की तीनों काल में सत्ता नहीं है, तो भला संसार मुझमें कैसे रह सकेगा ? यह तो जिसे संसार दीखता है, उसकी

दृष्टि से कह दिया गया है, कि भूतसमुदाय मेरे आश्रित है। परमार्थ दृष्टि से तो अजातवाद ही ठीक है। अन्यत्र भी गीता में कहा है कि—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥'

(गीता ७।७)

हे अर्जुन ! मुझसे भिन्न किञ्चित् मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। मुझमें संपूर्ण संसार वैसे ही ओतप्रोत है, जैसे धागे के बने हुए मणियों की माला में मणिकायें सूत्र रूप से ओतप्रोत रहती हैं।

'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।'

यह सब कुछ वासुदेव ही है, ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। इस वाक्य से भी सच्चिदानन्द ब्रह्म का विवर्त संसार को बतलाया गया है। अन्यथा सांख्यशास्त्र की दृष्टि से दीखने वाले सभी जड़-चेतन पदार्थ वासुदेव कैसे हो सकेंगे। इस प्रकार परिणामवाद के समर्थक श्लोकों का वास्तविक तात्पर्य दिखलाते हुये अनेक वाक्यों से शांकर अद्वैत सिद्धान्त सम्मत मायावाद अर्थात् विवर्तवाद का समर्थन किया गया। जिसे 'पूर्णमदः' यह शान्ति मन्त्र बतला रहा है।

सत्रहवाँ दिन : आज विश्वविख्यात रामचरित मानस के आधार पर भी इस शान्ति मन्त्र से कहे गये विवर्तवाद का समर्थन किया जाता है। मानस के मंगलाचरण में ही गोस्वामीजी ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है।

'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥'

जिस परमेश्वर की माया के अधीन संपूर्ण संसार है, जिसमें ब्रह्मादिदेव दानव, मानव सभी आ जाते हैं। यह है तो मिथ्या, किन्तु जिस ब्रह्म की सत्ता से वैसे ही सत्य प्रतीत होते हैं, जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम। संसार समुद्र से पार होने वालों के लिये जिनका पदकमल ही एकमात्र नौका है। ऐसे अशेष कारणों से परे उस राम जगदीश्वर हरि की मैं वन्दना करता हूँ।

यहाँ पर रज्जुसर्प के दृष्टान्त से एवं परमात्मा की सत्ता से जगत् की सत्ता के प्रतिपादन द्वारा यह स्पष्ट हो चुका है कि संपूर्ण विश्व उस परमेश्वर का विवर्त है, परिणाम या आरम्भ नहीं है। राम तत्त्व के विषय में प्रश्न करने पर पार्वती से भगवान् शंकर ने कहा है—हे पार्वती !

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥
रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥११७॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई।
जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौं सपनें सिर काटै कोई।
बिनु जागें दुख दूरि न होई।

माया एवं उसके कार्य असत्य हैं, फिर भी अज्ञान के कारण परमात्मा की सत्ता को लेकर ही वे सत्य से प्रतीत होते हैं।

जैसे सीप में रजत एवं मरुभूमि में मृगतृष्णा मिथ्या तीनों काल में न होते हुये भी दीखते हैं और अधिष्ठान ज्ञान के बिना इस भ्रम को टालने में कोई समर्थ नहीं है। इसी प्रकार (शुक्ति रजत की भाँति) संपूर्ण संसार परमात्मा राम में कल्पित है, यह असत्य है। फिर भी दुःख तो देता ही है। स्वप्न में शिर कटने से होने वाला दुःख तब तक दूर नहीं हो सकता, जब तक वह स्वयं जग नहीं जाता। इन वाक्यों से भी यही सिद्ध हो रहा है, कि संसार शुक्ति में रजत की भाँति परमात्मा में कल्पित है। मानस के नारद मोह प्रसंग में बतलाया गया है कि नारदजी के हृदय में अज्ञानजन्य अहंकारांकुर को देख भगवान् विष्णु ने संकल्प किया कि मैं नारद के इस अनर्थकारक अहंकार को शीघ्र ही उखाड़ डालूँगा, क्योंकि सेवक का हित करना मेरा काम है। महात्मा नारद का हित होगा पर मेरी तो लीलामात्र होगी।

"श्रीपति तब निज माया प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी।

बिरचेउ मग महुँ नगर तेंहि, सत जोजन विस्तार।
श्रीनिवासपुर तें अधिक, रचना बिबिध प्रकार॥

(१२९ बालकाण्ड)

बसहिं नगर सुंदर नर नारी। जनु बहु मनसिज रति तनुधारी।
तेंहि पुर बसइ सीलनिधि राजा। अगनित हय गय सेन समाजा।
सत सुरेस सम विभव बिलासा। रूप तेज बल नीति निवासा।
बिस्व मोहनी तासु कुमारी। श्री बिमोह जिसु रूपु निहारी।
सोइ हरिमाया सब गुन खानी। सोभा तासु कि जाइ बखानी।
करइ स्वयंबर सो नृपबाला। आए तहँ अगणित महिपाला।"

नारदजी के चले जाने के बाद भगवान् विष्णु ने अपनी माया को प्रेरणा दी, जिसकी करनी अत्यन्त कठिन मानी गयी है। जिस रास्ते से नारदजी जा रहे थे उसी मार्ग में आगे चलकर सौ योजन विस्तार वाला एक नगर माया ने बना डाला, जो बैकुण्ठ से भी अधिक सुन्दर प्रतीत होता था और जिसकी अनेक प्रकार की रचनाएँ थीं। जिस नगर में नर नारी ऐसे प्रतीत होते थे, मानो साक्षात् कामदेव और रति ही शरीर धारण कर आये हों। वहाँ शीलनिधि राजा था। उसके हाथी, घोड़े सेनाओं की गिनती करन ाकठिन था। जिसके वैभव, विलास, रूप तेज बल एवं नीति सैकड़ों इन्द्र के वैभव के समान थे। विश्व को मोहित करने वाली उसकी कन्या थी, जिसे देख लक्ष्मी भी मोहित हो जाती थी। भगवान् की माया सम्पूर्ण गुणों की खानि है, भला उसकी शोभा का वर्णन कौन करे? उस राजा की कन्या का विवाह हो रहा था, जिसमें अनेक राजे महाराजे आये हुए थे। इस प्रसंग से मायावाद का स्पष्ट समर्थन हो रहा है। नारदजी जैसे भक्त, ज्ञानी एवं तपस्वी उस राजकन्या को देख उसके साथ विवाह के लिए व्याकुल हो उठे। वे लज्जा और संकोच को छोड़कर अपने आराध्यदेव भगवान् से ही प्रार्थना करने लगे कि प्रभो! आप अपना रूप दो, तभी वह कन्या मुझे वरण कर सकती है। नारदजी की दीनता और गिड़गिड़ाहट देख अपनी माया का सामर्थ्य देख भगवान् मन ही मन हँसने लगे। नारद जी! जैसे आपका परम हित होगा, वही मैं करूँगा। मेरी बात मिथ्या नहीं होगी। यह याद रखो, रोगी रोग से व्याकुल हो कुपथ्य माँगता है। पर वैद्य उसे नहीं देता। हे योगी मुनि! ऐसे ही तुम्हारा मैं हित करूँगा। इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। क्षणमात्र में भगवान् का प्रकट होना अन्तर्धान

होना मायावाद का ही परिचायक है। यद्यपि भगवान् ने स्पष्ट कह दिया था फिर भी—

"माया विवश भए मुनि मूढा। समुझी नहिं हरि गिरा निगूढ़ा।।"

माया के वशीभूत हो नारद ऐसे विवेकशून्य हो गये थे कि भगवान् की स्पष्ट गूढ़ बात को समझ नहीं सके। देवर्षि नारद स्वयंवर में गये। वे इस बात से अत्यन्त प्रसन्न थे कि बस देखने की देर है, राज कन्या मेरे गले में तो माला डाल ही देगी। परकृपानिधान भगवान् ने नारद के हित के लिए अत्यन्त कुरूप दे रखा था। इस भेद को भगवान् शंकर के दो गण जानते थे और इस बात को कोई नहीं जानता था। अन्य लोगों ने तो उन्हें नारद समझ कर प्रणाम किया। राजकन्या ने वानर का मुख भयंकर शरीर नारद को ज्यों ही देखा, त्यों ही उसके मन में बड़ा भारी क्रोध हो आया। नतीजा यह हुआ कि जिस ओर नारद जी फूलकर बैठे थे, उस ओर उसने भूलकर भी नहीं देखा। काम के वशीभूत हो नारद उछल-उछल कर देखते थे। शिव के गण हँसते थे। इतने में भगवान् विष्णु वहाँ आये और राजकन्या ने उनके गले में माला डाली। शंकर के गणों को हँसते हुए देख नारद जी ने उन्हें शाप दिया। जल में अपना भयंकर रूप देख अत्यन्त क्रुद्ध हो भगवान् को शाप देने चल दिये। रास्ते में ही उसी विवाहिता नववधू और लक्ष्मी को साथ लिये हुए भगवान् विष्णु मिले और नारद ने उन्हें शाप दिया। भगवान् ने उसे स्वीकार कर लिया तथा माया की प्रबलता को भी खींच लिया।

"जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी"

भगवान् विष्णु ने ज्यों ही माया को समेटा, त्यों ही न तो वहाँ लक्ष्मी थी और न राजकन्या ही। "एकमेवाद्वितीयं" के रूप में ही वे दिखाई पड़े। नारद जी अत्यन्त भयभीत हो भगवान् के चरण पकड़े। हे कृपालु! मेरा शाप व्यर्थ हो जावे। मैंने जो बहुतेरे दुर्वचन कहे हैं यह मेरा पाप कैसे मिट सकेगा? भगवान् ने नारद जी के हृदय में पूर्ण शान्ति प्रदान करने के लिए उन्हें शंकर शतनाम का जप बतलाया। अनेक प्रकार से उन्हें आश्वासन देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। ऐसे अनेक प्रसंग मानस में हैं, जिससे विवर्तवाद एवं मायावाद की सिद्धि स्पष्ट रूप में होती है।

माता कौसल्या के सामने शंख-चक्र-गदादि लेकर खड़े होना और उनकी प्रार्थना से शिशु रूप धारण कर लेना मायावाद के ही समर्थक हैं। माता कौशल्या के सामने अपना अद्‌भुत, अखण्ड विराटरूप बतलाया, जिसके एक-एक रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड लटक रहे थे। जिसके सामने माया भी भयभीत हो हाथ जोड़े, विग्रहधारिणी बनकर खड़ी थी। कौशल्या के शरीर में रोंगटे खड़े हो गये। मुख से शब्द नहीं निकलते। नेत्र बन्द हो गये और वह विराट्‌रूप राम के चरणों में पड़ गयी। माता की इस स्थिति को देखकर भगवान् ने शीघ्र ही छोटारूप धारण कर लिया। राम ने कौशल्या को अनेक प्रकार से समझाते हुए कहा कि आप इस रहस्य को किसी के सामने न खोलें। उसके बाद कौसल्या माता ने हाथ जोड़कर कहा कि प्रभो! अब मुझे आपकी माया न व्यापे। यह प्रसंग भी स्पष्ट मायावाद का प्रतिपादन कर रहा है। भगवान् की सारी लीलाएँ अलौकिक दिव्य माया की आड़ में ही होती हैं। सुतीक्ष्ण

ऋषि ने अपनी प्रार्थना में भगवान् की दिव्य महिमा का वर्णन किया है यथा—

"ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया।।
जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना।।
ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भयँ डरत सदा सोउ काला।।'
(अरण्यकाण्ड १३)

हे भगवान् ! आपकी माया विशाल उदुम्बर वृक्ष के समान है, जिसमें अनेक ब्रह्माण्ड समूह फल के समान लगे हुए हैं। ब्रह्माण्ड के भीतर चराचर जीव औदुम्बर फल के भीतर रहने वाले जन्तु के समान हैं, जिन्हें बाहर की आपकी विशाल माया का कोई पता नहीं है। इस ब्रह्माण्डरूप फल का भक्षण करने वाला कराल दुर्दान्त काल भी आपके भय से डरता है "मृत्युर्धावति पञ्चमः" "मृत्युर्यस्योपसेचनम्" इत्यादि श्रुतियाँ भी यही बतला रही हैं। इस प्रसंग से भी मायावाद का ही समर्थन हो रहा है। खरदूषण को मारते समय भगवान् राम ने उन चौदह हजार निशाचरों को परस्पर राम रूप दिखलाकर क्षणमात्र में समाप्त कर डाला, यथा—

'सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्यो।
देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मर्यो।।'
(अरण्यकाण्ड)

देवताओं एवं महात्माओं को भयभीत देख मायापति राम ने ऐसा कौतुक किया कि खरदूषण के सहित उसकी संपूर्ण सेना एक दूसरे को रामरूप देखते हुए परस्पर संग्राम करके मर गये।

यह प्रसंग भी मायावाद का समर्थक है। बाबाजी ने माया की प्रबलता का वर्णन करते हुए कहा है कि—

"जो माया सब जगहि नचावा।
जासु चरित लखि काहुँ न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा।
नाच नटी इव सहित समाजा॥
सोइ सच्चिदानन्द घन रामा।
अज विज्ञान रूप बल धामा॥"

(उत्तर काण्ड ७२)

जिस माया ने संसार की रचना कर क्षुद्र जीव से लेकर ब्रह्मा तक को नचा रखा है, जिसके चरित्र को आज तक कोई समझ नहीं पाया; हे गरुड़ जी! वही माया अपने समाज के सहित भगवान् के भ्रूविलास मात्र से नर्तकी के समान नाचती है। राम अजन्मा सच्चिदानन्द घन एवं विज्ञानरूप तथा बल के धाम हैं। उसी 'एकमेवाद्वितीयं' सच्चिदानन्दघन राम में माया जमनिया से ढके हुये हृदय वाले अभागे मतिमन्द प्राणी अपनी मूर्खता से संशय विपर्यय में पड़कर विषयों में पड़ते हैं और अपने अज्ञान का आरोप परमेश्वर के ऊपर करते हैं। सत्य है कि जिसकी आँख में पीलिया रोग होता है, वह चन्द्रमा को भी पीला देखता है। दिग्भ्रम से भ्रान्त व्यक्ति पश्चिम में सूर्योदय होता हुआ देखता है। नौका एवं गाड़ी में बैठा हुआ मनुष्य अपनी क्रिया का आरोप तटवर्ती वृक्षादि में करता है। इन सारे उदाहरणों से रामचरितमानस 'पूर्णमदः' इस शान्ति मन्त्र में प्रतिपादित वेदान्त सिद्धान्त का समर्थन करता है।

अठारवाँ दिन : इस शान्ति मन्त्र से केवल वेदान्त दर्शन के विवर्तवाद का ही समर्थन हो रहा है। भागवत इत्यादि पुराणों की अनेक आश्चर्यजनक घटनाएँ एवं कथानक इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रहे हैं। न समझने के कारण कुछ आधुनिक विद्वानों ने उसे गप मानकर छोड़ दिया। वे अपनी बेसमझी के कारण संहिता भाग वेद को छोड़कर ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद् भाग की प्रामाणिकता में सन्देह करने लग जाते हैं। सत्य बात तो यह है कि जिसे स्वयं परमात्मा करना चाहता है, उस काम के लिये उस सर्वसमर्थ प्रभु को किसी बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं है। यथा—

"विधीयते यद् यदुनन्दनेन नापेक्ष्यते तत्र सहायशक्तिः।
पाञ्चालबालाञ्चलदीर्घतायां न तत्र तन्तुर्न च तन्तुवायः॥"

कपड़ा बनाने में किस-किस सामग्री की आवश्यकता पड़ती है, इसे जुलाहा ही जानता है। वस्त्रों में कलर करना यह तो पृथक् काम हो जाता है किन्तु जिस काम को स्वयं आनन्दकन्द अखिल ब्रह्माण्ड निर्माता यदुनन्दन करता है, वहाँ उसे किसी भी सहायक की आवश्यकता नहीं होती। कौरवों की भरी सभा में दुष्ट दुःशासन से वस्त्र खींचे जाने पर अपनी लज्जा की रक्षा के लिये सभी ओर से निराश हुई सती पाञ्चालबाला द्रौपदी ने जब कृष्ण को पुकारा तो भला द्रौपदी के चीर बढ़ाने में रंग-बिरंगे वस्त्र वनाने में क्या भगवान् श्री कृष्ण को तन्तु, तन्तुवाय और रंगरेज की आवश्यकता पड़ी थी; अर्थात् नहीं। यह घटना स्पष्ट विवर्तवाद का समर्थन कर रही है। अतः इस मन्त्र से कथित विवर्तवाद का प्रतिपादन केवल अद्वैत वेदान्त में ही किया गया है; अन्यत्र नहीं। इस पर आप शंका कर सकते हैं

कि अन्य दर्शन के निर्माता सभी विवेकहीन थे क्या ? यदि कपिल, कणाद, गौतमादि ने श्रौत सिद्धान्त को नहीं समझा तो क्या हम लोग समझ सकेंगे; फिर तो हम सब ऐसे भ्रान्त दर्शन के रचयिता पर श्रद्धा क्यों करें ? इन सभी प्रश्नों का उत्तर यही है कि ये सभी दर्शन मिलकर एक ही वैदिक सनातन तत्त्व को बतलाते हैं। जैसे श्रुति के अवान्तर वाक्यों का तात्पर्य स्वार्थ प्रतिपादन में नहीं है, अपितु महावाक्य के अर्थावबोधन में ही अवान्तर श्रौतवाक्य का भी तात्पर्य है। ठीक ऐसे ही भारतीय सभी दर्शन साक्षात् या परम्परा से 'तत्त्वमसि' महा-वाक्यार्थावबोधन में ही तत्पर हैं। इसे आपके समक्ष मैं बतलाता हूँ। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र से धर्माधर्मरूप वेदार्थ के निर्णय के लिये प्रवृत्ति लक्षण मीमांसा दर्शन से धर्माधर्म के ज्ञानमात्र की आशा की जा सकती है न कि तत्त्वज्ञान की। इसीलिये आत्मा परमात्मा की चिन्ता इस दर्शन में नहीं की गयी है। नास्तिक बौद्ध दर्शन का तात्पर्य वैराग्य उत्पादन में ही है; तत्त्वबोधन में नहीं। अनैकान्तवाद जैन दर्शन सभी पदार्थों को अनिर्वचनीय रूप से बतला रहा है। इसका भी संसार से उपरति कराने में ही तात्पर्य है। देहात्मवादी चार्वाक दर्शन देह से भिन्न वस्तु में आत्मत्व का परित्याग कराते ही हैं। शेष न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग दर्शन तत्त्व पदार्थ को बतला रहे हैं, इसे आचार्य भगवत्पाद ने सदाचारानुसन्धान में कहा है कि—

'तार्किकाणां तु जीवेशौ वाच्यावेतौ विदुर्बुधाः।
लक्ष्यौ च सांख्ययोगाभ्यां वेदान्तैरैक्यता तयोः॥
कार्यकारणवाच्यांशौ जीवेशौ यो जहत्यतौ।
अजहच्च तयोर्लक्ष्यौ चिदंशावेकरूपिणौ॥'

(सदा० २६-२७)

न्याय एवं वैशेषिक शास्त्र ने वेदान्तशास्त्राभिमत जीवेश्वर के स्वरूप को जाना है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' एवं 'त्वं' पद के वाच्यार्थ मायाविशिष्ट चेतन और अन्तःकरण विशिष्ट चेतन हैं। इनमें मायाविशिष्ट चेतन 'तत्' पद का वाच्यार्थ है, वही संसार की सृष्टि, स्थिति एवं संहार का कारण है। इसी को तार्किकों ने भी ईश्वर समझा है। वैसे ही अन्तःकरणविशिष्ट चेतन महावाक्य के 'त्वं' पद का वाच्याथ है, जिसे वेदान्त ने भी कर्ता भोक्ता इत्यादि रूप से माना है। इसी को तार्किकों ने भी जीव समझा। इसलिये ये दोनों ही 'तत्त्वमसि' के वाच्यार्थ जीव और ईश्वर को बतला रहे हैं। सांख्यशास्त्र में 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुति के आधार पर आत्मा को कूटस्थ' निर्विकार एवं असंग माना गया है। वेदान्त ने 'त्वं' पद के वाच्यार्थ को वैसे ही तो बतलाया है। योगदर्शन ने ईश्वर को 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' ऐसा माना है। अर्थात्—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पञ्चक्लेशरहित ईश्वर है। पुण्य, पाप तथा मिश्रित कर्म का संबन्ध भी ईश्वर के साथ नहीं और न उनके फल से ही परमेश्वर सबद्ध होता है। वैसे ही शुभाशुभ कर्मों के संस्कार से भी परमेश्वर अलिप्त है। अतः अविद्यादि क्लेश, पुण्यपापादि कर्म, उनके फल तथा तज्जन्य संस्कार से सर्वथा संबन्ध रहित, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव परमेश्वर को योग दर्शन ने बतलाया है। महावाक्य के लक्ष्यार्थ को हमारे वेदान्त शास्त्र में लगभग ऐसे ही बतलाया गया है। इसलिये वेदान्त शास्त्राभिमत 'सत्' पद के लक्ष्यार्थ परमात्मा को ही योगदर्शन बतला रहा है। इसपर आप कह सकते हैं कि तब तो वेदान्त शास्त्र पढ़े बिना भी 'तत्' एवं 'त्वं' पद के वाच्यर्थ और लक्ष्यार्थ का

अन्य दर्शनों से जब बोध हो गया तो फिर वेदान्त श्रवण करने की क्या आवश्यकता ? उत्तर यह है कि इन दोनों के भिन्न-भिन्न वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ जानने के बाद भी दोनों के अभेद ज्ञान के बिना आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' 'यदुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' द्वैत दर्शन से निश्चय ही भय होता है; जीवात्मा परमात्मा में थोड़ा भी भेद देखेगा तो उसे अवश्य जन्म-मरण का सामना करना पड़ेगा इत्यादि श्रुति में द्वैतदर्शन भेद का कारण है यह स्पष्ट बतलाया गया है। इसी कमी की पूर्ति वेदान्तदर्शन से की गयी है। 'तत्-त्वं' पदार्थ का अभेद बोधन करना वेदान्त का काम है। इसलिये 'तत्त्वं' पद के वाच्यार्थ जीव और ईश्वर की उपाधि अन्तःकरण तथा माया का त्याग लक्षणा से कर दोनों के लक्ष्यार्थ स्वरूप का अभेद साक्षात्कार कर साधक कृतकृत्य हो जाता है। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' अभेददर्शी को क्या मोह और क्या शोक ? हे जनक ! निश्चय ही तुम अभय को प्राप्त हो चुके हो' श्रुति का तात्पर्य वेदान्तदर्शन से ही जाना जा सकता है। यद्यपि अन्य दर्शन भी उक्त प्रकार से श्रुति के किसी अंश को तो बतला रहे हैं, फिर भी एक अंश की उपासना एवं चिन्तन से जीवात्मा में कृतकृत्यता नहीं आ सकती है। इसे छान्दोग्य श्रुति के प्रथमाध्याय ग्यारहवें खण्ड में उषस्ति चाक्रायण नामक ऋषि यज्ञ के बड़े-बड़े ऋत्विज व्यस्त उपासना करने वालों की निन्दा कर समस्त उपासना का विधान बतला रहे हैं। वेदान्त-दर्शन के समन्वयपाद को न जानने के कारण ही राम, कृष्ण एवं शंकर इत्यादि की उपासना करने वाले एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वे यह नहीं

समझते कि ऐसा करके वे अपने आराध्य देव की ही निन्दा करते हैं। दक्षिण भारत में शैव एवं वैष्णव का मतभेद अत्यन्त खेद का विषय है, किन्तु प्रसन्नता की बात है कि आपस में उत्तर भारत के अन्दर उस प्रकार परस्पर मतभेद नहीं है। इसमें गोस्वामी तुलसीदासजी की रामायण की विशेष देन मानी जायगी। उन्होंने विषमता दूर की। सनातन धर्म के परस्पर मतभेद को देख एक दृष्टान्त स्मरण हो आया है। एक वैरागी सन्त थे, उनके रामदास और श्यामदास नाम के दो शिष्य थे। वे दोनों महात्मा के दोनों चरणों की सेवा बाँटकर किया करते थे; एक दाहिने पैर की, दूसरा बायें पैर की। एक बार महात्मा अपने आसन पर आराम से लेटे हुये थे। दोनों शिष्य अपने विभाग के पैर की सेवा करते थे। महात्मा ने स्वभाव से करवट ली तो बायें पैर के ऊपर दाहिना पैर पड़ा। बस क्या कहना था कि बायें पैर वाले शिष्य को क्रोध आया और कहा तुमने अपने बाँटे के पैर को दाँए पैर पर क्यों आने दिया। मैं तुम्हारे इस कृत्य को बरदाश्त नहीं कर सकता। पहले तो उसने दाहिने पैर की घूसों से पूजा की। दूसरे ने भी वैसा ही किया तो फिर बायें पैर के सेवक का क्रोध और भी बिगड़ गया। उसने पास में पड़ी हुई सोटी उठा ली और दाहिने पैर को खूब पीटा। दाहिने पैर के भक्त को भी बेहद क्रोध आ गया। वह धूनी पर से चिमटा उठा लाया और बाबाजी के बाँए पैर की खूब खबर ली। बेचारे सन्त मना ही करते रह गये। अरे! तुम क्या मूर्खता कर रहे हो। किन्तु कोई सुनने वाला नहीं था। बेचारे सन्त के पैर रक्त से लथपथ हो गये और सूज गये। प्रातःकाल आश्रम आये हुये भक्तों ने इन दोनों की मूर्खता पर अत्यन्त खेद व्यक्त किया। आज समाज में लगभग ऐसा ही देखा जा रहा

है। परमेश्वर अनन्त हैं, उनके नाम-रूप अनन्त हैं। अपनी श्रद्धा और भक्ति से अनुसार सच्चे दिल से किसी की भी उपासना की जा सकती है, फल तो सच्चिदानन्द परमात्मा ही देता है। गीता में कहा है कि—

"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥"
(गीता ७-२१)

हे अर्जुन ! जो-जो भक्त श्रद्धापूर्वक जिस-जिस रूप की पूजा उपासना करना चाहता है, सभी रूपों में विद्यमान् परमेश्वर मैं फल देकर उस-उस भक्त की उसी रूप में निश्चल श्रद्धा बना देता हूँ। अतः परस्पर मतभेद का परित्याग कर अपनी श्रद्धा के अनुसार परमेश्वर के किसी भी स्वरूप का चिन्तन मनन करें और उस परमात्मा के अन्य रूप की निन्दा न करें। यह वेदान्त शास्त्र की समन्वयात्मक दृष्टि है। इसी दृष्टि से बहुत दूर हटे न्याय, वैशेषिक, मीमांसक, सांख्य, योग यहाँ तक कि नास्तिक छः दर्शनों को भी सिद्धान्त का पोषक मानकर "पूर्णमदः" इस शान्ति मन्त्र के तात्पर्य को आपके सामने रखता हूँ। शेष कल बताऊँगा।

उन्नीसवाँ दिन : पर और अपर भेद से परमात्मा के दो रूप हैं। उनमें मायोपाधिक अपररूप है और माया से रहित पररूप है। इसी को कहीं-कहीं पर क्षर और अक्षर तथा सगुण-निर्गुण शब्द से भी कहा गया है। वेदान्त के ऊपर भगवान् शंकराचार्यजी के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी भाष्य

लिखा है, जिनमें परमात्मा के सगुण एवं निर्गुण रूप बतलाते समय आचार्य भगवत्पाद के सिद्धान्तों से भिन्न ही बात कही है। जहाँ भगवान् शंकराचार्य निर्गुण ब्रह्म को पारमार्थिक और सगुण ब्रह्म को मायोपाधिक मानते हैं, वहाँ पर अन्य आचार्यों ने सगुण ब्रह्म को ही पारमार्थिक माना है और निर्गुण को सगुण के अधीन बतलाया है। उनका कहना है कि जैसे सूर्य एक देश विशेष में रहता हुआ अपने प्रकाश से संपूर्ण ब्रह्माण्ड का अन्धकार नष्ट कर डालता है। यहाँ पर सूर्य का अपना रूप देश-विदेश में रहने वाला एक दिव्य तेज विशेष ही है। सम्पूर्ण संसार में जो उसका प्रकाश दीखता है, वह तो उस सूर्य के ही अधीन है। ठीक ऐसे ही देश विशेष में परमेश्वर सगुण साकार रूप से विद्यमान् है और उसका प्रकाश सूर्य प्रकाश के समान अनेक ब्रह्माण्ड में फैला हुआ है जो प्रकाश उस परमेश्वर के ही अधीन है। अतः सगुण साकार देश विशेष में विद्यमान् परमेश्वर का स्वरूप ही पर है और उसके अधीन अनन्त ब्रह्माण्ड में सूर्य प्रकाश के समान व्याप्तरूप अपर ब्रह्म है। इस दृष्टान्त से पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म के स्वरूप में भगवत्पाद के सिद्धान्त की अपेक्षा विलक्षण वात कहते हैं। हम आपके समक्ष न केवल उपनिषदों के आधार पर अपितु श्रीमद्भागवत और रामचरितमानस के आधार पर भी बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि उक्त कल्पना कहाँ तक यथार्थ है।

यह तो निर्विवाद है कि मायोपाधि से रहित निर्गुण निराकार परमेश्वर से संसार सृष्टि, पालन और संहारादि क्रिया नहीं होती है, किन्तु सगुण ब्रह्म से होती है। अर्थात् परब्रह्म से संसार की सृष्टि इत्यादिक क्रिया नहीं होती किन्तु अपरब्रह्म

से होती है, फिर भला पर और अपरब्रह्म के स्वरूप में भेद करके इन्होंने क्या लाभ उठाया ? श्रुति में जहाँ कहीं सृष्टि का प्रसंग आता है, वहाँ मायोपाधिक परमेश्वर से ही जगत् रचना इत्यादिक बतलायी, न कि निर्गुण ब्रह्म से। इतना ही नहीं; परमेश्वर अपने भक्तों की प्रार्थना के अनुसार रूप धारण कर जो लीला करता है, वह भी माया को अधीन कर अपनी दिव्य विभूति के द्वारा ही करता है। यथा—

'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥'
(गीता ४।६)

अजर, अमर भूतों का ईश्वर होता हुआ भी मैं अपनी प्रकृति को अधीन कर अपनी माया से उत्पन्न होता हूँ। इससे सगुण साकार रूप मायोपाधिक है, यह बात स्पष्ट है। संसार की सृष्टि के लिये माया का आश्रय उस परमेश्वर को लेना ही पड़ता है, यथा—

'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥'
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥
(गीता १४।३-४)

'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥'
(गीता ७।६)

संसार की उत्पत्ति का कारण महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है। उसमें सभी प्राणियों के पूर्वकल्पकृत संस्कार रूप गर्भ का आधान मैं करता हूँ। हे अर्जुन ! तब उनकी उत्पत्ति होती है। हे कौन्तेय ! सभी योनियों में जो मूर्तियाँ, (शरीर) उत्पन्न होती हैं, उनकी योनि महद्ब्रह्म है और मैं बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ। अष्टधा अपरा प्रकृति और जीव रूप परा प्रकृति ही सम्पूर्ण भूतों की योनि है ऐसा समझो और मैं सम्पूर्ण संसार का प्रभव और प्रलय हूँ। गीता के उक्त वाक्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि मायोपाधिक ब्रह्म संसार की सृष्टि, पालन और संहार करता है, न कि निर्गुण ब्रह्म। फिर भी मेरी दृष्टि से 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इस शान्ति मन्त्र के द्वारा ऐसा ही प्रतीत होता है कि परमेश्वर के दोनों ही रूप पूर्ण हैं। इनमें किसी की अपूर्णता की कल्पना ठीक नहीं है। उसी बात का प्रतिपादन इस मन्त्र से भी किया गया है। परमात्मा के निर्गुण निराकार रूप में जितना सन्देह नहीं होता, उससे कहीं अधिक सगुण साकार रूप में हुआ करता है। बड़े-बड़े आस्तिक, तत्त्ववेत्ता एवं भक्तों को भी अनेक बार सगुण साकार ब्रह्म के विषय में सन्देह देखा गया है। इसीलिये गोस्वामी जी ने कहा है कि—

> "निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जाने कोइ।
> सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥"
>
> (उत्तरकाण्ड ७३ ख)

परमात्मा का निर्गुण रूप समझना सुलभ ही नहीं अपितु अत्यन्त सुलभ है, किन्तु सगुण रूप को जानना किसी के बस की बात नहीं। परमेश्वर के सुगम और अगम चरित्र को देख एवं सुनकर मुनियों के मन में भी भ्रम हो जाया करता है।

बीसवाँ दिन : आज मैं पुनः पर एवं अपर ब्रह्म की चर्चा करते हुए इस बात को बतलाना चाहता हूँ कि 'पूर्णमदः' इस मन्त्र से प्रतिपादित विवर्तवाद अर्थात् मायावाद एवं आनन्दवाद का समर्थन राम एवं कृष्ण की सम्पूर्ण जीवन शिक्षा से मिलता है। भागवत एवं रामायण में वर्णन की गयी घटना सत्य है और इस पावन भारत भूमि में राम तथा कृष्ण का आविर्भाव हुआ है। अतः इन्हें परमात्मा मानने में लेशमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता है। राम और कृष्ण को भगवान् न मानना, ऐसे विचारवाले अर्धजरतीय न्याय का अनुकरण कर रहे हैं क्योंकि जिस भागवत और रामायण से उनका होना सिद्ध होता है। उन्हीं से उनके ऐश्वर्य की सिद्धि भी निर्विवाद है। साथ ही उन्हें भी मैं सावधान कर देना चाहता हूँ, जो अवतारों के संबन्ध में भी गलत भ्रान्तियाँ लिये बैठे हैं। "राम ठीक है, कृष्ण नहीं और कृष्ण ठीक है, राम नहीं," इस प्रकार का परस्पर विरोधी विचार सनातनधर्म को उपहासास्पद एवं कलंकित बनाता रहा है। अतः आज इन मतभेदों को छोड़कर विधर्मियों के प्रचार से प्रतिदिन घटते हुए सनातनधर्म की रक्षा हम सब मिलकर करें। निर्गुण-निराकार ब्रह्म, अपनी अनन्त शक्ति विशिष्ट माया का आश्रय लेकर जैसे अनन्त ब्रह्माण्ड की रचना करता है, वैसे ही इसकी रक्षा के लिये भी भक्तों के आग्रह के अनुसार राम-कृष्णादि अनेक रूपों में अवतरित हो लीला करता है। यही तो उसकी पूर्णता है, अन्यथा उसकी पूर्णता नहीं मानी जाती। अद्वैतवाद की छाया में आकर सम्पूर्ण शंकाओं का समाधान कर लेना आप जिज्ञासुओं का कर्तव्य हो जाता है। माया से परमेश्वर राम-कृष्णादि रूप में अवतार धारण कर भी वह पूर्ण है। इस विषय में पहले भी बतला चुका हूँ और आज

भी बतला रहा हूँ। श्रीमद्भागवत में राजा परीक्षित ने शुकदेवजी से पूछा कि भगवन्! अब मैं यदुकुल में अवतरित विश्वात्मा भूतभावन भगवान् का चरित्र विस्तार से सुनना चाहता हूँ। जो हमारे कुलदेव हैं, जिनका आश्रय लेकर भीष्म, द्रोण इत्यादिक बड़े-बड़े मगरमच्छों से परिपूर्ण दुर्गम महाभारत में समुद्र के समान कौरव सेना को हमारे पूर्वज बछड़े की खुरी के समान अनायास ही पार कर गये। इतना ही नहीं; कुरु एवं पाण्डव की सन्तति के बीज यह मेरा शरीर अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से माता उत्तरा के गर्भ में जल चुका था, उसे चक्र-सुदर्शन लेकर जिन्होंने पाला है। उन्हीं का चरित्र सुनना चाहता हूँ। परीक्षित ने कहा कि—

"वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।

प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्॥"

(भा० १०।१।७)

हे विद्वन्! जो सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप से बाहर नाम-रूपात्मक जगद्रूप से विद्यमान है, जो देहस्थ चिदानन्द में प्रेम करने वाले को पुरुष रूप से अमरत्व प्रदान करता है और बाहर के नाम-रूप में प्रेम करने वालों को मृत्यु प्रदान करता है, उसी अपनी माया से मनुष्य शरीर धारण किये हुए श्रीकृष्ण के चरित्र को आप सुनावें। मानस में किष्किन्धाकाण्ड के मंगलाचरण में गोस्वामी तुलसीदास जी ने "मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ" इस वाक्य से भगवान् राम का माया से ही मनुष्य शरीर धारण करना बतलाया है। तत्पश्चात् पृथिवी एवं देवताओं की प्रार्थना से

प्रसन्न हो अनन्त कोटि-ब्रह्माण्ड नायक परमात्मा ने अवतार धारण करने का आश्वासन दिया। माता देवकी के गर्भ में विद्यमान् भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हुए ब्रह्मादि देवों ने कहा है कि—

त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं संनिधानं त्वमनुग्रहश्च।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ॥२८॥
बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ॥२९॥
(भा० १०।२)

इस संपूर्ण संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयस्वरूप एकमात्र परिपूर्ण अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप आप ही केवल आज भी हो किन्तु आपकी माया से आच्छादित अन्तःकरण वाले पुरुष आप ही को इस नाना जगत् रूप में देखते हैं, तत्त्वदर्शी नाना नहीं देखते, वे तो इस द्वैत में भी आपको ही देखते हैं। हे चिदानन्द प्रभो! आप चेतन आत्म-स्वरूप हैं और आप ही जड़-चेतन सम्पूर्ण लोक के कल्याण के लिये राम-कृष्णादि अनेक रूपों को धारण करते हैं। वे आपके सभी रूप विशुद्ध, दिव्य, सन्तों को सुख देने वाले एवं दुष्टों को बार-बार शूल देने वाले होते हैं। आपका यह सगुण रूप हम लोगों के समान भूतमय नहीं है किन्तु दिव्यमाया शक्ति से स्वेच्छामय शरीर है। फिर भी ऐसे दिव्य देह के निर्माण में आपकी इच्छा के साथ-साथ सज्जनों के अनेक जन्मोपार्जित सुकृत एवं दुष्टों के अनेक जन्मसंचित दुष्कृत भी निमित्त हैं। यही कारण है कि आपके इस दिव्यमय शरीर से सन्तों को सदा सुख ही मिलता है और

दुष्टों को क्रमशः पीड़ा ही मिलती है। आपके अवतारों के संबन्ध में जहाँ तक हमने समझा है, वह यही है कि—

'न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि ॥'
(भा० १०।२।३६)

हे प्रभो ! वस्तुतः आप अजन्मा हो, फिर भी आपका जन्म देखते एवं सुनते हैं। उसका कारण एक मात्र लीला करना ही है, ऐसा हमने समझा है क्योंकि अभयस्वरूप आप में ही आपकी अविद्यामाया से संसार का उद्भव, पालन और संहार किया करती है। जब ऐसे विशिष्ट कार्य के लिये भी आपको अवतार धारण करना नहीं पड़ता तो भला तुच्छातितुच्छ रावण एवं कंसादि को मारने के लिये अवतार धारण करना पड़े; यह कोई मुख्य कारण नहीं माना जायगा। किन्तु लीला करने के लिये अवतरित आप परमेश्वर का यह सब 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' के अनुसार प्रासंगिक है।

राम एवं कृष्ण के परमेश्वर होने में सन्देह या भ्रम में पड़े हुये लोगों को कहाँ तक समझाया जाय ? अवतारों को छोड़कर एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता कि किसी के घर में पीताम्बर पहरे, शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये, किरीट, मुकुट एवं नाना आभूषणों से अलंकृत बालक हुआ हो। जन्म लेने वाले बालक को सदा जेर से लिपटे हुये ही देखा होगा, किन्तु राम कृष्ण के संबन्ध में जो भागवतादि में बातें सुनी जाती हैं वह यह है कि—

"निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः।।
तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्।।"
(भा० १०।३।८-९)

निविड अन्धकार मय अर्धरात्रि में भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। देवरूपा देवकी के समक्ष सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित भगवान् वैसे ही प्रगट हुये जैसे पूर्णिमा के दिन कला से पूर्ण चन्द्र प्रगट होता है। वह बालक अद्भुत था। जिसके कमल के समान नेत्र एवं चार भुजाएँ हैं, जिनमें शङ्ख, चक्र,गदा, पद्म धारण किये हैं, हृदय में श्रीवत्स के चिन्ह हैं, गले में कौस्तुभ माला सुशोभित है, पीताम्बर धारण किये हुए श्याम बादल के समान जिनका शरीर है। बहुमूल्य वैढूर्य मणि के किरीट एवं कुण्डल की किरणों से जिनके शिर से घुंघराले बाल चमक रहे हैं। ऐसे अनेक अलंकारों से युक्त भगवान् को वसुदेव ने देखा। भला इस पर विचार करके देखो कि ऐसा बालक किसी के घर में जन्म लेता हुआ देखा या सुना गया है? स्मरण रहे भगवान् का अवतार बालक रूप में हुआ है। शिशुरूप तो उन्होंने वसुदेव और देवकी की प्रार्थना स्वीकार कर धारण किया। अतः बालक शब्द का अर्थ दुधमुँहा बच्चा न करें। मानस में राम को भगवान् न मानने वाले को न जाने कितनी गालियाँ दी गयी हैं तत्पश्चात् सगुण और निर्गुण ब्रह्म का जो रूप उन्होंने बतलाया; उससे सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है।

'सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।।

अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे।
जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥'

सगुण और निर्गुण ब्रह्म में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। इसे वेद, पुराण और अनुभवी पुरुष कहते हैं। जो निर्गुण, निराकार, अजन्मा और मन वाणी का अविषय है वही भक्तों के प्रेम के वशीभूत हो सगुण हो जाता है। निर्गुण सगुण कैसे हो जाता है; जैसे जल, बर्फ ओले एक ही हैं, वैसे ही निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म एक ही है, भिन्न नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि भक्तों के प्रेम से यह देह धारण करता है; अन्यथा वह निर्गुण निराकाररूप में ही रहता है। भगवान् राम ने स्वयं अपने मुख से शरद् ऋतु का वर्णन करते हुए निर्गुण, सगुण ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट किया है।

'फूले कमल सोह सर कैसे। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसे॥'

हे लक्ष्मण ! यह देखो, कमल खिलने के पहले दीखता नहीं था, पर खिलने के बाद वह कमल दीखने लग गया, इतना ही नहीं बल्कि तालाब की शोभा अनुपम हो गयी है मानो निर्गुण ब्रह्म सगुण हो सबको दर्शन देकर कृतार्थ करते हुए अलौकिक शोभा पा रहा हो। यहाँ भी निर्गुण ही सगुण होता है ऐसा कहा गया, न कि सगुण निर्गुण होता है—कहा गया। मैं तो निर्गुण निराकार ब्रह्म की अपेक्षा सगुण साकार ब्रह्म को उपासना के लिये अत्यन्त उपयुक्त मानता हूँ। अपनी मनवाणी का निरोध कर समाधि अवस्था में परमानन्द अनुभव करने

वाले तत्त्वदर्शी के सामने भी राम, कृष्ण एवं शंकर आदि का स्वरूप आ जाने पर उसका मन सगुण साकार रूप में समाधि सुख की अपेक्षा अधिकाधिक आनन्द का अनुभव करने लग जाता है। इसे मैं एक दो दृष्टान्त से स्पष्ट करूँगा। वेद, उपनिषद् से लेकर पुराणेतिहास पर्यन्त सभी ने एक स्वर से राजा जनक को महान् ब्रह्मज्ञानी बतलाया है। किन्तु जब वे रामरूप को देखते हैं तो उनकी क्या स्थिति होती है ? इसे आप मानस की पंक्तियों से जान सकते हैं। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण धनुष यज्ञ देखने जब जनकपुर गये तो समाचार मिलते ही राजा जनक विश्वामित्रजी से मिलने के लिये गये। कुशल क्षेम के बाद ज्यों ही जनक विश्वामित्र के पास बैठे, त्यों ही लक्ष्मण के सहित लोचन सुखद, विश्वचित्त-चोर राम आ गये। विश्वामित्र ने दोनों को पास में बैठा लिया। दोनों भाइयों को देख सभी के शरीर में रोमाञ्च हो आये और नेत्रों से आँसू छलछला आये। उस समय जनकजी की स्थिति बतलाते हुये मानसकार श्री गोस्वामी जी कहते हैं—

'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी ।।
प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर ।।

(बालकाण्ड २१५।।

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।
मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक ।।
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।
उभय बेष धरि की सोइ आवा ।।
सहज बिरागरूप मनु मोरा।
थकित होत जिमि चंद चकोरा ।।

तातें प्रभु पूछउँ सतिभाऊ।
कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

राम की मनोहर मधुर मूरति को देख विदेह राजा जनक पहले से भी अधिक विदेह हो गये। उस प्रेमानन्द में अपने मन को डूबते हुये देखकर राजा जनक ने विवेक से उसे रोका और मुनि के चरणों में प्रणाम कर गम्भीर गद्गद स्वर से कहने लगे कि हे नाथ ! ये दोनों बालक ऋषि कुमार हैं या किसी महा-राजा के लाडले हैं। अथवा वेद ने जिसे नेनि-नेति कहकर गाया है, वही दो वेष बनाकर तो नहीं आ गया ? स्वभाव से वैराग्य-युक्त मन इन्हें देखकर वैसे ही थकित हो रहा है जैसे चन्द्रमा को देख चकोर थकित हो रहा हो। इसलिये मैं आप से सत्यभाव से पूछ रहा हूँ आप छिपावें नहीं, अवश्य इस रहस्य को बतावें। इन्हें देख मेरे मन में अनुराग उत्पन्न हो आया है। बरबस मेरा मन समाधिजन्य ब्रह्मसुख को छोड़कर इन्हीं की ओर लग गया है। उत्तर में विश्वामित्र जी ने कहा है कि 'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्राणी' इत्यादि। इस प्रसंग में राजा जनक की स्थिति से यही बात सिद्ध होती है कि तत्त्व-दर्शियों को समाधि की अपेक्षा भी सगुण ब्रह्म के साक्षत्कार में अधिक आनन्द का अनुभव होता है। इसे आप एक मिसाल से समझें कि किसी अत्यन्त सूक्ष्म या दूरस्थ वस्तु को कोई केवल आँखों से देखना चाहे तो न केवल नेत्र पर जोर पड़ता है अपितु वस्तु स्पष्ट भी नहीं दीखती। पर जब खुदबीन से सूक्ष्म वस्तु को और दुर्बीन से दूरस्थ वस्तु को देखता है तो वह देखने वाला

पहले की अपेक्षा कष्ट का अनुभव तो नहीं करता, साथ ही स्पष्ट दीखने के कारण आनन्द का अनुभव करता है। यह भी स्मरण रहे कि नेत्रहीन व्यक्ति के लिये यन्त्र सहायक नहीं है अपितु नेत्र वाले के लिये सहायक है। ऐसे ही मन-वाणी के अविषय तत्त्व को जब कोई मन और इन्द्रियों को रोककर समाहितचित्त हो देखता है, तो उसे जितना आनन्द मिलता है, उससे कहीं अधिक आनन्द राम, कृष्ण अथवा शङ्कर के रूप में सगुण साकार को देखकर मिलता है, क्योंकि उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म सच्चिदानन्द ब्रह्म को देखने के लिए सगुण साकार रूप खुर्दबीन एवं दुर्बीन दोनों का ही काम करता है। पर तत्त्वज्ञान शून्य को नहीं, अपितु तत्त्वज्ञानी के लिये। इसीलिये तो इस मन्त्र में उस परब्रह्म को 'अदःपूर्णम्' शब्द से कहा और अपर ब्रह्म को 'इदं पूर्णम्' शब्द से कहा है। उसके लिये परोक्ष अर्थ का वाचक 'अदः' शब्द का और अपरोक्ष अर्थ के वाचक 'इदं' शब्द का प्रयोग अपर ब्रह्म के लिये किया गया है। पूर्णता तो दोनों में समान ही है। मधुसूदन सरस्वती ने कृष्ण के बालरूप का दर्शन करने के बाद स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि—

"ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा यन्निर्गुणं निष्क्रियम्।
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते॥
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयात् चिरम्।
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलमहो धावति॥"

अर्थात्—ध्यानाभ्यास से वश में किये हुये मन के द्वारा जिस निर्गुण, निष्क्रिय किसी परम ज्योति को योगी देखते हों, तो वे उसी को देखें; हम उन्हें वैसा करने से रोकते नहीं, किन्तु हमारे तो फिर से नेत्र को चमत्कृत करने वाला वही रूप

सामने आवे, जो किसी समय यमुना के तटों पर अत्यन्त सुन्दर श्यामले सलोने के रूप में दौड़ रहा था। अद्वैत दर्शन के पार-दर्शी, अद्वैतसिद्धि जैसे ग्रन्थ के निर्माता ब्रह्मदर्शी स्वामी मधु-सूदन सरस्वती ने जब अपने हृदय का उद्गार इस प्रकार व्यक्त किया है तो भला उस परमात्मा के अपर रूप सगुण सत्कार की उपेक्षा कोई वेदान्ती कैसे कर सकेगा ? हाँ, पर और अपर ब्रह्म के विपरीत अर्थ करने वालों को आज के प्रसङ्ग से मुहतोड़ उत्तर अवश्य मिल गया होगा इतने पर जिन्हें संतोष न हो, उन्हें कल के प्रसङ्ग में बतायेंगे।

ऐसा कहें—'बालानां=अज्ञानामपि, कं=सुखं यस्मात् तं बालकम' अर्थात् चिदानन्द आत्मा के साक्षात्कार के बाद तत्त्व-ज्ञानियों को परमानन्द का अनुभव होता है पर यहाँ के अवतार को देखकर जड़-चेतन सभी वस्तु में परमानन्द आने लग जाता है। इसीलिये उन्हें बालक कहा गया है। अन्यथा षोडश वर्ष से युक्त अपने ऐश्वर्य से युक्त ही आविर्भूत हुए को बालक कैसे कहा जायगा। अद्भुत शब्द का अर्थ होता, जहाँ कार्य-कारण तालमेल कुछ बैठता नहीं। हजार विचार करने के बाद भी समझ में नहीं आता तो उसे अद्भुत कह देते हैं। ऐसी स्थिति में राम एवं कृष्ण के ईश्वर होने में सन्देह करना या उन्हें परमेश्वर नहीं मानना अपनी बुद्धि का दिवालिया का ही परिचय देना होगा। इनकी अन्य लीलाओं से ऐश्वर्य की सिद्धि अग्रिम प्रसंग में की जायगी।

इक्कीसवाँ दिन : निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म सत्ता, ज्ञान एवं आनन्द तीनों की दृष्टि से पूर्ण है, फिर भी तत्त्ववेत्ता साधक एवं अन्य व्यक्ति के लिये भी सगुण-साकार ब्रह्म के दर्शन से

अधिक आनन्द का अनुभव होता है। इस विषय पर मैं आज भी भागवत एवं रामायण के आधार पर बतलाऊँगा। तत्त्व-ज्ञानियों को छोड़कर अन्य सभी व्यक्ति व्यापक परिपूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म से सत्ता एवं स्फूर्ति प्राप्त करते हुए भी आनन्द से तो बञ्चित ही रह जाते हैं। उन्हें तो अनुकूल विषय की प्राप्ति काल में अथवा सुषुप्ति में आनन्दाभास का ही अनुभव होता है। पूर्णानन्द का नहीं, किन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव में भी सगुण ब्रह्म के दर्शन मात्र से पूर्णानन्द का अनुभव उसे भी होने लग जाता है। मानस में श्रीराम ने कहा है कि—

"मम दर्शन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥"

मेरे दर्शन का एकमात्र अनुपम फल यही है कि जीव अपने सच्चिदानन्द सहज स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। तत्त्वज्ञानी निर्विकल्पक समाधि में जिस अखण्डानन्द का अनुभव करते हैं, वह आनन्द तो उन्हें सगुण ब्रह्म के दर्शन काल में बिना समाधि के प्राप्त हो जाता है। इसे मैंने राजा जनक के दृष्टान्त से पूर्व प्रसंग में बतलाया था। अज्ञानी एवं क्रूर तामस प्रकृति के व्यक्ति को भी सगुण साकार ब्रह्म के दर्शन मात्र से विलक्षण भाव उत्पन्न होता है, इसे अब कहते हैं। मानस में कहा है कि—

"जिनहि निरखि मग सांपिन बीछी।
तजहिं विषय विष तामस तीछी॥"

जिन्हें मार्ग में चलते हुए देख विषैले सर्प और बिच्छू भी अपने तीक्ष्ण तामस एवं जहरीले स्वभाव को छोड़ देते हैं। शूर्पनखा के नाक-कान कटने पर जब उसने खरदूषण के पास जाकर अपना दुःख कह सुनाया तो क्रोधातुर हो खरदूषण

१४ हजार सेना को ले नककटी बहन को आगे कर रामजी की ओर चल पड़ा। राम को देखते ही एक बार उसका क्रोध शान्त हो गया और वह शस्त्र चलाने में स्तम्भित हो गया। मानस में कहा है कि—

"प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी।
थकित भई रजनीचर धारी॥
सचिव बोलि बोले खर दूषन।
यह कोउ नृपबालक नर भूषन॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते।
देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई।
देखे नहिं असि सुंदरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा।
बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥"

खरदूषण की सम्पूर्ण सेना राम को देख स्तम्भित हो गयी और शस्त्र प्रयोग नहीं कर सकी। खरदूषण ने अपने मंत्री को बुलाकर कहा कि यह राजकुमार मनुष्यों में भूषण के समान है। नाना सुर, असुर, नर एवं जितने महात्माओं को हमने देखा उन्हें मारा। फिर भी हमने अपने जीवन में ऐसी सुन्दरता कहीं नहीं देखी। यद्यपि हमारी बहन को इसने नाक कान काटकर कुरूप बना डाला फिर भी यह अनुपम पुरुष मारने योग्य नहीं है। यह दुष्ट खरदूषण का अनुभव भी सगुण साकार ब्रह्म की परिपूर्णता का परिचायक है। श्रीमद्भागवत में जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अघासुर को मारकर व्रज के सभी बालकों की रक्षा की तब अजगर की सूखी चमड़ी वृन्दावन में एक रमणीय दृश्य बन

गयी, किन्तुइस वृत्त को व्रजबालकों ने एक वर्ष के बाद अपने माता पितासे कहा। इस कौतुहल वृत्त को सुनते ही परीक्षित ने शुकदेवजी से पूछा—भगवन् !

'ब्रह्मन् कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत्।
यत्कौमारे हरिकृतं जगुः पौगण्डकेऽर्भकाः(भा. १०-१२·४१)

हे ब्रह्मन् ! एक वर्ष पूर्व का चरित्र तत्कालीन कैसे हो सकता है ? कौमारावस्था में किये हुये भगवान् के चरित्र को व्रजबालकों ने यह कैसे कहा कि कन्हैया ने कल एक अजगर को मारा। इसी में भगवान् की अनुपम लीला निहित है, जिसमें ब्रह्मा के मोह का प्रसङ्ग बतलाया गया है। लोग रासपञ्चाध्यायी में सहस्र गोपियों के साथ सहस्ररूप धारण कर भगवान् श्रीकृष्ण की लीला को गाते हुये थकते नहीं, पर मुझे तो उसकी अपेक्षा भी ब्रह्मा के मोह का प्रसङ्ग अनुपम प्रतीत होता है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण ने केवल अनेक कृष्णरूप को धारण नहीं किया अपितु अनेक विषमरूप को धारण किया। जब गोपबालकों के साथ बछड़ों को चुराते हुए यमुना पुलिन में आकर भगवान् श्रीकृष्ण कलेवा करने लगे, इसी बीच पहले बछड़ों को फिर गोप बालकों को भी चुराकर ब्रह्मा ने भगवान् श्रीकृष्ण की अनुपम मधुर लीला देखने के लिये गुफा में बन्द कर दिया। उस समय श्रीकृष्ण स्वयं ही अनेक विषम रूप धारण कर ब्रह्मा, गोपबालक तथा बछड़ों की माताओं को ब्रह्मानन्द देने लगे।

"ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च।
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः॥"
(भा० १०।१३।१)

"यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।

यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं ।
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥"
(भा० १०।१३।१९)

स्वयमात्माऽऽत्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः ।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम्" ॥
(भा० १०।१३।२०)

ब्रह्मा की यह करतूत है, यह जानते ही भगवान् श्री कृष्णने ब्रह्मा एवं बालकों की माताओं को परमानन्द प्रदान करने के लिये स्वयं ही दोनों रूप अर्थात् बछड़े और बालक के रूप में अपने को परिवर्तित कर लिया। जितनी संख्या में जितने उमर के बछड़े एवं बालक थे, उन बालकों के जैसे हाथ, पैर, अंगुलियाँ, दण्डे, विषाणदण्ड, पत्र, शिकहर थे और जैसे उनके आभूषण थे, जैसा जिनका शील, गुण, नाम, आकार और अवस्था आदि थे, जिनके जैसे खेलने, दौड़ने एवं चलने के प्रकार थे, उन सभी रूपों में सर्वस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण गोवत्सरूप को बछड़ों द्वारा एकत्रित कर अनेक रूप में आत्मविहार से क्रिया करते हुये सर्वात्मा श्रीकृष्ण व्रज में प्रवेश कर गये। गोप एवं बछड़ों के रूप में श्रीकृष्ण को ही सभी गोपियों ने गले से लगाया, चुम्बन किया और वात्सल्य के कारण स्तन से टपकता हुआ अमृत समान दूध परब्रह्म परमात्मा को ही अपना पुत्र समझकर पिलाया !

स्नेहस्नुतस्तन्यपयःसुधासवं मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन् ।
(भा० १०।१३।२२)

तत्पश्चात् उबटन लगाकर बच्चों को स्नान कराया। अनेक प्रकार के आभूषण से अलंकृत कर मस्तक में डिठौने लगाये।

भोजन कराने के बाद उनके चरित्र गान करते हुये प्रसन्न होती थी। इधर गौवें गौशाला में आकर हुँकार घोष से बुलाते हुये अपने-अपने बच्चों को दूध पिलाने लग गयीं। उस समय उनके स्तनों से दूध टपकने लगा था। दूध पिलाते समय बछड़ों को बार-बार स्नेह के कारण चाट रही थीं। हे राजन्! गोप और गोपियों का अपने बच्चों के प्रति पहले जैसे ही मातृभाव था किन्तु पहले की अपेक्षा प्रेम तो अनन्त गुणा बढ़ गया। वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण में गोप गोपियों की दृष्टि में निच्छल पुत्रत्व था। व्रजवासियों की अपने पूत्रों में स्नेहलताएँ प्रतिदिन धीरे-धीरे बढ़ती निःसीम स्थिति में यहाँ तक बढ़ गयीं कि जैसे कृपण के प्रति प्रेम था। यह सब ब्रह्माजी की शैतानी का सुपरिणाम है। विशेष क्या कहें, इस रहस्य का पता बलराम को भी नहीं चला। जब बलराम जी ने एक बार देखा कि दूध छोड़ देने वाले बछड़ों के ऊपर भी गौवों का प्रतिक्षण प्रेम बढ़ रहा है, वे बड़े हैरान हुये कि जैसे कृष्ण के प्रति सबका अपूर्व प्रेम था, क्या कारण है कि आज सभी व्रज का अपने बच्चों के प्रति जैसे ही प्रेम बढ़ रहा था। ध्यान से देखने पर सम्पूर्ण गोप बालक एवं बछड़ों के रूप में अकेले कृष्ण को ही देखा। इधर वर्षा बीतने के बाद जब ब्रह्मा जी बृन्दावन आये तो पूर्व के जैसे ही गोप-बालक और बछड़ों के सहित भगवान् कृष्ण को लीला करते हुये देखा। साथ ही गुफा में भी वे बड़े आराम से सोये हुए हैं, यह भी देखा। इन दोनों में कौन सत्य है; इसे ब्रह्मा नहीं समझ पाया। सर्वथा मोहरहित, विश्वमोहन कृष्ण को अपनी माया से मोहित करने के लिये आये, ब्रह्मा स्वयं मोहित हो गये। फिर उन्होंने सभी बछड़ों एवं बालकों को शंख, चक्र, शरीर धारण किये चतुर्भुज रूप में देखा। उसके बाद अकेले श्रीकृष्ण को

गोपबालक एवं बछड़ों को ढूँढते हुये पहले के जैसे ही देखा। वे बार-बार उनके चरणों में अपने हंस की सवारी से उतरकर नमस्कार करने लगे। उस समय ब्रह्मा ने अपनी स्तुति में कहा है कि—

"अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥२॥
क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते
महित्वम् ॥
(भा० १०।१४।११)

ब्रह्माजी कहते हैं—हे देव! यह जो सामने दीखने वाला आपका स्वरूप है, जो एकमात्र मेरे ऊपर अनुग्रह का ही विग्रह है। यह पञ्चभूतों का बना हुआ नहीं, अपितु स्वेच्छामय सगुण साकार रूप है। यदि कोई हजार बार समाधि लगाकर अन्तरात्मा से इसकी भी महत्ता जानने का प्रयत्न करें, फिर भी इदमित्थं रूप से निश्चय नहीं कर सकता तो भला आप के साक्षात् सच्चिदानन्द स्वरूप में कहना ही क्या? इससे यही सिद्ध हुआ कि आपका सच्चिदानन्द स्वरूप पारमार्थिक है और यह लीला विग्रह साक्षात् अपनी दिव्यशक्ति सम्पन्न माया का बना हुआ है। भक्तों के ऊपर कृपा कर स्वेच्छा से बनाते हैं। ब्रह्माजी ने कहा कि मैं अपने आप को ईश्वर मानता था जबकि रजोगुण से मेरा उद्भव हुआ है। यह आप की माया का ही प्रभाव है, उसी से मैं अन्धा हो गया था। अतः मुझ पर कृपा कर

अपराधों को क्षमा कीजिये। आप और मुझ में कितना अन्तर है, उसे इसी दृष्टान्त से समझा जा सकता है। प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाश वायु अग्नि जल एवं पृथिवी इन आठ तत्त्वों का बना हुआ ब्रह्माण्ड रूप शरीर जो कि सात वितस्थ है; ऐसे शरीर वाला कहाँ मैं और कहाँ आप की अपार महिमा। उक्त शरीर वाला मैं कैसा हूँ, जैसे झरोखे से आये हुये प्रकाश के मध्य एक-एक त्रसरेणु आपके अनन्त लोम कूप में अगणित ब्रह्माण्ड रूप परमाणु घूम रहे हैं, जिनमें से एक ब्रह्माण्ड का उत्तरदायित्व मुझे मिला है। अतः हे भगवन् ! आपकी महिमा अपार है। अत्यन्त दुःखरूप निःसत्त्व यह सम्पूर्ण संसार चिदानन्द स्वरूप आप में ही उत्पन्न होकर सत्य सा प्रतीत हो रहा है। अहो ! व्रज के गोप और गोपियाँ अति धन्य हैं, जिनके बच्चों के रूप में दुग्धामृत का आप पान कर रहे हैं। जिस परमेश्वर को तृप्त करने के लिये यत्न करने वाले वैदिक ऋत्विज और सुख सम्पत्ति को अग्नि में आहुति कर के भी आज तक सफल नहीं हुये। उसी को ब्रजवासियों ने अपना दूध पिलाकर प्रसन्न किया। अतः वे धन्य हैं। इस प्रकार सगुण ब्रह्म की महिमा से श्रीमद्-भागवत परिपूर्ण है। अतः परमेश्वर साकार रूप की पूर्णता में सन्देह करना अपनी ही मूर्खता है, इतना ही नहीं, परमात्मा का विवर्त जगत् भी पूर्ण ही है, किन्तु जीव ने अपनी दूषित दृष्टि से इसे अपूर्ण और दुःखमय बना रखा है। यह संसार ईश्वर रचित तथा जीव रचित भेद से दो प्रकार का है। ईश्वर रचित संसार इस शान्ति मन्त्रोक्त रीति से 'पूर्णमिदम्' अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप है किन्तु जीव ने जहाँ-जहाँ अपनी मोहर डाली है, वे सब इसके दुःख के कारण बन गये। बंगला, कोठी में अपनी मोहर लगी रहने के कारण किसी प्रकार की क्षति होने पर दुःख देता

है। पर कष्ट से बनायी उस अपनी कोठी को जब हम बेच देते हैं तो फिर दूसरे दिन आग से उस भवन के जलने पर भी उसे कोई कष्ट नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि ममता ही दुःख एवं बन्धन का कारण है। यह सबके हृदय में चोर के समान घुसकर ज्ञान वैराग्य एवं भक्ति रूप रत्न को लूट लेती है, किन्तु जब कोई भगवान् श्रीकृष्ण का कृपापात्र, शरणापन्न हो जाय तो सबके सब उसके लिये हितचिन्तक हो जाते हैं।

"तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥'
(भा० १०।१४।३६)

ब्रह्मा जी ने कहा—हे कृष्ण ! राग-द्वेषादि सम्पूर्ण मनोविकार जीव को लूटनेवाले डकैत के समान हैं, यह घर जेल के समान है और मोह पैर में पड़ी हुई बेड़ी के समान तभी तक है, जब तक प्राणी आपके शरणापन्न हो अभिमान का परित्याग कर सच्चिदानन्दरूप आपके महावाक्य के आधार पर तन्मयता नहीं प्राप्त करते। आपके साथ तादात्म्य भाव व्याप्त करते ही दुःखरूप संसार सुखमय हो जाता है। मानस में कहा है कि—

'गरल सुधा रिपु करहिं मिताई।
गोपद सिंधु अनिल सितलाई॥
गरुड सुमेरु रेनु सम ताही।
राम कृपा करि चितवा जाही॥'

राम जिसे कृपादृष्टि से देखते हैं या राम के साथ जो तन्मयता प्राप्त कर लेता है, उसके लिये जहर अमृत, शत्रु मित्र के समान काम करने लग जाते हैं। अपार संसार समुद्र गोपद जल के

समान हो जाता है और अग्नि शीतल हो जाती है एवं गुरुभूत सुमेरु पर्वत भी उसके लिये धूलिकण के समान हो जाता है। अतः परमेश्वर का निर्गुण निराकार, सगुण साकार तथा उसका विवर्त यह संसार सभी पूर्ण है, कोई अपूर्ण नहीं है।

बाईसवाँ दिन : 'पूर्णमदः' इस शान्ति मन्त्र के पूर्वार्ध में जगत्कारण एवं कार्य जगत्, निर्गुण निराकार ब्रह्म और सगुण साकार ब्रह्म इन सबको पूर्ण बतलाया गया, जो वेदान्त के दृष्टिकोण से ही सम्भव है। इस मन्त्र के उत्तरार्ध में साध्य-साधन एवं प्रलय के विकार का प्रसंग आता है 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' इस वाक्य से पूर्ण जगत् के पूर्णत्व को वापस लेकर अन्त में पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता है।

पूर्वार्ध में कारण एवं कार्य दोनों को बतलाया गया। ऐसी स्थिति में एक म्यान में दो तलवार, एक वन में दो सिंह नहीं रह सकते, उसी तरह दो पूर्ण नहीं हो सकते। उसीका उत्तर उत्तरार्ध में दिया जाता है। जगत् में ब्रह्म का ही पूर्णत्व है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है, उसे यदि परमेश्वर वापस ले लेता तो उसके विवर्त नाम रूप में कोई बल नहीं रह जाता है। अस्ति, भाति, प्रियरूप से परमेश्वर की पूर्णता जगत् में है ऐसी बात नहीं, जहाँ कहीं भोग या बहुत ऐश्वर्य, बल या बुद्धि दीखती है वह सब उसी की विभूति है यथा—

> **यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।**
> **तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥** गी०१०।४१

संसार में जो कोई भी वस्तु विभूतिमान्, कान्तिमान् और तेजस्वी दीखती है; उन सबको मेरे तेज के एक अंश से उत्पन्न

हुए जानो। वज्र में कठोरता और पुष्प में कोमलता उस परमात्मा की ही देन है। भगवान् राम की ओर से समझौते का प्रस्ताव लेकर गये हुए अंगद ने रावण को मान मर्दन के लिए राम के आदेशानुसार पैर रोक कर जब कहा कि—

"जौं मम चरन सकसि सठ टारी।
फिरहिं रामु सीता मैं हारी॥"

रे सठ रावण ! यदि तू मेरे पैर को टाल दे तो सीता को मैं हार जाऊँगा और रामजी यहाँ से वापस लौट जायेंगे। अंगद की इस प्रतिज्ञा को सुन शत्रु रावण के सभी योद्धाओं ने बारी-बारी से उनके पैर टालने का प्रयत्न किया किन्तु किसी से भी अंगद का पैर टल नहीं सका। कुयोगी पुरुष जैसे मोह वृक्ष को उखाड़ने में असमर्थ होते हैं, वैसे ही सभी योद्धा अंगद के पैर को टालने में असमर्थ हुए। स्वामी की पत्नी को दाव में लगा कर सफलता प्राप्त करने में अंगद में राम का ही बल काम कर रहा था। सती सीता का सन्देश लेने के लिये गये हुए हनुमानजी की पूँछ में जब रावण आग लगाना चाहता था, उस समय विचित्र तमाशा हो गया।

'रहा न नगर बसन घृत तेला।
बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला॥"

हनुमानजी की पूँछ में कपड़ा एवं घी लपेट कर जब आग लगाना चाहता था, तब पूँछ बढ़ती जाती थी। नतीजा यह हुआ कि लंका जैसे नगर में वस्त्र और शुद्ध घी भी न रहा। उस समय पूँछ बढ़ा कर हनुमानजी ने विचित्र खेल किया, पूँछ में आग लगते ही लंका नगर के भवनों पर हनुमानजी दौड़ने लगे। आग की लपट इतनी अधिक थी कि—

"जारा नगरु निमिष एक माहीं।
एक बिभीषन कर गृह नाहीं॥
ता कर दूत अनल जेहिं सिरिजा।
जरा न सो तेहि कारन गिरिजा॥"

एक निमेष में लंका नगर को उस आग ने जला डाला, पर साथ ही आश्चर्यजनक घटना यह हुई कि नगर के बीच होता हुआ भी विभीषण का घर नहीं जला। इस बात को सुन जगदम्बा पार्वती को आश्चर्य हुआ। वह अन्यमनस्क हो बैठीं। तत्पश्चात् भगवान् शंकर ने उसे गिरिजा शब्द से सम्बोधित करते हुए कहा कि यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिस प्रभु ने आग में दाहकता और जल में शीतलता दे रखी है, उसी के दूत तो हनुमान् और विभीषण हैं। यदि विभीषण के घर दाह के समय अग्नि की दाहकता को भगवान् खींच लेता तो बेचारा अग्नि कैसे जला सकता था? उसे यक्ष के रूप में भगवान् ने जो शिक्षा दी थी, उसका स्मरण भी तो है। केनोपनिषद् में यक्षोपाख्यान आया है। देवताओं के लिए ब्रह्म ने ही विजय प्राप्त की। ब्रह्म की विजय में ही देवता लोग महिमाशील हुए किन्तु जब वे इस बात को भूलकर अपनी ही जीत मानने लगे तो उन्हें पाठ पढ़ाने के लिये भगवान् यक्षरूप धारण कर आये। पर उस यक्ष को अग्नि, वायु, इन्द्रादि देव न जान सके। उस समय सर्वसम्मति से इस बात की जानकारी के लिये देवों ने अग्नि को भेजा—

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि
किमेतद्यक्षमिति तथेति॥ १६।३॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा
अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥१७।४॥
यस्मिस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ
सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ १८।५ ॥
तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुप
प्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं
स तत एव निववृते नैतदशकं
विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ १९।६ ॥
(केनो० तृ० खण्ड)

देवताओं ने अग्नि से कहा हे अग्ने! जरा सामने खड़े तेजस्वी पुरुष को जानो तो सही आखिर यह यक्ष है कौन। 'तथास्तु' कहकर अग्नि इस यक्ष के पास जाती है। जाते ही यक्ष ने पूछा—तू कौन है? आत्मज्ञान से शून्य अग्नि ने अपने शरीर की ओर संकेत करते हुए यक्ष से कहा कि मैं अग्नि हूँ और मैं जातवेदा हूँ। यक्ष ने कहा—आखिर तुममें क्या सामर्थ्य है? अग्नि ने उत्तर दिया, पृथ्वी में जितनी वस्तुएँ हैं, सबको मैं जला सकता हूँ। बस क्या कहना था, यक्ष ने उनके सामने सूखा तिनका रखकर कहा कि इसे जलाओ। अग्नि ने अपनी सारी ताकत लगाकर जलाना चाहा फिर भी नहीं जला सका। उसे सिर नीचा करके लौट जाना पड़ा और उसने स्पष्ट कहा—मैं इस यक्ष को न जान सका। ऐसी ही स्थिति वायु आदि देवता की भी हुई। तत्पश्चात् ब्रह्मविद्या उमा ने उन्हें परमात्मतत्त्व का बोध कराया। तब से इस बात का स्मरण अग्नि को सदा बना हुआ है। भगवान् की बात तो दूर रही, उनके भक्तों सेभी वह डरता है। इसीलिये लंका के जलने पर भी

विभीषण का घर नहीं जल सका। अतएव हमें मानना पड़ता है कि न केवल सच्चिदानन्द रूप से परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त है, अपितु ऐश्वर्य की दृष्टि से भी सर्वत्र विद्यमान् है। रावण की सभा में किसी भी योद्धा से अंगद का पैर जब न टल सका तो उस समय भगवान् शंकर ने कहा है कि—

"उमा राम की भृकुटि बिलासा।
होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥
तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।
तासु दूत पन कहु किमि टरई॥"

हे पार्वती ! राम के भृकुटि विलासमात्र से विश्व की सृष्टि एवं संहार होता है, जो राम तिनके को वज्र और वज्र को तिनका बना सकता है, उस राम के दूत अंगद का प्रण कैसे टल सकेगा ? अत: सभी दृष्टि से ब्रह्म से ही जगत् पूर्ण है, पर जब वह अपनी पूर्णता को समेटता है, तब केवल वहीं शेष बच जाता है परमार्थत: निष्प्रयोजन होता हुआ भी सृष्टि आदि रूप प्रपञ्च अथवा सगुण लीला रूप प्रपञ्च को परमात्मा अपने शरणापन्न भक्तों को परमानन्द प्रदान के लिये ही फैलाता है। यथा भागवत में ब्रह्मा ने कहा है कि—

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो॥

(भा० १०।१४।३७)

भगवान् श्रीकृष्ण की लीला से भी यही अभिप्राय व्यक्त होता है कि कहाँ १६१०८ स्त्रियाँ, उनके पुत्र-पौत्र इत्यादि विशाल यादव समाज का निर्माण किया और फिर उसे समेट

कर स्वयं भी परमधाम में चले गये। संसार के रूप में फैली हुयी परमेश्वर श्री पूर्णता को सुषुप्ति एवं प्रलयकाल में जब समेटता है, तब भी वह केवल रूप से अवशिष्ट रहता है, किन्तु इससे जीव कृतकृत्य नहीं हो सकता। जीव में कृतकृत्यता तब आयेगी, जब वह परमेश्वर की अनुकम्पा से वेदान्त विचार के द्वारा "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इन श्रुतियों के आधार पर विशुद्ध चैतन्य से भिन्न सम्पूर्ण नामरूप का बाध कर ब्रह्म रूप से अपने आपको अवशेष रख लेगा। इसके लिये परमेश्वर की शरण एवं उनकी ही अनुकम्पा से इस फैले हुए विश्व को यदि समेट लेवें या इस विश्व में ही सर्वत्र ब्रह्मात्मभाव का दर्शन कर लें तो हम सब मुक्त हो जायेंगे और तब हममें कृतकृत्यता आयेगी। यही "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" इस उत्तरार्ध का तात्पर्य है।

तेईसवाँ दिन : 'पूर्णमदः' इस मन्त्र के उत्तरार्ध पर आज भी विचार करना है। इसमें प्रलय एवं साध्य-साधन की बात की है। प्रलय नित्य, नैमित्तक, प्राकृत एवं आत्यन्तिक भेद से चार प्रकार का है। सभी जीव सुषुप्तावस्था में सत्य ब्रह्म के साथ ही एकीभूत हो जाते हैं "सता सौम्य सदा संपन्नो भवति" इस श्रुति में भी जीव को सत् के साथ ही संपन्न होना बतलाया गया है, इसी को नित्य प्रलय भी कहते हैं। वेदान्तसिद्धान्त में दृष्टि-सृष्टिवाद सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त माना गया है। जब हम देखते हैं, तो संसार है, जब हम नहीं देखते, तब सृष्टि के रहने में कोई प्रमाण नहीं है।

"चेतोहरा युवतयः स्वजनोऽनुकूलाः
सद्बान्धवा प्रणतिगर्भगिरश्च भृत्याः।

गर्जन्ति दन्ति निवहास्तरलास्तुरंगाः
संमीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति ॥"

(भोजप्र० श्लो० २००)

चित्त को हरण करने वाली युवतियाँ, मनोनुकूल मित्र, सच्चे बन्धु-बान्धव, सदा हाथ जोड़े खड़े रहने वाले नौकर, गर्जना करने वाले हाथियों के झुण्ड और चपल घोड़े इत्यादि संसार की सभी सम्पत्ति जब तक देखते हो, तभी तक हैं। नेत्र के बन्द हो जाने पर कुछ भी नहीं है। संस्कृत के महान् पंडित राजा भोज अपने शयनागार में सोने से पहले अपने वैभव को देख-देख बड़े प्रसन्न हो रहे थे। वे मन ही मन कहते थे कि देखो हमारी कितनी सुन्दर स्त्रियाँ हैं, जो देखते ही चित्त चुराने वाली हैं, हमारे मित्र सदा अनुकूल रहा करते हैं, बन्धु बान्धव सभी सच्चे हृदय से प्रेम करते हैं। नौकर-चाकर आदर एवं स्नेह से सदा आज्ञा में तत्पर रहते हैं। यह देखो हस्तिबल में हाथियों की गर्जना कितनी अच्छी लगती है। घुड़साल के अत्यन्त चंचल घोड़े हिनहिना रहे हैं। इस प्रकार अपने प्रत्येक वैभव को देख एवं स्मरण कर पुलकायमान हो रहे थे। इतने में उन्होंने अपने हृदय के उद्गार "चेतोहरा युवतयः" इत्यादि तीन पाद में लिख कर प्रगट किया। श्लोक के चतुर्थ पाद को बनाने का उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया किन्तु बन नहीं सका। अन्त में कागज पर लिखे हुए तीन पाद को अपने सिरहाने रखकर राजा भोज निद्रा देवी की गोद में चला गया। मनुष्य जैसा सोचता हुआ सोता है, प्रायशः स्वप्नावस्था में उन्हीं को देखने लगता है। बस क्या था! "चेतोहरा युवतयः" यही श्लोक स्वप्न में भी दीखने लग गया। जाग्रत् के जैसे ही स्वप्न के वैभव को देख-देखकर प्रसन्न

हो रहे थे और मानो इसी श्लोक की आवृत्ति कर रहे थे। किन्तु चतुर्थ पाद पर आकर गाड़ी रुक जाती थी। स्वप्न में श्लोक की आवृत्ति करते-करते उनके मुख से आवाज भी निकलने लग गयी। जब वे इस श्लोक के तीन पाद बोलते तो चतुर्थ पाद में आकर अड़ी हुई इनकी कविता गाड़ी को इनके घर में घुसे हुए चोर ने आगे बढ़ायी। वह बोला—"संमीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति" हे राजन्! श्लोक के तीन पाद में जिन-जिन वैभवों का तुमने वर्णन किया है, ये सब तो देखने तक ही हैं। आँख मीचने पर इनकी सत्ता नहीं रहती। इसी को दृष्टिसृष्टिकार कहते हैं। अब इस श्लोक की पूर्ति की बात सुन राजा भोज की आँख खुली। उन्होंने इधर-उधर देखा और कहा—मेरे श्लोक की पूर्ति करने वाला कौन है, सामने आ जाय। चोर सामने आ गया। राजा ने पूछा—तुम कौन हो और इस रात्रि में राजमहल में कैसे आ गये। चोर ने कहा—मैं अमुक पंडित का पुत्र हूँ। कुसंग से मुझे चोरी करने की आदत पड़ गयी, पर मैंने धर्मशास्त्र का अध्ययन पिता से भली प्रकार की है। चोरी करने के लिए तुम्हारे राजमहल में आने पर जिस विषय की ओर मैं हाथ बढ़ाता, वहीं दोष दीखने लगता। मुझे धर्मशास्त्र की बात स्मरण आ जाती थी कि अमुक चीज चुराने से अमुक पाप लगता है पर खाली हाथ जाना अच्छा नहीं। अतः देखो धान्य के भूसे को मैं अपनी गठरी में ले जाने के लिए बाँध रखा है। धर्मशास्त्र में इसकी चोरी के विषय में कुछ नहीं लिखा। राजा पंडित की बात सुन और श्लोक के चतुर्थ पाद की पूर्ति को देख प्रसन्न हुआ और उसने उस पंडित को इतना धन दिया कि उसकी चोरी करने की आदत ही समाप्त हो गयी। इसका

तात्पर्य यह है कि संसार देखने तक ही है, सुषुप्ति में नहीं रहता, इसी को नित्य प्रलय कहते हैं।

प्रलय के दिन की समाप्ति में उनके सूक्ष्म शरीर में सम्पूर्ण कार्यप्रपञ्च विलीन होकर रहते हैं। इस दिनावसान निमित्त को लेकर होने वाले प्रलय को नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। ब्रह्मा की आयु समाप्तिकाल में ब्रह्मलोक निवासियों के साथ जब ब्रह्मा भी मुक्त हो जाते हैं, उस समय अज्ञानी जीव का विलय प्रकृति में हुआ करता है, उसी को प्राकृत प्रलय कहते हैं कि तीनों प्रकार के प्रलय भोगदायी कर्म के उपरत होने पर ही होते हैं, किन्तु चतुर्थ प्रलय तत्त्वज्ञान से हुआ करता है जिसे आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। इसी में जीव का परमपुरुषार्थ निहित है और इस प्रकार के प्रलय के लिए ही सम्पूर्ण साधन है। चेतनात्मा में संसार अध्यस्त है, पारमार्थिक नहीं है। इसे भगवत्पाद ने सदाचारानुसन्धान में कहा है कि—

"चित्तं चिदिति जानीयात्तकाररहितं यदा ॥
तकारो विषयाध्यासो जपारागो यथा मणौ।
ज्ञेयवस्तुपरित्यागाज्ज्ञानं तिष्ठति केवलम्" ॥३७॥

चित्त और चित् में क्या अन्तर है इसे जानना चाहिये। विचार कर देखने पर चित्त के तकार को हटा देने से जो शेष वच जाता है, वह चित् अधिष्ठान स्वरूप है। उसी में विषय का अध्यास वैसे ही हो रहा है, जैसे जपाकुसुम के सांनिध्य से उसकी लालिमा का स्फटिक मणि में अध्यास होता है, अतएव कहा जाता है कि 'लोहितः स्फटिकः'। ज्ञेय वस्तु के परित्याग कर देने पर केवल ज्ञान ही अवशेष रहता है किन्तु ऐसा होना साधन से ही सम्भव है। इसके लिये ही वेदान्त का श्रवण, मनन,

निदिध्यासन करना पड़ता है। इनके द्वारा ब्रह्मात्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर चेतन में कल्पित नाम-रूप को बाधित कर देने पर केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही शेष रहता है। इसी का संकेत "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" यह उत्तरार्ध शान्ति मन्त्र कर रहा है। इतना कर लेने पर जीवन सफल हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिये यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मिन्
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

'उसका कुल पवित्र हो गया, उसकी माता कृतार्थ हो गयी, उसकी जन्म भूमि एवं निवासस्थल पवित्र हो गये, अपार सच्चिदानन्द ब्रह्म में जिसका मन लीन रहा करता है'। इसी को रामचरित मानस में कहा है कि—

"पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी। राम बिमुख सुत तें हित जानी।'

राम का वन जाने का सन्देश एवं राम के साथ जाने की उत्कट अभिलाषा की बात लक्ष्मण जी के मुख से सुनकर सुमित्रा जी को अपार आनन्द हुआ। लक्ष्मण के इस व्यवहार से सुमित्रा प्रसन्न हुई और कहा कि हे बेटा! तुमने निश्छल राम की भक्ति से न केवल अपने को कृतकृत्य किया अपितु मुझे भी कृतार्थ किया। संसार में पुत्रवती स्त्री वही मानी जाती है, जिसका पुत्र अन्तरात्मा से राम का निश्छल भक्त हो; नहीं तो वन्ध्या रह

जाना अच्छा है। कुत्तियाँ, सुअरी और बिल्ली के समान व्यर्थ ही क्यों प्रसूत होती है ? क्योंकि राम से विमुख पुत्र से संसार का एवं उसकी माता के हित का विनाश ही तो होता है। सम्पूर्ण सत्कर्मों का एकमात्र फल यही है कि सीताराम के चरणों में सहज स्नेह हो जाय। सभी प्रकार के विकारों को छोड़ मन, कर्म, वचन से श्रीसीताराम की सेवा करना; बस, संक्षेप में इतना ही उपदेश है कि राम को किसी प्रकार का कष्ट न हो, यही करना। तात्पर्य यह है कि परमात्मतत्त्व से विमुख रहकर सौ जीवन जीने की अपेक्षा भगवान् की भक्तियुक्त स्वल्प आयु ही श्रेष्ठ है। क्या मनुष्य शरीर सैकड़ों बोरी चावल, गेहूँ और सैकड़ों पीपे घी तेल का व्यापार करने को मिला था ? इससे तो अच्छा था कि बहुत पहले ही इन चीजों को दान कर मर जाता तो कम से कम उसका भविष्य तो सुधरता। इसने तो वर्षों तक इन गल्लों और घी आदि को बरबाद करते हुये संसार में उपद्रव ही तो किया है। ऐसे लोगों के लिये तो मानस में गुह-निषाद तक ने कहा है कि—

"तजउँ प्राण रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें॥
साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत महुँ जासु न रेखा॥
जायँ जिअत जग सो महि भारू। जननी जौबन बिटप कुठारू॥"

'मैं परमात्मा राम के लिये प्राण छोड़ दूँगा तो मेरे दोनों ही हाथों में मोदक अर्थात् लोक में यश है और परलोक में शान्ति मिलेगी। जिसकी लेखा साधु समाज में नहीं है, राम-भक्तों की गणना करते समय खड़िया नहीं पड़ती, वह पृथ्वी का भार हो संसार में व्यर्थ ही जी रहा है। उसके जन्म देने में उसकी माता ने अपनी जवानी व्यर्थ बितायी। उस रामविमुख

ने अपनी माता की जवानी रूपी वृक्ष को काटने के लिये मानो कुल्हाड़े का काम किया। न जाने हम कितनी बार संसार में जन्म ले चुके हैं, यहाँ तक कि सूकर-कूकरादि योनियों में जन्म लेकर सूकरी कूकरी का दूध पिया। यदि वैसे ही आज माता का दूध पीकर भी पुनः अन्य योनि में जाकर उसका दूध पीना पड़े तो ऐसे मानव की क्या बड़ाई। आचार्य ने कहा है कि—

'जातो को यस्य पुनर्न जन्म, को वा मृतो यस्य पुनर्न मृत्युः" जिसका पुनर्जन्म नहीं होता और जिसकी पुनः मृत्यु नहीं होती; उसीका जन्मना और मरना सार्थक है। अतः समय रहते चेत जावो; नहीं तो पश्चात्ताप करना पड़ेगा। यदि कहो कि जिस ज्ञान और भक्ति से जीवन कृतकृत्य हो जाता है, उसका स्वरूप तो बतलाओ। जिस प्रकार आप आज देह में आत्मभाव कर बैठे हो और देह की भक्ति कर रहे हो, इसके स्थान में अन्तरात्मा में अहंभाव और उसी में प्रेमात्मभाव से प्रेम करना ही ज्ञान तथा भक्ति है। आचार्यजी ने कहा है कि—

"देहात्मानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥"

देह में आत्मबुद्धि के समान देहात्मभाव का परित्याग कर अन्तरात्मा विशुद्ध चेतन में जिसका विशुद्ध प्रेम हो जाता है, वह यदि उस समय मुक्त होना न चाहे फिर भी मुक्त हो जायगा। ऐसे व्यक्ति ने कल्पित जगत् में दीखने वाले परमेश्वर के पूर्णत्व को देख लिया है और उसमें नामरूपात्मक जगत् का बाध करके अखण्ड सत्ता, ज्ञान और आनन्द रूप परिपूर्ण परमेश्वर ही शेष रहता है, अर्थात् "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" शान्ति-

मन्त्र के उत्तरार्ध को अपने जीवन में उतार लिया, ऐसा पुरुष धन्य है और ऐसे के विषय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।"

चौबीसवाँ दिन :

आज मैं पुनः 'पूर्णमदः' इस शान्ति मन्त्र के उत्तरार्ध पर विचार करूँगा। संसार में सच्चिदानन्द रूप से एवं ऐश्वर्य की दृष्टि से जहाँ जो कुछ भी दीखता है, वह सभी परमेश्वर ही है। यह परमेश्वर सृष्टि को फैलाने एवं समेटने में भी समर्थ होने से पूर्ण है। किन्तु जीव अपनी परिच्छिन्न दृष्टि के कारण अपूर्णता का अनुभव कर रहा है। इसमें पूर्णता कैसे आये ? उसी के लिये हमें प्रयत्न करना है। बोधसार में कहा है कि परमेश्वर को देख लेने पर संसार में कहीं भी अपूर्ण का दर्शन नहीं होता।

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वे च कल्पद्रुमाः
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि ॥

बोधसार सम्पूर्ण संसार ही तत्त्वज्ञानी के लिये नन्दनवन हो गया, सभी वृक्ष कल्पवृक्ष के समान हो गये, संसार के सारे जलाशय उसे गङ्गाजल के समान हो गये, समस्त क्रिया उसके पुण्यप्रद हो गये, वह चाहे संस्कृत, चाहे प्राकृत किसी भाषा में बोलता रहे, श्रुति के तात्पर्य बतलाने वाली होने के कारण उसकी वाणी अमृत के समान हो गयी, अब उसे सारी पृथिवी वाराणसी के समान दीखने लगी। किम्बहुना परमेश्वर के दर्शन हो जाने के कारण उसकी सभी अवस्थाएँ समाधि के समान

प्रतीक होने लग गयी हैं। इसी को हम ग्रानन्दवाद शब्द से कहते हैं। विष्णुपुराण में मैत्रेय के प्रति पाराशर ऋषि ने कहा है कि—

'ग्रहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो नान्यत्ततः कारणकार्यजातम्।
ईदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयो भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति'॥
(वि॰ पु॰)

मैं भी हरिरूप हूँ ग्रौर यह संसार भी परमार्थ स्वरूप ही है। उस परमात्मा से भिन्न कार्य-कारण समूह कुछ भी नहीं है। जिसका मन ऐसा हो गया, उसे फिर राग-द्वेष, सुख-दुःख, मान-ग्रपमान शीत-उष्णादि द्वन्द्वरूप रोग नहीं होते। ग्राचार्य भगवत्पाद ने विवेकचूडामणि में कहा है कि—

तमस्तमः कार्यमनर्थजालं न दृश्यते सत्युदिते दिनेशे।
तथाद्वयानन्दरसानुभूतौ नैवास्ति बन्धो न च दुःखगन्धः।३२०।
दृश्यं प्रतीतं प्रविलापयन्स्वयं सन्मात्रमानन्दघनं विभावयन्।
समाहितः सन्बहिरन्तरं वा कालं नयेथाः सति कर्मबन्धे॥३२१॥

ग्रज्ञान एवं उसके कार्य सम्पूर्ण संसार ग्रनर्थ के जालरूप में ग्रभी-ग्रभी प्रतीत हो रहे थे, वे ब्रह्मात्मैक्य बोध के उदय होते ही न जाने कहाँ चले गये, वे दीखते ही नहीं। ग्रब तो ग्रद्वयानन्दरस का ग्रनुभव हो रहा है। इस रसानुभूति के हो जाने पर न तो संसार बन्धन रह गया ग्रौर न दुःख की गन्ध ही रही। दीखने वाले दृश्य को प्रविलय करते हुये सच्चिदानन्द ग्रानन्दघन की प्रसन्नता का निरन्तर चिन्तन करते हुये जब हम समाहित हो गये, तब तो इस प्रारब्धरूप कर्म के रहते हुये भी बाहर ग्रौर भीतर एक रस दीखता है। ऐसी भावना करते हुये काल का दोष कहना चाहिये। ब्रह्मनिष्ठा में कभी भी प्रमाद नहीं करना

चाहिये, क्योंकि प्रमाद ही तत्त्वज्ञानी की मृत्यु है। तत्त्वज्ञान को प्राप्त हुये पुरुष की स्थिति का वर्णन सर्वज्ञात्म मुनि करते हैं कि—

'पश्यामि चित्रमिव सर्वमिदं द्वितीयं
तिष्ठामि निष्कलचिदेकवपुष्यनन्ते।
आत्मानमद्वयमनन्तसुखैकरूपं
पश्यामि दग्धरसनामिव च प्रपञ्चम्॥
अद्वैतमप्यनुभवामि करस्थबिल्व-
बुध्यं शरीरमहिनिर्ल्वयनीव दिक्षे।
एवं च जीवनमिव प्रतिभासमानं
निःश्रेयसोऽधिगमनं च मम प्रसिद्धम्॥' (सं०शा० ४।५४-५५)

तत्त्व का बोध हो जाने पर अब तो मैं इस सम्पूर्ण द्वैत को चित्र की भाँति देखता हूँ। निष्कपट सच्चिदानन्द स्वरूप देश-काल भेद शून्य अनन्त आत्मा में स्थिर हूँ। अद्वितीय, अनन्त, सुखस्वरूप आत्मा को देखते हुए संसार प्रपञ्च को एक रस्सी के समान देखता हूँ। हाथ पर रखे हुए बिल्व के समान अद्वैत आत्मा का अनुभव करता हूँ और साथ हो सर्प की केंचुली के समान इस शरीर को देखता हूँ। इस प्रकार मानो जीते जी ही मोक्ष की प्राप्ति शास्त्रप्रसिद्ध प्रतिभासमान हो रही है। इस प्रकार जीते जी अद्वैतात्मा के अनुभव का ही उपदेश इस शान्ति मन्त्र उत्तरार्ध में किया गया है। ईश्वर, गुरु एवं शास्त्र की अनुकम्पा से अद्वैतात्मा का अनुभव हो जाने पर प्रमाद का सर्वथा परित्याग कर उसकी स्थिति में रहना ही जीवन्मुक्ति है। बस ब्रह्मानुभव में ही शेष प्रारब्ध जीवन यापन करने में ही

जीवन्मुक्ति का आनन्द है। प्रमाद से तो पराङ्‌मुख पुरुष की बुद्धि को भी क्षणमात्र के लिये माया दबाकर संसार दिखलाने लगती है। आचार्यपाद ने कहा है कि—

"विषयाभिमुखं दृष्ट्वा विद्वांसमपि विस्मृतिः।
विक्षेपयति धीदोषैर्योषा जारमिव प्रियम्॥
यथा प्रकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम्॥
लक्ष्यच्च्युतं चेद्यदि चित्तमीषद्बहिर्मुखं संनिपतेत्ततस्ततः।
प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः सोपानपंक्तौ पतितो यथा तथा॥"
(वि० चू० ३२४-२५-२६)

बुद्धिदोष के कारण से विस्मृति विषयाभिमुख देखकर विद्वान् को भी विक्षेप पहुँचाती है, जैसे स्त्री जारपति को। शैवाल से आच्छन्न जल में पत्थर मारो तो एक क्षण के लिये शैवाल पृथक् हो जायगा और जल दीखने लग जायगा किन्तु क्षणमात्र में पूर्ववत् जल को आच्छादित कर डालता है। ठीक ऐसे ही बहिर्मुख विद्वान् की मनोवृत्ति को भी माया (अविद्या) ढक डालती है। प्रमाद से यदि खेलने का कन्दुक हाथ से छूट कर सीढ़ी पर गिर जाय तो फिर वह एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी सीढ़ी पर गिरते हुए नीचे जमीन तक पहुँच जाता है। ठीक वैसे ही लक्ष्य से गिरा हुआ चित्त थोड़ा भी बहिर्मुख हुआ कि एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे विषयों की ओर लग जाता है। इसलिये मैं कहता हूँ कि ब्रह्मतत्त्वदर्शी विवेकी की समाधि में प्रमाद से बढ़कर दूसरी कोई मृत्यु नहीं है। समाहित पुरुष ही सिद्धि को प्राप्त करता है। अतः सावधानी से सम्यक् प्रकार से समाहित अन्तःकरण वाले बनो।

फिर तो बाहर भीतर सर्वत्र आनन्द ही आनन्द दीखेगा दुःख एवं अपूर्णता का नाम और निशान नहीं रहेगा, क्योंकि असल में सर्वत्र परमात्मा ही तो है। आचार्यपाद ने कहा है कि—

ज्ञानमेकं सदा भाति सर्वावस्थासु निर्मलम्।
मन्दभाग्या न जानन्ति स्वरूपं केवलं बृहत्॥

सभी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं समाधि अवस्था में परमार्थतः विशुद्ध ज्ञान ही सदा प्रकाशता है। फिर भी बदनसीब मन्दभागी केवल व्यापक परिपूर्ण, परमात्मतत्त्व को नहीं जानते, यह खेद की बात है। अतः मैं कहता हूँ कि जो बीत गया, उसे जाने दो; शेष जीवन में अनर्थ संसार नाम-रूप की ओर से मुँह मोड़कर बाहर भीतर सर्वत्र उस परिपूर्ण अद्वैतात्मा का चिन्तन करो। तुम अपने आपको ही सभी जगह पावोगे।

अन्तः स्वयञ्चापि बहिः स्वयञ्च स्वयं पुरस्तात् स्वयमेव पश्चात्।
स्वयं ह्यवाच्यां स्वयमप्युदीच्यां तथोपरिष्टात् स्वयमप्यधस्तात्॥"

बाहर, भीतर, आगे, पीछे, पूर्व, पश्चिम, नीचे और ऊपर अपने आपको देखो। एक बार दृढ़ता से परमेश्वर की शरणापन्न हो संसार का मिथ्यात्व एवं परमात्मा का परमार्थ तत्त्व अनुभव कर लो फिर तो यह संसार दुःखमय तुम्हें नहीं दीखेगा। आचार्यभगवत्पाद ने कहा है कि—

"क्षीरात्सर्पिर्यथोद्धृत्य क्षिप्तं तस्मिन्न पूर्ववत्।
बुद्ध्यदेर्ज्ञस्तथा सत्यान्न देही पूर्ववद्भवेत्॥"

(उ० सा० प्र० १७।६१)

जैसे दूध से मक्खन निकाल कर पुनः उसे दूध में छोड़ भी दिया जाय तो भी वह पूर्ववत् नहीं होता किन्तु दूध के

ऊपर ही तैरता रहता है। न नीचे बैठता और न दूध में पूर्ववत् घुलता मिलता है। ठीक ऐसे ही देहेन्द्रियाँ मन प्राप्य पुष्टि आदि असत्य पदार्थ से वेदान्त विचार के द्वारा चेतनात्मा का उद्धार कर लेने पर वह तत्त्ववेत्ता पुरुष पहले के जैसे संसार में रहता हुआ भी संसार से घुलता मिलता नहीं है। "पद्मपत्रमिवाम्भसा" के समान वह निर्लेप बना रहता है, यही जीवन का लक्ष्य है और उसी को 'पूर्णमदः' यह शान्तिमन्त्र प्रपञ्च के अध्यारोप माध्यम से जिज्ञासुओं को बतला रहा है।

पच्चीसवाँ दिन : 'ॐ पूर्णमदः' इत्यादि शान्तिमन्त्र में सृष्टिप्रलय एवं साध्य-साधन की दृष्टि से समस्त उपनिषदों का सार निहित है, जिसे अब तक अवैदिक सिद्धान्तों की आलोचनापूर्वक वैदिक सिद्धान्तों के समर्थन के रूप में विचार किया गया। अब आगे उपनिषद् मन्त्र का विचार प्रारम्भ किया जा रहा है।

उपनिषद् शब्द का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या होता है, यह हम पहले बतला आये हैं। उस उपनिषद् के जनक होने से ग्रन्थ को भी उपनिषद् शब्द से कह देते हैं। जो व्यक्ति संसार के भोगों से ऊब चुका है, जिसके मन में आत्मज्ञान की तीव्र पिपासा जग चुकी है; ऐसे विवेक, वैराग्य, षट्संपत्ति एवं मुमुक्षुत्व; ऐसे साधनचतुष्टय से सम्पन्न व्यक्ति ही ब्रह्मविद्या का उत्तम अधिकारी माना जाता है। उसके लिये इस ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र से ब्रह्मविद्या का उपदेश किया गया है और जो ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं हैं, संसारासक्त व्यक्तियों के लिये द्वितीय मन्त्र से कर्म का विधान किया गया है। फलतः भगवद्-गीता के समान ही यहाँ पर भी ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा का प्रतिपादन किया गया है। इनमें भी ज्ञाननिष्ठा में अधिकार

प्राप्त करने के लिये पहले कर्म का यथावत् अनुष्ठान कर लेने पर अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है, तब वह ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो जाता है।

स्मरण रहे कि वेद किसी आदमी के बनाये हुए नहीं हैं। उन्हें तो सर्ग के आदि में पूतात्मा ऋषियों के हृदय में परमेश्वर ने प्रादुर्भूत किया। इसीलिये तो 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' मन्त्र-द्रष्टा को ऋषि कहते हैं, ऐसा ऋषियों का लक्षण किया गया। संहितोपनिषद् होने के कारण इस उपनिषद् के ऋषि, छन्द, देवता एवं विनियोग का विचार आवश्यक हो जाता है। जैसे गायत्री इत्यादि मन्त्रों के विनियोग से पूर्व उनके ऋषि, छन्द, देवता एवं विनियोग का ज्ञान आवश्यक होता है, अन्यथा अपूर्व उत्पन्न नहीं हो सकता। वैसे ही ईशाद मन्त्रों के ऊपर कुछ भी विचार करने से पहले उक्त बातों का स्मरण आवश्यक है। ईशादि अष्टादश मन्त्रों में एक ही छन्द नहीं है, अपितु पृथक्-पृथक् हैं, जिन्हें तत्तत् मन्त्रों की व्याख्या से पहले बतलाया जायेगा। ईशादि सभी मन्त्रों के दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि हैं, परमात्मा देवता है एवं आत्मज्ञान में इनका विनियोग होता है।

प्रस्तुत प्रथम मन्त्र में अनुष्टुप् छन्द है, दध्याङ्ङाथर्वण ऋषि है, भोगी (आत्मरक्षक) देवता है एवं त्याग में इसका विनियोग होता है।

दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि ब्रह्मविद्या के बहुत बड़े आचार्य थे। इनके विषय में सुना जाता है कि एक बार देवराज इन्द्र ने ब्रह्मविद्या के लिए उनके पास जाकर प्रार्थना की। भोगासक्त

विषयभोगपरायण इन्द्र से ऋषि ने कहा कि शास्त्र की मर्यादा एवं गुरुदेव की आज्ञा से किसी अनधिकारी को मैं ब्रह्मविद्या पढ़ाना नहीं चाहता, क्योंकि हमारे शास्त्र में सर्वत्र अधिकारी की चर्चा की गयी है। इन्द्र ने कहा—इतने बड़े स्वर्ग का राजा होता हुआ भी मैं ब्रह्मविद्या का अधिकारी नहीं हूँ, ऐसा आपका कहना विडम्बनामात्र है। अतः आप मुझे अनधिकारी कहकर टालने का प्रयत्न करो किन्तु आपको ब्रह्मविद्या का उपदेश करना ही पड़ेगा। ऋषि ने विवश हो ब्रह्मविद्या का उपदेश इन्द्र के सामने प्रारम्भ किया। आत्मा एवं अनात्मा का विवेक बतलाने के बाद वैराग्य की चर्चा करते हुए ऋषि ने कहा—अरे इन्द्र ! तुम अपने इन्द्रत्व का अभिमान छोड़ो। तुम्हें इस देवराज इन्द्र शरीर में देवोचित भोगों से जो सुख प्राप्त होता है, वही सुख सूकर-कूकर को अभक्ष्य के भक्षण से प्राप्त होता है। तुम्हें इन्द्राणी के साथ विलास करते समय जो ग्राम्य सुख मिलता है, वही सुख सूकर को सूकरी से एवं कूकर को कूकरी से मिलता है। इस प्रकार भोगों की निःसारता एवं तुच्छता को बतलाते हुए ऋषि ने इन्द्र के मन में वैराग्य उत्पन्न करना चाहा। साधन-चतुष्टयाभाव के कारण इन्द्र ब्रह्मविद्या का अधिकारी तो था नहीं, उसे भोगों की तुच्छता के बजाय निन्दा समझ कर क्रोध आ गया और कहा—इसी का नाम ब्रह्मविद्या है क्या ? तो ऐसी ब्रह्मविद्या का उपदेश किसी को नहीं करना। यदि किसी को उपदेश किया, तो याद रखो ? इस वज्र से तुम्हारे शिर को धड़ से पृथक् कर डालूँगा। इतना कहकर इन्द्र चला गया। कालान्तर में देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमारों ने ब्रह्मविद्या के लिए उन्हीं ऋषि से प्रार्थना की। ऋषि ने इन्द्र के साथ घटी घटना कह सुनायी। उसे सुनकर अश्विनीकुमारों

ने कहा कि आप इन्द्र की धमकी से न डरें। हमारे पास संजीवनी विद्या है, उससे इन्द्र के मारने के बाद भी हम आपको जीवित कर देंगे, ऋषि मान गये। उपदेश आरम्भ हो गया। इन्द्र के पास वायरलेस लगा हुआ था, पता लग गया। इन्द्र ने आकर ऋषि के शिर को धड़ से पृथक् कर शिर को चूर-चूर कर डाला। शिर बेकार हो गया, फिर भी अश्विनीकुमारों ने अपनी संजीवनी विद्या के बल पर ऋषि के धड़ में घोड़े का शिर जोड़कर उन्हें जीवित किया। तदनन्तर उसी अश्व के शिर से ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। जिसका संकेत बृहदारण्यकोपनिषद् के मधु ब्राह्मण से मिलता है। तात्पर्य यह है कि वही दध्याङ्ङाथर्वण इन ईशादि मन्त्रों के ऋषि हैं।

'ॐ ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ १॥

[दध्याङ्ङाथर्वण ऋषि, छन्द अनुष्टुप्, आत्मकल्याणकामी देवता, त्याग में विनियोग] 'पृथिवी पद उपलक्षित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़ चेतन पदार्थ हैं, उन्हें ईश्वर से आच्छादित कर देना चाहिये। उसी त्याग से आत्मरक्षा करो, किसी के धन की आकांक्षा न करो' यह इस मन्त्र का साधारण अर्थ हो गया।

इस मन्त्र में पूर्वार्ध से आत्मज्ञान का, तृतीय पाद से संन्यास का एवं चतुर्थ पाद से संन्यासियों के लिये नियम का प्रतिपादन किया गया है, जैसा कि भगवान् शंकराचार्यजी ने अपने भाष्य में लिखा है। मैं इस मन्त्र की आध्यात्मिक, धार्मिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से तीन प्रकार की व्याख्या करूँगा।

'ईश्' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर ईश शब्द बनता है—'ईष्टे इति ईट् शासकः' इस ईश शब्द का शक्ति वृत्ति से माया विशिष्ट चेतन, लक्षणा वृत्ति से विशुद्ध चेतन एवं व्यञ्जना वृत्ति से राम, कृष्ण, शिव इत्यादि अर्थ होते हैं। निर्गुण निराकार, सगुण निराकार एवं सगुण साकार, ऐसे परमात्मा के तीन स्वरूप माने जाते हैं। जो तीनों ही अर्थ उक्त रीति से ईश शब्द के हो जाते हैं। शब्द का मुख्य अर्थ शक्यार्थ ही होता है, जिसे शक्ति वृत्ति के द्वारा शब्द बतलाता है, किन्तु सर्वत्र शक्ति वृत्ति से ही अर्थ का बोध कराना सामान्य व्यक्ति का काम है। लक्षणा से तार्किक लोग अर्थ बोध कराते हैं और व्यञ्जना वृत्ति का सहृदय व्यक्ति ही सहृदय को बोध करा सकता है। यह व्यञ्जना वृत्ति साहित्य शास्त्र का प्राण मानी गयी है। किसी ने 'गङ्गायां घोषः' (गंगा में मकान है) ऐसा कहा तो इसका शक्यार्थ गंगा प्रवाह में मकान है, ऐसा हो जाता है किन्तु गंगा के प्रवाह में मकान का होना असम्भव होने के कारण गंगापद का लक्षणा वृत्ति से गंगातीर अर्थ करना पड़ता है क्योंकि तीर के साथ मकान का आधाराधेयभाव सम्बन्ध शक्य है। लेकिन जब कोई बार-बार गम्भीरता और कौतूहल से 'गङ्गायां घोषः' प्रयोग करता है तो वक्ता का तात्पर्य लक्ष्यार्थ बोध कराने में ही नहीं है अपितु व्यञ्जनार्थ बोध कराने में है, जिसे व्यञ्जना वृत्ति से समझा जा सकता है। वह तो 'गङ्गायां घोषः' वाक्य से यह बतला रहा है कि मेरा मकान अत्यन्त पवित्र तथा शीतल है। अपने मकान की पवित्रता एवं शीतलता को वह पुरुष व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा बतलाता है। वैसे ही यहाँ पर ईश् शब्द से त्रिविध अर्थ होते हैं। इनमें निर्गुण निराकार

ब्रह्म चैतन्य वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय है जिसे मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ करते समय बतलाया जायेगा। वही ब्रह्म अपनी अचिन्त्य शक्ति माया का आश्रय होकर संसार के सृष्टि-पालनादि कार्य करने लग जाता है, तब उसे सगुण निराकार परमेश्वर कहते हैं, जिसे बिभिन्न रूप में उपनिषदों में उपासना के लिये बतलाया गया है। वही ब्रह्म अपनी अचिन्त्य शक्ति माया को अपने वश में कर प्रेमी भक्तों के ऊपर अनुग्रह का एकमात्र विग्रह रूप धारण कर न्याय तथा उदारता के मूर्तिमान् प्रतीक भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णादि के रूप में इस पृथ्वी पर अवतरित होता है। तब उसे सगुण साकार ब्रह्म कहते हैं, जो ईश शब्द का व्यंग्यार्थ है। वैदिक सिद्धान्त को छोड़कर और कोई भी धर्म तथा संप्रदाय ऐसा नहीं, जहाँ पर तीन प्रकार के ईश्वर का समन्वय बतलाया गया हो। मैं अब आपके समक्ष इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ पहले बतलाता हूँ।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) ब्रह्म त्रिकालाबाध्य, ज्ञानस्वरूप सभी देश-काल-वस्तु में हाने के कारण अनन्त है, 'बिज्ञानमानन्दं ब्रह्म' ब्रह्म विज्ञानस्वरूप है; इन श्रुतियों से ब्रह्म का सच्चिदानन्दस्वरूप निश्चित होता है, उसमें कल्पित तादात्म्य भाव से रहने वाली अनिर्वचनीय अविद्या का ही परिणाम नाम रूपात्मक जगत् है। इन सम्पूर्ण जड़ चेतन संसार में अस्ति, भाति. प्रियरूप से वह सच्चिदानन्द तत्त्व सदा विद्यमान है, फिर भी अविवेकी पुरुष उसे नहीं जानता। आचार्य भगवत्पाद भगवान् शंकर ने सदाचारानुसन्धान में कहा है कि—

'ज्ञानमेकं सदा भाति सर्वावस्थासु निर्मलम्।
मन्दभाग्या न जानन्ति स्वरूप केवलं बृहत्॥'

सभी अवस्थाओं में विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सर्वत्र प्रकाशमान् है, लेकिन भाग्यहीन पुरुष उसे नहीं जानता। व्यापक होने से हम सब किसी के मन में वह आत्मा विद्यमान् है। उसी से सत्ता स्फूर्ति प्राप्त कर मन अपना व्यापार करता है, किन्तु इतने मात्र से आप कृतकृत्य नहीं हो सकते। आप को तो विशुद्ध चेतनात्म दृष्टि से सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् का बोध करना पड़ेगा। जिस रोज आप ऐसा कर पायेंगे, कुछ क्षणों के लिये भी; तो आपकी प्रशंसा उन आचार्यों के शब्दों में की जायेगी। उन्होंने कहा है कि—

'स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ताऽपि सर्वाऽवनि-
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च सम्पूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ।
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥"

अर्थात् जिसका मन ब्रह्मविचार में क्षणमात्र भी स्थिर हो गया उसने समस्त तीर्थों के जल में स्नान कर लिया, उसने सारी पृथिवी दान दे दी, समस्त यज्ञों को भी निष्पन्न कर दिया, सम्पूर्ण देवताओं की भी पूजा कर ली, २१ पीढ़ी तक अपने पितरों का भी उद्धार कर दिया और वह तीनों लोक में पूजा के लिये योग्य बन गया; ऐसा वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली में कहा गया है। अज्ञानी मनुष्य कुछ तीर्थों में स्नान कर सकते हैं, समस्त तीर्थों में नहीं किन्तु ब्रह्मवेत्ता को समस्त तीर्थ स्नान का फल मिल जाता है। ससारी सीमित द्रव्य एवं पृथिवी का दान कर सकता है, इसने तो सम्पूर्ण पृथिवा का भी दान कर दिया, एक जीवन में कुछ यज्ञों का अनुष्ठान करना संभव होने पर भी वेदविहित सम्पूर्ण यज्ञों का अनुष्ठान किसी भी मानव के लिये

संभव नहीं है, इसने तो सहस्र यज्ञों का फल प्राप्त किया। इसने सारे देवताओं की पूजा कर ली, जो अज्ञानी को असंभव है। ऐसे पुरुष ने संसार से न केवल अपना उद्धार किया; अपितु अपने पितरों को भी मुक्ति दिला दी। वह ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मस्वरूप होने के कारण तीनों लोक में श्रेष्ठ पूज्य है। इस प्रकार ब्रह्म-ज्ञान की महिमा शास्त्रों में बतलायी गयी है। यह सब होते हुये भी 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इस मन्त्र का आश्रय लेकर सम्पूर्ण नामरूपों को पारकर सर्वत्र चिन्मात्र तत्त्व को जो नहीं देखता; उसे मन्दभाग्य समझना चाहिये।

आज आध्यात्मिक दृष्टि से इस मन्त्र के ऊपर थोड़ा सा विचार किया गया है इसका सविस्तार विचार कल किया जायेगा।

छब्बीसवाँ दिन : 'ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्' इस मन्त्र की आध्यात्मिक व्याख्या कल के प्रसंग में की जा रही थी। 'ईश' पद लक्षित विशुद्ध चैतन्य से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के नामरूपात्मक जगत् को आच्छादित कर डालो अर्थात् नाम-रूप का बाधकर चिन्मात्र तत्त्व को बाहर-भीतर सर्वत्र देखो। ऐसा करने पर मानव जीवन सफल माना जायेगा। नाम-रूप विकल्पमात्र है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुति के अनुसार नाम-रूप केवल कहने मात्र के लिये हैं, उनकी सत्ता नहीं है। सत्ता तो केवल आत्मा की है। इस प्रकार मन्त्र के पूर्वार्ध से सर्वत्र ब्रह्मात्मदर्शन के बाद उसका संन्यास में ही अधिकार है अतएव 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस तृतीयपाद से संन्यास विधान किया तथा 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' इस चतुर्थपाद से संन्यासी के लिये नियम का विधान किया गया है।

त्याग से ही आत्मा की रक्षा संभव है। वह त्याग भी बाह्य, आभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तर भेद से तीन प्रकार का है। वस्तु के अभाव में अथवा रोगादि के कारण भी विषय का त्याग होता है इसे बाह्य त्याग कहते हैं। ऐसे त्याग से विषयाशा भी नष्ट नहीं होती वह तो परमात्मा के साक्षात्कार के बाद ही संभव है। जैसे कि कहा है—

'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २-५९)

कभी कभी बाह्य त्याग केवल आडम्बरमात्र के लिये ही रहता है।

"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते"॥

(गी० ३-६)

उपर्युक्त बाह्य त्याग का इस श्लोक से गीता में निन्दा की गई है। इसकी अपेक्षा तो मन से इन्द्रियों को वश में करते हुये कर्तव्य का पालन करने वाले की स्तुति की है।

'यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

पूर्वोक्त श्लोक में बतलाये गये दम्भाचरण करने वालों की अपेक्षा वह व्यक्ति श्रेष्ठ है, जो मन से इन्द्रियों को अपने काबू में रखता है और अनासक्त भाव से कर्तव्य कर्म का निरन्तर पालन करता रहता है।

मन को काबू में रखने के लिये बाह्य त्याग की आवश्यकता है। गीता में वैसे की निन्दा नहीं की गयी किन्तु जो मन से विषयों को चाहता है और दिखाने के लिये इन्द्रियों का संयम करता है, ऐसे त्यागी के स्वांग बनाने वाले की ही निन्दा की गयी है।

ईशावास्य मन्त्र में सर्वत्र ब्रह्मात्मदर्शी के लिये बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार के त्याग से आत्मा की रक्षा करने के लिये कहा गया है। आत्मा तीन प्रकार का है; कूटस्थात्मा, जीवात्मा तथा शरीररूपमिथ्यात्मा इनमें सम्पूर्ण जगत् के बाध के पश्चात् तदन्तःपाती जीवात्मारूप चिदाभास तथा शरीररूप मिथ्यात्मा इन दोनों का भी बाध हो ही गया है। उसकी रक्षा अनावश्यक है। पर कूटस्थ आत्मा नित्य निर्विकार है, उसकी रक्षा का भी प्रश्न नहीं उठता है। फिर भला तेन त्यक्तेन=त्यागेन स्वात्मानं भुञ्जीथाः=पालयेथाः, अर्थात उस त्याग से अपने आत्मा की रक्षा करे। ऐसा अर्थ कर भगवान् भाष्यकार किस आत्मा की रक्षा की बात कर रहे हैं ? इसका उत्तर यह है कि शुद्ध चैतन्य दर्शन के पश्चात् उस तत्त्ववेत्ता की शरीर यात्रा प्रारब्ध के ऊपर आधारित है। उसकी रक्षा उसे अभीष्ट नहीं है, किन्तु पारमार्थिक आत्मा का किसी भी प्रकार से अनात्म वस्तुओं के साथ मैं, मेरेपन का अध्यास अनर्थ करने वाला होने के कारण दूसरा उसके त्याग से अपने आत्मा की रक्षा करे। यहाँ तक कि त्याग के अभिमान को भी अनर्थ करने वाला समझ कर छोड़ दें। इस विषय पर योगवासिष्ठ में एक चूडालोपाख्यान में बतलाया गया है कि जब विदुषी चूडाला ने अपने पति के कल्याण के लिए अनेक बार प्रयत्न किये उसने बार-बार तीन शरीर से पृथक् विशुद्ध चेतनात्मा का ब्रह्मोपदेश किया किन्तु

अपनी पत्नी चूडाला के ऊपर विश्वास न होने एवं विषयासक्ति होने के कारण राजा को आत्मा का ज्ञान न हो सका। अन्त में वह रानी चूडाला घर से निकल गयी और वर्षों तक वनवास में रहकर अपने पति के कल्याण की भावना करती रही। इधर संयम एवं अनुताप से राजा का अन्त:करण भी स्वच्छ हो गया था। ब्रह्मविदुषी रानी चूडाला ने ब्रह्मचारी का वेष बनाकर उस राजधानी में प्रवेश किया। महात्मा का शुभागमन सुनकर राजा भी दर्शन के लिए गया और उससे सत्संग करने के लिए कहा। ब्रह्मचारी ने राजा को दीक्षा दी और प्रतिदिन सत्संग प्रारम्भ हुआ, उस सत्संग से राजा के अन्त:करण में आत्मा की झलक भी आने लगी। राजा ने ब्रह्मचारी रूपी चूडाला से कहा—महात्मन्! आपका आश्रम कहाँ है, मैं भी आपके आश्रम में चल सकता हूँ या नहीं? ब्रह्मविदुषी चूडाला ने राजा की प्रार्थना स्वीकार की और जंगल में अपनी कुटिया पर उसे लेकर आ गयी। वहाँ उसने कहा कि—

'न कर्मणा प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः'

राजन्! आज तक जिस किसी ने परम शान्तिरूप अमृतत्व को प्राप्त किया तो त्याग से ही; कर्म, प्रजा या धन से नहीं। ये तो आत्मा से विमुख बनाने वाले हैं। इसलिए इनका आप मोह छोड़ो और त्याग का अवलम्बन करो। राजा घर, प्रजा से मुख मोड़ चुका था, उनमें उसको आसक्ति क्षीण हो चुकी थी किन्तु उसके गुरुदेव तो अब भी उसी मन्त्र पर व्याख्यान करते चले जा रहे हैं। राजा हैरान हो गया, समझ नहीं पा रहा है कि अब क्या त्याग किया जाये? उसने क्रमशः स्थूल शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ सूक्ष्म दृष्टि से प्राणादि में आत्मबुद्धि का भी त्याग कर

दिया। महात्मा तब भी त्याग करने के लिए कह रहे थे। अन्त में राजा ने कहा कि अब तो त्यागने योग्य कुछ भी वस्तु मेरे पास नहीं रह गयी, जिसका मैं त्याग कर सकूँ। ब्रह्मविदुषी चूडाला ने राजा से कहा—हे राजन्! त्याग के अभिमान को भी त्यागो, तभी पूर्ण त्यागी कहला सकोगे और ऐसे त्याग से ही आत्मरक्षा कर पावोगे। तत्पश्चात् राजा ने अपने त्यागाभिमान को छोड़कर पूर्ण रूप से आत्मा में लिप्त हो गया। ऐसे ही त्याग से आत्मरक्षा के लिए इस ईशावास्यादि मन्त्र में बतलाया गया है। आत्माभिमान बहुत बुरी चीज है और यही आत्मा का हनन है। ऐसे शरीराभिमानी अज्ञानी को 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः' इस मन्त्र में आत्मघाती बतलाया गया है और इस आत्महनन का परिणाम घोर अन्धकार में प्रवेश बतलाया गया है। सनत्सुजातीय में कहा है कि—

'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा'॥

जीव है तो विशुद्ध चैतन्य ब्रह्मस्वरूप किन्तु अपने को शरीर अथवा शरीरधारी जीव मानता है; वह चोर है, आत्मघाती है। ऐसे व्यक्ति ने कौनसा पाप नहीं किया? अर्थात् सभी पाप कर लिये। जैसे आत्मज्ञानी सम्पूर्ण पुण्य का फल प्राप्त कर लेता है, जिसे कल के प्रसंग में 'स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले' इस श्लोक से बतलाया गया था। उसके विपरीत अनात्माभिमानी को सम्पूर्ण पापों का दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। किंबहुना मैं ज्ञानी संन्यासी हूँ, ऐसा अभिमान भी परमार्थ दृष्टि से त्याज्य माना गया है तो अन्य अभिमान की बात ही क्या? इसलिए

सभी प्रकार से बाह्याभ्यन्यर त्याग एवं उस त्यागाभिमान का भी त्याग करने पर वस्तुत: आत्मा की रक्षा हो सकती है, अन्यथा नहीं। केनोपनिषद् में प्रसंग आता है कि आचार्य के उपदेश से आत्मबोध हो जाने पर एक शिष्य गुरु के पास आकर अपना अनुभव सुनाता है गुरुदेव ! मैंने आपके उपदेशानुसार आत्मा को ठीक-ठीक जान लिया है। आचार्य ने कहा कि—

"यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥"

यदि तू समझता है, मैंने उस परमात्मा को ठीक-ठीक जान लिया तो अभी उसे किञ्चिदंश में जानता है जितना तुमने उसे समझा और जितना अन्य विद्वानों ने भी तुम्हारे जैसे ही समझा है, वह उस परमेश्वर का स्वरूप (परिच्छिन्न) स्वरूप है। इसलिये अभी भी तू जाकर ब्रह्म का विचार कर। तत्पश्चात् वह जिज्ञासु आत्मा का विचार करता है और यथार्थ बोध होने पर आचार्य से कहता है कि—

'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥'

मैं ऐसा नहीं मानता कि मैं उसे अच्छी प्रकार जानता हूँ, पर साथ ही यह भी नहीं मानता कि मैं उसे नहीं जानता। इसलिए मैं उसे जानता और नहीं भी जानता हूँ। हमारे बीच में जो कोई उस आत्मा को इस प्रकार जानता है, वही आत्मज्ञानी है। आगे के वाक्य से भी इस प्रसंग का तात्पर्य यही निकलता है कि आत्मज्ञानी में आत्मज्ञान का भी अभिमान नहीं होता, क्योंकि यह तो आत्मस्वरूप ही है। 'मैं आत्मज्ञानी हूँ'

ऐसा कहने वाला पुरुष अपने को आत्मज्ञानी तथा आत्मा को ज्ञेय बतला रहा है। ऐसा आत्मज्ञान तुच्छ माना गया है। मैं आत्मस्वरूप ही हूँ, आत्मज्ञानी नहीं, ऐसा समझने के बाद सम्पूर्ण विश्व को चिन्मयरूप से देखता हुआ सर्वथा अनात्माभिमान का त्याग कर वह तत्त्ववेत्ता आत्मा की रक्षा करता है। इस अध्यात्म व्याख्या को बताते समय 'मा गृध: कस्य स्विद्धनम्' इस चतुर्थ पाद का अर्थ इस प्रकार करना चाहिये कि जब ब्रह्मदृष्टि से सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् बाधित हो गया तो भला किसका धन है, जिसकी आकांक्षा करोगे, अर्थात् किम् शब्द आक्षेप रूप अर्थ में है। किसी के पास धन नहीं, जिसकी आकांक्षा ब्रह्मवेत्ता पुरुष कर सकें। यह तो स्वप्नदृश्य के समान कल्पित है, जो अधिष्ठान ब्रह्म के ज्ञान से बाधित हो चुका है। अत: आकांक्षा के विषयों का अभाव होने से आकांक्षा करना निरर्थक ही है; इस प्रकार इस मन्त्र की आध्यात्मिक व्याख्या संक्षेप से की गयी।

सत्ताईसवाँ दिन : आज ईशावास्यादि मन्त्र पर धार्मिक व्याख्या हम आपके समक्ष करेंगे। कुछ पूर्वाचार्यों ने केवल इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ ही किया है, कुछ आधुनिक व्याख्याकारों ने व्यावहारिक अर्थमात्र ही किया है और कुछ बीच के आचार्यों ने इसकी धार्मिक व्याख्या की, किन्तु हमें तो इस मन्त्र में आध्यात्मिक, धार्मिक तथा व्यावहारिक तीनों अर्थ ही प्रतीत होते हैं क्योंकि सर्वज्ञ परमेश्वर का बनाया हुआ वेद अपने शब्दों में अर्थगाम्भीर्य को लेकर सभी प्रकार के अधिकारियों को एक ही स्वर से उपदेश कर रहा है और ऐसा मानना आवश्यक ही है, अन्यथा सर्वज्ञ परमेश्वर की वेदवाणी एकदेशी हो जायेगी।

'ईश' शब्द का शक्यार्थ माया से उपहित चेतन ईश्वर है; ऐसा मैंने पहले बतलाया था। पारमार्थिक दृष्टि से सभी वस्तुओं में सच्चिदानन्द ब्रह्म अस्ति, भाति, प्रियरूप से विद्यमान् है। वैसे ही ऐश्वर्य दृष्टि से यह भी निश्चित रूप में समझना चाहिये कि जहाँ कहीं भी स्वल्प या अधिक मात्रा में धन, बल, बुद्धि, सौन्दर्य इत्यादि दीखते हों; वे सब ईश्वर प्रदत्त हैं। अतएव ईश्वर के ही हैं। यह बात सत्य है कि परमेश्वर जीवों के शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा करके ही सृष्टि रचता है एवं सुख-दुःख का विधान भी करता है। यदि कर्म निरपेक्ष ईश्वर किसी को सुखी किसी को दुःखी एवं किसी को सुख-दुःख से मिश्रित बनावे तो परमेश्वर के अन्दर वैषम्य दोष आ जायेगा, जो उसकी समदर्शिता का विघातक है। वैसे ही ईश्वर की अपेक्षा न कर शुभाशुभ कर्म को स्वतन्त्र फल देने में समर्थ नहीं मान सकते, क्योंकि शरीरादि से सम्पादित कर्म कुछ क्षणों के बाद ही नष्ट हो जाते हैं। किसी ने दर्श-पूर्णमास याग किया और किसी ने चोरी-जारी आदि निषिद्ध कर्म किया तो दोनों ही शुभाशुभ कर्म अपनी उत्पत्ति के तृतीत क्षण में नष्ट हो जाने वाले हैं। इनका फल स्वर्ग-सुख और नरकादि-दुःख तो वर्षों के बाद प्राप्त होते हैं। नष्ट क्रिया को कालान्तरभावी फल का जनक नहीं मान सकते अन्यथा मृतकुलाल एवं नष्ट दण्ड से भी घट की उत्पत्ति होनी चाहिये। अतएव हमारे सिद्धान्त में परमेश्वर को कर्म का साक्षी माना गया है, इसे आचार्य पुष्पदन्त ने महिम्न में कहा है—

'क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः ॥२२॥

याग करने वाले यजमान के याग नष्ट हो जाने पर भी उसके फल देने के लिये आप नित्य जगे रहते हैं। उस नित्यपुरुष आप परमेश्वर की आराधना के बिना वह नष्ट कर्म कहीं भी फल देने में समर्थ नहीं हो सकता, इसे आस्तिक यजमान पूर्ण विश्वास के साथ जानते हैं। अत: हे भगवान् शंकर ! उन शुभ वेदविहित कर्मों में फल देने वाले प्रतिभू-प्रतिनिधि के रूप मे आपको देख कर ही वह यजमान श्रुतिवाक्य में पूर्ण विश्वास कर शास्त्रीय कर्म करने के लिये दृढ़ता के साथ कर्म करने के लिये जुट जाता है और गाढ़ी कमाई के लाखों रुपयों की अग्नि में आहुति कर डालता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर निरपेक्ष स्वतंत्र कर्म फल देने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकता। वैसे ही कर्म निरपेक्ष परमेश्वर को जगत्स्रष्टा या जीव के सुख-दु:ख का विधायक नहीं मान सकते, अन्यथा उसमें वैषम्य दोष आ जायेगा। इसे आप एक दृष्टान्त से समझें। एक ही खेत में गन्ना, मिर्च तथा नींबू बो देवें और यदि उनमें जल न सींचे तो तीनों में से एक भी उग नहीं सकेगा; फल देना तो दूर ही रहा। जल सींचने पर ही गन्ने में मिठास, मिर्च में तीखापन तथा नींबू में खट्टापन आता है। एक ही जल ने तीनों में पृथक्-पृथक् रस को कैसे पैदा किया ? इसका सहज उत्तर है कि जल का काम रस-मात्र का पहुँचाना है। रस वैषम्यता का कारण उस चीज का अपना स्वभाव हो है, वैसे ही सुख-दु:खादि वैषम्य के कारण प्राणियों के कर्मसंस्कार हैं, परमेश्वर तो उन कर्मों के साथ पुरुष का सम्बन्ध मात्र करता है। इसलिये उसमें वैषम्य दोष नहीं मान सकते हैं, इसे भगवान् बादरायण ने 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' (२।१।३४)

इत्यादि सूत्रों से ब्रह्मसूत्र के वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण में बतलाया है। उस पर भगवत्पाद भगवान् भाष्यकार ने अपने भाष्य में अनेक दृष्टान्तों से ईश्वर में वैषम्यादि दोषों का निवारण किया है। अतः प्रकृति एवं उसके प्रयोजक परमेश्वर से प्राप्त धनादि ऐश्वर्य को परमेश्वर का ही मानना उचित है।

जीव को कर्म करने में सदा दो बातों का स्मरण रखना चाहिये। पहली बात यह है कि तीनों लोक में जड़ चेतन जितने भी पदार्थ हैं, उसमें परमेश्वर को व्यापक रूप से नित्य विद्यमान् देखना चाहिये। हम अशुभ कर्म में या पुनर्जन्म के ऊपर विश्वास न रहने के कारण ही प्रवृत्त होते हैं। प्रायशः अन्य व्यक्ति की दृष्टि से छिपाकर ही लोक पाप करते हैं, ऐसा करने वाले को यदि इस बात पर विश्वास है कि वह जड़ चेतन में व्याप्त परमेश्वर न केवल हमारी बाह्य क्रियाकलापों को ही देखता है, प्रत्युत हमारी भावनाओं को और कर्मजन्य अदृष्ट को भी प्रत्यक्ष जानता है। अवश्य इस पाप कर्म का पता इस जन्म में या मरने के बाद परमेश्वर भोगायेगा, इस प्रकार विश्वास रहने पर कभी पाप कर्म में प्रवृत्ति उस आस्तिक पुरुष की हो नहीं सकती। जब हम राजदण्ड से भयभीत हो लोक में राजा या उसके अमात्यादि के सामने नियम विरुद्ध काम करने से हिचकते हैं, समाज से लजाते हैं तो भला राजाधिराज अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परमेश्वर के देखते-देखते पापकर्म कैसे कर सकेंगे! आज समाज में इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि भ्रष्टाचार और अनैतिकता को समाप्त करने के लिये जन समाज में उक्त प्रकार से आस्तिक भावना जगायी जाय। आज की सरकार भी इस बात को महसूस कर रही है कि भ्रष्टाचार एवं अनैतिकता के उन्मूलन बिना समाज

तथा राष्ट्र में स्वस्थ जीवन नहीं आ सकता। भ्रष्टाचार मिटाने के लिये कानून तथा अनेक अशास्त्रीय उपायों का आवलम्बन सरकार कर रही है। पर हमारा दृढ़ विश्वास है और कोई भी विवेकशील व्यक्ति विवेक से काम लेने पर इस निश्चय पर पहुँच सकते हैं कि केवल कानून का आश्रय लेकर कभी भी भ्रष्टाचार को रोका नहीं जा सकता। कानून का शासन प्रजा के बाह्य व्यापार के ऊपर चल सकता है, उसकी मानसिक भावना के ऊपर नहीं। भावनाओं को विशुद्ध बनाये विना भ्रष्टाचार तथा अनैतिकता नहीं हट सकती है। अतः सर्वज्ञ वेद ने 'ईशावास्यमिदं॑ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' इस वाक्य से जड़ चेतन सभी वस्तुओं में अन्तर्यामी परमेश्वर को व्यापक रूप से देखने के लिये कहा है।

कर्म करने के लिये दूसरी बात यह है कि उक्त रीति से ईश्वर एवं पुनर्जन्म के ऊपर विश्वास कर लेने के बाद भी कर्मफल की आशा जीव को सदा दीन बनाये रखती है। अतः कर्तव्य कर्म का ईश्वरार्पण बुद्धि से पालन करते हुये भी कर्मफल प्राप्ति के लिये कुछ विघ्न न हो, ऐसी कोई बात नहीं है कि फल की आकांक्षा करने वालों को ही फल मिलेगा और आकांक्षा न रखने वालों को फल नहीं मिलेगा। खेती आरम्भ करने से पहले, खेती करते समय और उसके फल के लिये व्याकुल चित्त व्यक्ति को जैसे फल प्राप्त होता है और खेती उपजती है। वैसे ही फलाकांक्षा न रखने वाले कर्तव्यपरायण, खेती में नित्य संलग्न किसान को भी फल मिलता ही है। अन्तर इतना ही पड़ेगा, कि हवाई किला बनाने वाले फलाकांक्षी कृषक् को खेती न उपजने पर महान् दुःख का सामना करना

पड़ेगा किन्तु फल की आकांक्षा से शून्य वीर पुरुष वहाँ भी शान्त, प्रसन्न ही रहेगा। इसीलिये तो भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' हे अर्जुन! फलाकांक्षा रखकर किया गया कर्म तुच्छ माना गया है। फलाकांक्षी पुरुष सदा दीन बना रहता है। इसीलिये कल्याणकामी पुरुष को चाहिए कि अपने आत्मकल्याण के लिये फलाभिलाषा का परित्याग कर परस्पर में व्याप्त ईश्वर को देखते हुए कर्म करे। इसी में उस साधक की आत्मा का कल्याण हो सकता है। इसे ही 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस तृतीय पाद से श्रुति बतला रही है। इस प्रकार से कर्म करने पर न केवल उसे मरने के बाद परलोक प्राप्त होगा, बल्कि लोक में भी उसे शान्ति मिलेगी। इस सिद्धान्त के ऊपर ही स्वस्थ समाज और राष्ट्र का निर्माण हो सकता है। हमारे देश में आस्तिक ईश्वरवादी लोगों में भी पूर्वोक्त दोनों बातों का अभाव सा दीखता है। हम जितना पाश्चात्यों को म्लेच्छ कहकर उपेक्षा दृष्टि रखते हैं, उनमें कितनी कर्मनिष्ठा है, उतनी प्रायशः हमारे आस्तिकों में नहीं दीखती है। लोग फल की आकांक्षा से और फल मिल जाने के बाद भी अपने कर्तव्य को प्रमुखता नहीं देते। इसलिये आज हमारे देश की दयनीय स्थिति है कि हम चाहते है अधिक से अधिक फल प्राप्त करें; लेकिन काम कम करना पड़े। फलाकांक्षा न रहने पर या तो हमारी कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होती या प्रवृत्त होने पर भी लोग उसे बला समझते हैं। जब कि इसके विपरीत हमारा सिद्धान्त है कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २-४७)

हे अर्जुन ! तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में ही है, फल में कभी भी नहीं है। फलाकांक्षा रखकर तुम कर्मफल का हेतु और पुनर्जन्म का निमित्त न बनो क्योंकि फलाकांक्षा रहने पर फल भोगने के लिये पुनर्जन्म अवश्य होता है। याद रखो कि कहीं ऐसी स्थिति में तुम कर्म करने में आलस्य न कर बैठो, क्योंकि तुम्हारे लिये कर्म का परित्याग भी अनर्थ का कारण बन जायेगा। भगवान् श्रीकृष्ण के उक्त वाक्य से जो ठोस सिद्धान्त निकलता है, वह इस श्रुति का ही तात्पर्य है।

उक्त रीति से चराचर जगत् में परमात्मा को व्याप्त देखते हुए फलाकांक्षा का परित्याग कर आत्मकल्याण के लिये साधक को शास्त्रोक्त कर्म में सदा तत्पर रहना चाहिये, यह ईशावास्य के तीन पाद का धार्मिक व्याख्यान हुआ। यह सब होते हुए भी वर्तमान समय में प्रारब्धानुसार प्राप्त धनादि की भोगाभिलाषा, धन का सञ्चय एवं उसके भोग के लिये साधक को दीन बना सकती है। इस दीनता से ऊपर उठने के लिये चतुर्थपाद में श्रुति कहती है कि 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'। आध्यात्मिक व्याख्या करते समय 'कस्य' शब्द का अर्थ आक्षेप किया गया था अर्थात् नामरूप जब मिथ्या है जो फिर आकांक्षा किसकी करोगे ? किन्तु धार्मिक व्याख्यान पक्ष में 'कस्य' का अर्थ परमात्मा करना चाहिये अर्थात् सारा ऐश्वर्य परमात्मा का ही है। अतः उसके जुटाने या भोगने के लालच में न पड़ो। 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इस वाक्य से परमात्मा को 'कं' शब्द से कहा गया है। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" इस वेदवाक्य में 'कस्मै' पद से परमात्मा को ही बताया

गया है । 'ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च । उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः ।। (भा० १०-१३।१८) बालक एवं बछड़ों को ब्रह्मा ने चुराकर पहाड़ की गुफा में बन्द रखा है. इसे जानने के बाद विश्वस्रष्टा परमेश्वर श्रीकृष्ण ने उनकी माताओं एवं ब्रह्मा को भी आनन्द देने के लिये गोप-बालक तथा बछड़ों के रूप में अपने को बनाया । भागवत के इस वाक्य में भी 'कस्य' पद से विधाता अर्थ लिया गया है । वैसे ही 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' इस वाक्य में 'कस्य' पद का अर्थ परमात्मा करना चाहिये । स्वामी के ऐश्वर्य के प्रति सेवक के मन में लालच अनर्थकारी ही है । अतः कल्याणकामी व्यक्ति को वर्तमान सुख-ऐश्वर्य के जुटाने एवं भोगने में तत्पर नहीं होना चाहिये किन्तु उसे भगवान् का प्रसाद समझकर अपने मन की निधिरूप परमात्मा की सेवा में लगाना चाहिये । यही इस मन्त्र का धार्मिक अर्थ है । जिसे मैंने संक्षेप में बतलाया । शेष बातें आगे कही जायेंगी ।

अठाईसवाँ दिन : आज मैं ईशावास्य मन्त्र की कुछ शेष धार्मिक बातों की व्याख्या कहूँगा । सर्वज्ञ वेद ने एक ही स्वर से उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ अधिकारी को उपदेश किया है । जड़ और चेतन में सर्वत्र ईश्वर-भावना साधारण पुण्य का फल नहीं है । अनेक जन्मों के संचित पुण्य के फलस्वरूप परलोक तथा ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास होता है । ईश्वर-विश्वासी कभी भी दु खी हो नहीं सकता क्योंकि उन्हें ईश्वर के प्रत्येक संविधान में अपना हित ही दीखता है । ईश्वरभक्त अन्य किसी की भी आशा नहीं रखता, इसे मानस में मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम ने स्वयं अपने मुख से कहा है कि—

मोर दास कहाय नर आशा । करैं तो कहहु कहाँ विश्वासा ।।

अर्थात् मेरा भक्त किसी अन्य की आशा रखता हो तो भला मुझ विश्वम्भर के ऊपर उसे विश्वास कहाँ है ? भक्त को गीता के—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" ॥ ९-२२ ॥

इस भगवद्वाक्य के ऊपर दृढ़ विश्वास होना चाहिये । यदि भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रतिज्ञावाक्य के ऊपर विश्वास नहीं तो मन्दिरों में उनकी प्रतिमा की पूजा कर तथा उनके नाम और गुण का स्मरण करने पर भी वह पूरा भक्त न कहला सकेगा और न ऐसी भक्ति से विशेष लाभ ही हो सकेगा ।

एक ब्राह्मण अनन्य भाव से अपने नित्य कर्म, उपासना तथा गीतापाठ में लगा रहता था । प्रातः ब्राह्म मुहूर्त में उठकर गंगा किनारे जाना, सन्ध्यादि नित्य कर्मों से निवृत्त हो, अत्यन्त भावना में विभोर हो, गीताजी का पाठ करता था । बारह बजे घर लौटना और जो कुछ भी भगवत् कृपा से प्राप्त हो जाय उसे खाकर संतुष्ट रहना, यह उसका दैनिक कृत्य था । ब्राह्मण का छोटा भाई उसके प्रति अत्यन्त निष्ठा तथा भक्ति रखता था । वह अपने ज्येष्ठ भाई की भगवद्भक्ति से ही संतुष्ट रहता और घर का सारा उत्तरदायित्व उसने अपने ऊपर ले रखा था । अत्यन्त भ्रातृभक्त होता हुआ भी अपनी धर्मपत्नी की अनेक बार की व्यंग्योक्ति तथा अनुरोध पर विवश हो उसे बड़े भाई से कहना पड़ा कि भैया ! आप भी कुछ घर का काम देखें । भगवद्भक्त उस ब्राह्मण को अपने दैनिक कृत्य से फुरसत कहाँ थी, जो वह और संसार की चिन्ता कर सके । अन्त में छोटे भाई ने आपस में बँटवारा करने का निश्चय किया और बाँट भी लिया । इतने पर भी वह ब्राह्मण भक्त

संतुष्ट ही रहा। बंटवारे से प्राप्त धन के द्वारा उस ब्राह्मण भक्त की पत्नी गृहकार्य चलाने लगी। अन्त में वह धन समाप्त हो गया। उसके बाद ब्राह्मणी ने कहा अब तो घर में कुछ भी नहीं रह गया है, फिर भी ब्राह्मण ने ध्यान नहीं दिया और वे पूर्ववत् अपने दैनिक कृत्य के लिये गंगा के किनारे गये। सन्ध्यावन्दनादि के बाद गीतापाठ करते हुए नवमाध्याय का 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां' यह श्लोक आया। ब्राह्मण विचार में पड़ गया, मैं अनन्य भाव से भगवान् की उपासना करता हूँ, फिर भी मेरे योगक्षेम का वहन परमेश्वर तो करते नहीं। अतः निश्चय ही किसी ने इस श्लोक को पीछे से गीता में जोड़ दिया। उस श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर ब्राह्मण भक्त ने उस पर हड़ताल फेर दी। उधर भगवान् को भक्त की अधीरता देखकर रहा नहीं गया और एक सेठ का भेष बनाकर गाड़ियों में समान भरके ब्राह्मण के दरवाजे में आवाज़ लगायो। गुरुदेव दर्शन दो। अभी ब्राह्मण दैनिक कृत्य करके गंगा के किनारे से लौटे नहीं थे। अज्ञात व्यक्ति की आवाज़ सुन ब्राह्मणी ने दरवाजे पर आकर देखा तो गाड़ियों में सामान भरकर दरवाजे पर एक सेठ खड़ा है। उसने कहा—आप कौन हैं, यहाँ कैसे आये ? सेठजी ने कहा— मैं पण्डितजी का पहला शिष्य हूँ और उन्हीं के लिये यह सामान लाया हूँ। आप इसे अपने घर में रखें। सेठ के अनुरोध को स्वीकार कर ब्राह्मणी ने सभी सामान अपने घर में रखवा दिया और चलते समय पुनः सेठ से पूछा—आपका क्या नाम है ? सेठ ने कहा—मैं सामलिया सेठ हूँ और पंडितजो का शिष्य हूँ। आप उनसे कह देंगी—आपका वही शिष्य यह सामान दे गया है, जिसके नाम पर अपने हड़ताल फेरी है, सेठ वहाँ से चल दिया।

दैनिक क्रिया से निवृत्त हो ब्राह्मण जब घर को लौटे तो भगवान् की असीम अनुकम्पा देख और पत्नी के मुख से सारे वृत्तान्त को सुनकर आनन्द में विभोर हुआ। अपनी भूल पर उन्हें पश्चात्ताप भी हुआ और पुनः ब्राह्मण भक्त के मन में भगवान् पर दृढ़ आस्था तथा विश्वास उत्पन्न हो आया। इस दृष्टान्त से तात्पर्य यह है कि गोता के उक्त वाक्य पर विश्वास कर अनन्य भाव से भगवच्चिन्तन करने वाले भक्त का योगक्षेम भगवान् अवश्य वहन करते हैं। इसलिये भक्त को कभी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। भगवान् की जगद्व्यापकता पर पूर्ण विश्वास करके भगवदर्पण बुद्धि से सत्कार्य एवं उपासना में निरत व्यक्ति को उनका फल भी प्राप्त होता है और साथ-साथ अन्तःकरण की शुद्धि रूप अलौकिकता मिलती है। यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है कि लौकिक नियमानुसार फलाकांक्षा का परित्याग कर भगवदर्पण बुद्धि से कर्म करने वाले व्यक्ति को चाहे अन्तःकरण की शुद्धि रूप फल भले ही मिले किन्तु कर्म और उपासना का फल उसे नहीं मिल सकता। संसार का यह नियम है कि अपना धन बैंक में दूसरे के खाते में जमा कर देने पर वह अधिकारी नहीं रह जाता बल्कि जिसके नाम पर जमा किया है, वही उसका अधिकारी है और उसी के हस्ताक्षर पर उस धन को निकाला जा सकता है। ऐसे ही फल के सहित कर्म भगवान् को अर्पण कर देने के बाद जीव कैसे फल का भागी बन सकेगा? इसका उत्तर यह है कि वेदान्तसिद्धान्तानुसार अविद्या या अन्तःकरण के चेतन के प्रतिविम्ब को जीव कहते हैं। और बिम्ब चेतन को ईश्वर कहते हैं। उपाधि के कारण से बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भेद दीखता है, वस्तुतः वह एक ही है। जैसे दर्पण में दीखने वाला प्रतिबिम्ब ग्रीवास्थ-बिम्बरूप

मुख से भिन्न नहीं है किन्तु नेत्र के द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति निकल कर स्वच्छ दर्पणरूप उपाधि के सम्बन्ध से लौटकर ग्रीवास्थ मुख को ही देखती है, न कि दर्पण का मुख के समान विकार हो गया है। यदि ऐसा होता तो स्पर्श करने पर दर्पण में मुख के समान ही ऊँचा नीचा मुखाकार रूप से परिणत हुए दर्पण में भी दीखता। किंतु किसी को भी मुख के समान भाव दर्पण में नहीं दीखता है। वैसे ही मुख के संबन्ध से दर्पण में कोई धब्बा नहीं पड़ता है; अन्यथा मुखसंबन्धी भान दशा में भी दर्पणस्थ धब्बे को दीखना चाहिए। दोनों ही बात न दीखने के कारण दर्पण में प्रतिबिम्ब नामक कोई चीज नहीं है अपितु स्वच्छ दर्पण के स्पर्श से प्रतिहत नेत्ररश्मियाँ लौटकर ग्रीवास्थ मुख को देखती हैं। इस रहस्य को न जानने के कारण ही विम्ब-प्रतिबिम्ब को भिन्न-भिन्न माना गया है; वस्तुतस्तु एक ही है। वैसे ही परमार्थ दृष्टि से प्रतिबिम्ब जीव और ईश्वर एक ही है। ऐसी स्थिति में प्रतिबिम्ब को चन्दन, माला, पुष्प इत्यादि से अलंकृत करने की इच्छा वाले पुरुष को ग्रीवास्थ मुख के ललाट में ही चन्दन लगाना एवं गले में माला पहनाना उचित होगा। ऐसा करने पर प्रतिबिम्ब को अपने आप अलंकृतरूप में देखेगा। यदि किसी ने इसके विपरीत किया अर्थात् ग्रीवास्थ मुख में चन्दन न लगाकर, गले में माला न डालकर आपाततः दीखनेवाले दर्पणस्थ प्रतिविम्ब के ललाट में चन्दन लगाया और दर्पणस्थ गले में माला पहनाना चाहा तो वे दर्पण को प्राप्त होंगे; न कि प्रतिबिम्ब को वैसे ही अन्तः-करण या अविद्या में चेतन के प्रतिबिम्बरूप जीव को फल प्राप्त कराने की इच्छा से उसके बिम्बरूप परमेश्वर में ही फल के सहित कर्म समर्पण करने पड़ेंगे। अन्यथा प्रतिबिम्ब

जीव को फल प्राप्त न हो सकेगा । इस बात का समर्थन श्रीमद्भागवत में भगवान् नृसिंह के लिए प्रह्लाद के द्वारा की गयी स्तुति से मिलता है । भक्त प्रह्लाद ने अपनी स्तुति में कहा है कि—

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥
(भा० ७ ९-११)

अर्थात् मनुष्य सब कुछ करके भी अपने लिए कुछ भी नहीं कर पाता । किन्तु जिस-जिस वस्तु को भक्त भगवान् के चरणों में समर्पण करता है, वह वस्तु भक्ति करने वाले भक्त को ही मिलती है । जैसे ग्रीवास्थ मुख में किये गये अलंकार दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब को अपने आप ही प्राप्त हो जाते हैं । उक्त दृष्टान्त एवं प्रमाण से यह बात स्पष्ट हो गयी कि फलाकांक्षा का परित्याग कर चराचर जगत् में व्याप्त परमेश्वरार्पण बुद्धि से शास्त्रोक्त कर्म करने वाले भक्त को प्राप्त होते ही हैं । साथ ही अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति भी हो जाती है । यही सकाम कर्म करने वालों की अपेक्षा निष्काम भाव से कर्म करने वाले भक्तों में विशेषता है और इसी का उपदेश ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्' इत्यादिक वेदवाक्य कर रहा है, जिसे मैंने इस मन्त्र की धार्मिक व्याख्या करते हुए बतलाया ।

उन्तीसवां दिन : ईशादि मन्त्र के आध्यात्मिक तथा धार्मिक दृष्टि से व्याख्यान करने के बाद आज मैं आपके समक्ष व्यावहारिक दृष्टि से इसका व्याख्यान करने जा रहा हूँ ।

आध्यात्मिक व्याख्यान के समय 'ईश' शब्द का सच्चिदानन्द ब्रह्म तथा धार्मिक व्याख्यान के समय मायोपाधिक अन्तर्यामी परमेश्वर अर्थ किया गया था। अब 'ईश' शब्द का विलक्षण ही अर्थ किया जायेगा। घर, समाज, राष्ट्र या विश्व का शासन करने वाले में दो अपूर्व बातों का होना नितान्त आवश्यक है। एक न्याय और दूसरी उदारता। न्याय के लिये यथार्थ बोध की आवश्यकता है, तथा उदारता के लिये सहृदयता की आवश्यकता है। अज्ञानी या अल्पज्ञ यथार्थ न्याय कर नहीं सकता। वैसे ही स्वार्थ परायण उदारता का व्यवहार नहीं कर सकता। अतएव वह उक्त समाजादि के शासन में सफल नहीं माना जा सकता है। अन्तर्यामी परमेश्वर से लेकर उनके अवतार राम-कृष्ण इत्यादि में ये दोनों बातें पद-पद पर देखी गयी हैं। इसीलिये समाज का नेतृत्व करने में ये लोग सफल रहे हैं।

हम सारी दुनिया से न्याय और उदारता की आशा रखते हैं। तो हमारा भी यह कर्तव्य हो जाता है कि हम भी जड़ और चेतन सभी पदार्थों के साथ न्याय तथा उदारता का बर्ताव करें। यही 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' इस मन्त्र का व्यावहारिक अर्थ है। जो ईश्वर को नहीं मानता और जिसने वेद-शास्त्र का अध्ययन भी नहीं किया; ऐसे लोगों को कर्तव्य-कर्म का उपदेश कैसे किया जाये; यह एक समस्या है। हम ऐसे लोगों को ही अपनी दृष्टि में रखकर इस मन्त्र का व्यावहारिक अर्थ करते हैं। धर्म जिसे कर्तव्य कर्म भी कहते हैं, उसके सम्बन्ध में भगवान् मनु ने कहा है कि—

'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥'

वे कहते हैं कि श्रुति, स्मृति, शिष्टाचार और अपने अन्त:-करण की प्रसन्नता; ये चारों धर्म के विषय में प्रमाण माने गये हैं। ऐसी परिस्थिति में जिसने श्रुति-स्मृति नहीं पढ़ी है; वह शिष्ट पुरुषों के आचरण को ही धर्म के विषय में प्रमाण माने। जहाँ शिष्ट पुरुष का मिलना भी दुर्लभ हो गया हो, वहाँ अपने अन्त:करण की प्रसन्नता को ही धर्म के विषय में प्रमाण समझे। जब हम स्वयं जीते रहना, सुखी रहना चाहते हैं, तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम किसी प्राणी के जीवन पर और सुख पर कुठारापात न करें। हमारे धन, जन, बेटी, बहू और अन्य किसी परिवार पर कुदृष्टि करने वाला बुरा एवं पापी है, तो किसी के धन, जन, बेटी-बहू के ऊपर बुरी दृष्टि करके कैसे हम पाप से वञ्चित रह सकेंगे तथा कैसे धर्मात्मा बन सकेंगे? अत: धर्म का निर्णय अपने सात्त्विक अन्त:करण से अति सरलतया हो जाता है। यदि इसके आधार पर आप समाज में सर्वत्र बर्ताव करते हैं तो आप धर्मात्मा, महात्मा एवं सर्वत्र ईश्वरदर्शी हैं। ऐसे व्यक्ति को भगवान् श्रीकृष्ण ने सबसे बड़ा योगी और बुद्धिमान् माना है। वे गीता में कहते हैं कि—

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥'

हे अर्जुन! यद्यपि मैंने अनेक योगियों की चर्चा तुम्हारे सामने की है। इनमें बड़ा कौन है, इस प्रश्न का सहज उत्तर है कि जो अपने को दृष्टान्त मानकर सारे विश्व में सर्वत्र सब किसी से समान रूप से बर्ताव करता है वह योगी बड़ा है, वही सम्पूर्ण कर्मों का करने वाला और बुद्धिमान् है। भगवान् श्रीकृष्ण के इस वाक्य से यह स्पष्ट अर्थ हो गया कि कर्तव्य के

निश्चय में अपना सात्त्विक अन्तःकरण दुर्बल नहीं पड़ेगा। वेद सर्वज्ञ है। वह उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ सभी अधिकारियों को एक स्वर से कर्तव्य कर्म का बोध करा रहा है। साधक अपने अधिकार के अनुसार किसी भी अर्थ को अपने जीवन में आत्मसात् कर कल्याण प्राप्त कर लेगा, इसमें सन्देह नहीं है। गाड़ी में प्रथम, द्वितीय श्रेणी ही होती है, अन्य श्रेणी नहीं होती। एक ही गाड़ी की प्रथम श्रेणी में बैठने वाला दो घंटा पहले बम्बई पहुँच जायेगा और **द्वितीय श्रेणी में** बैठने वाला दो घंटा बाद में पहुँचेगा, ऐसी बात नहीं है किन्तु सभी डिब्बों में बैठने वाले यात्री एक साथ ही अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँचेंगे। ठीक ऐसे ही उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ अधिकारी अपने अधिकार के अनुरूप मार्ग पर श्रद्धा एवं विश्वास के साथ चलता रहे तो एक साथ ही मंजिल तय कर लेगा। पर यह भी याद रहे कि इनके अतिरिक्त चतुर्थ मार्ग कल्याण प्राप्ति का नहीं है। कभी-कभी अज्ञान के कारण सर्वोत्तम मार्ग को कठिन मानकर साधक उससे दूर भागता है। इसे मैं एक दृष्टान्त से समझाता हूँ—

कोई एक ग्रामीण किसान हमेशा गाँव में रहकर खेती से अपनी जीविका चलाया करता था। भाग्य से उसका एक पुत्र बड़ा भारी विद्वान् हो गया और वह उस जिले के सिटी इञ्जिनियर पद पर नियुक्त हुआ। पुत्र को देखने की अभिलाषा से वह किसान पुत्र के पास गया। वहाँ अपने पुत्र के ऐश्वर्य को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। पितृभक्त उस इञ्जिनियर ने भी अपने पिता की सेवा शुश्रूषा की और चलते समय अपनी कार में पिता को बैठाकर स्टेशन पर ले गया। साथ में उसके अनेक मित्र तथा नौकर भी गये। इञ्जिनियर साहब अपने पिता को सैकिण्ड

क्लास के डिब्बे में बैठायें, यह एक हँसी की बात है। अतः फस्ट क्लास के डिब्बे में अपने पिता को बैठाया। गाड़ी छूटने पर वे लोग चले गये। दूसरे स्टेशन पर गाड़ी आयी। यात्रियों की बड़ी भारी भीड़ थी। सभी अपने टिकट के अनुरूप डिब्बे में धक्काधक्की से बैठ रहे थे। फस्ट क्लास में बैठा हुआ किसान सभी की ओर देख रहा था। उस डिब्बे में वह अकेला ही था। यात्री उसके डिब्बे के पास आकर दरवाजे से झाँककर यह कहते हुये आगे बढ़ जाते थे कि अरे! यह तो फस्ट क्लास है, इसमें न बैठो। एक ने कहा, दूसरे ने कहा; तबतक बहुत से यात्री इन्हीं शब्दों को दुहराकर सैकिण्ड क्लास के डिब्बे में बैठ रहे थे। बेचारे उस किसान के मन में यह उधेड़-बुन सवार हो गई कि इस डिब्बे में खतरा है, इसीलिये सभी यात्री इसकी ओर झाँककर और कुछ गुनगुनाते हुये आगे चले जा रहे हैं। अतः मेरा इस डिब्बे में बैठे रहना खतरे से खाली नहीं है। कुछ देर तक उसने अपने को समझाया। अन्त में उससे बर्दाश्त नहीं हुआ और वह अत्यन्त जल्दबाजी में अपनी गठरी और लमि को लेकर उस फस्ट क्लास के डिब्बे से उतरकर उसी ओर दौड़ा जहाँ सैकिण्ड क्लास डिब्बे के दरवाजे पर लोग एक दूसरे को धक्का देकर गाड़ी में बैठ रहे थे। सभी के गाड़ी में बैठ जाने के बाद उस बूढ़े किसान को भी एक सज्जन ने सहारा देकर गाड़ी में चढ़ा दिया, तब कहीं उसकी जान में जान आयी। उसे मुश्किल से खड़े रहने की जगह मिल सकी थी; फिर भी वह इस बात से प्रसन्न था कि हम ईश्वर कृपा से खतरे से निकल आये। ऐसे ही सर्वत्र ज्ञानमार्ग के सम्बन्ध में आजकल के उपासक और कर्मियों का बर्ताव हो रहा है। वे वेदान्त विचार ज्ञानमार्ग को कठिन बतलाकर धक्का-धक्की वाला मार्ग तीर्थयात्रा इत्यादिक

में लगे हुये हैं। हम ऐसे लोगों से बचनेके लिये अपने उत्तम अधिकारी श्रोताओं को सावधान करते हैं कि वे राजमार्ग वेदान्त विचार का परित्याग न करें। साथ ही यह भी कहते हैं कि जिनका अधिकार इसमें नहीं है, वे दूसरों की टीका टिप्पणी करते हुये अपने अधिकारानुरूप उपासना, धर्म तथा सदाचार में दृढ़ विश्वास के साथ लगे रहें। निश्चय ही उनका भी कल्याण होगा। इसीलिये तो हमने इस मन्त्र की तीन प्रकार से व्याख्या की। अतः अपने आप को ही उदाहरण बनाकर पृथिवी के जड़-चेतन सभी वस्तुओं के साथ पूर्ण न्याय तथा उदारता का बर्ताव करना चाहिये, क्योंकि वह सब किसी से इनकी आशा रखता है। धर्मशाला में जाने पर स्वच्छ कमरे को देखकर आप प्रसन्न होते हैं और गन्दे को देखकर गन्दा करने वाले अज्ञात व्यक्ति को भी गाली देने से नहीं छोडते हैं। अतः हम भी वहाँ से प्रस्थान करते समय उस कमरे को स्वच्छ तथा पवित्र बनाकर जायें; यह हमारा कर्तव्य बन जाता है। स्वच्छ जल, स्वच्छ जगह और स्वच्छ वायु तथा वातावरण जब हमें पसन्द आते हैं तो हम इन्हें अस्वस्थ क्यों रखें ? इन चीजों को गन्दा बनाने का हमारा क्या अधिकार है ? यही इस मन्त्र के पूर्वार्ध का व्यावहारिक अर्थ है। शेष बातें आगे कहूँगा—

तीसवाँ दिन : ईशावास्य मन्त्र के व्यावहारिक अर्थ का समर्थन रामचरितमानस में भी मिलता है। जैसा कि हमने कल कहा था कि शासक को पूर्ण न्याय तथा उदारता से युक्त होना चाहिये। शासक ही नहीं बल्कि स्वस्थ समाज-निर्माण के लिये प्रत्येक व्यक्ति को सब किसी के साथ न्याय और उदारता का बर्ताव करना चाहिये क्योंकि हम सबसे इन बातों की आशा

रखते हैं। राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् मामा के घर से आये हुये भरतलाल पिता का अन्त्येष्टि संस्कार एवं श्राद्धादि-कृत्य करके मुक्त हो गये। वशिष्ठजी की अध्यक्षता में राजा दशरथ के निश्चयानुसार भरतलाल को राजगद्दी पर अभिषेक करने के लिये सभा बुलायी गयी। तदर्थ प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुये वशिष्ठजी ने कहा—राजा दशरथ के विषय में कतई शोक नहीं करना चाहिये। शोक के योग्य संसार में कौन-कौन हैं; उनका परिगणन करते हुये उन्होंने कहा—

'सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लयलीना।
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना'

समाज के नेता तथा संचालक ब्राह्मण एवं क्षत्रिय को माना गया है। ब्राह्मण में वेद विज्ञान एवं विषयलम्पटता का परित्याग कर सदा उसके प्रचार प्रसार में लगे रहना स्वाभाविक गुण है। यदि यह न हो तो उसके सम्बन्ध में शोक करना चाहिये। वैसे ही राजा अर्थात् क्षत्रिय में नीति का यथार्थ ज्ञान तथा प्रजा के प्रति प्राण के समान प्रेम होना ही स्वाभाविक गुण है। यदि यह न हो तो उसके सम्बन्ध में शोक करना चाहिये। मानस की इस पंक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि समाज एवं राष्ट्रसंचालन के लिये शासक में नीति और उदारता होनी चाहिये। इसके बिना वह सफल शासक नहीं माना जायेगा। महर्षि वाल्मिकि के आश्रम में रामजी के पहुँचने पर रामजी के ऐश्वर्य का वर्णन करते हुये स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि राम परब्रह्म परमात्मा है। फिर भी रामजी अपने ऐश्वर्य को छिपाना ही चाहते थे। श्री रामजी का कहना था कि मुझे रहने के लिए ऐसा स्थान बतलावें कि जहाँ पर मेरे रहने से महात्माओं के मन में उद्वेग न हो, क्योंकि—

"मुनि तापस जिन्हतें दुःखु लहहीं।
ते नरेस बिनु पावक दहहीं॥
मंगल मूल बिप्र परितोषू।
दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू॥
ग्रस जियँ जानि कहिग्र सोइ ठाऊँ।
सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ॥
तहँ रचि रुचिर परन तृन साला।
बासु करौं कछु काल कृपाला॥"

मुनि ग्रौर तपस्वी जिन नरेशों से दुःख पावें, वे तो बिना ग्राग के ही जलकर राख हो जायेंगे। ब्राह्मणों का सन्तोष ही मङ्गल का मूल है। उनका क्रोध तो करोड़ों कुल को जला डालता है। ऐसा समझ हमें उचित स्थान बतलावें। कि जहाँ सीता लखन के सहित जाकर सुन्दर पर्णकुटियाँ बनाकर कुछ काल रह सकूँ। राम के इस प्रश्न का उत्तर देते हुये ऋषि ने कहा कि ग्राप कहाँ नहीं है, उन स्थानों को ग्राप पहले बतावें। यथा—

"पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ में पूँछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ॥"

ग्राप जहाँ नहीं है, ऐसे स्थान को बतावें; फिर मैं उनमें से ग्रापके निवास योग्य स्थल बतला दूँगा। उसके बाद साधन साध्य की दृष्टि से ऋषि वाल्मीकि जी ने १४ स्थान बतलाये। उनमें दशम स्थान यह है कि—

"ग्रवगुन तजि सबके गुन गहहीं।
बिप्र धेनु हित संकट सहहीं॥
नीति निपुन जिन्ह कह जग लीका।
घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका॥"

कोई ऐसा व्यक्ति या पदार्थ संसार में नहीं जिसमें केवल गुण ही गुण हो और दोष न हो, अर्थात् सभी गुण-दोष से युक्त है। फिर भी जो पुरुष उनके अवगुणों का त्याग कर गुण मात्र को ग्रहण करते हों और ब्राह्मण तथा गौ के हित के लिये संकट सहते हों, जिनकी निपुण नीति का प्रमाण सम्पूर्ण लोक हो, हे राम ! ऐसे महापुरुष का मन ही आपका निवास स्थल है। अतः आप वहीं जाकर निवास कीजिये। इन दो चौपाइयों में व्यावहारिक दृष्टि से न्याय एवं औदार्य से युक्त व्यक्ति का मन ही भगवान् का निवासस्थान है। अतः जो अपने मन तथा विश्व में शाश्वत शान्ति स्थापित करना चाहता है; वह संसार की सभी वस्तुओं के साथ नीति और उदारता का बर्ताव करें, तभी स्वस्थ समाज तथा राष्ट्र का निर्माण हो सकता है। ऐसे व्यक्ति को यथासम्भव त्यागपूर्वक ही भोग करना चाहिये और किसी के धन की लालच नहीं करनी चाहिये क्योंकि विलासी जीवन तथा परधन एवं लोभ अपने मन और समाज को भी अस्वस्थ बना देता है। यहाँ तक हमने व्यावहारिक दृष्टि से "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्" इस मन्त्र का विचार किया। अब पुरुषार्थ की दृष्टि से इसका विचार किया जाता है। मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त होने पर भी उनके विषयों को चार भाग में विभक्त किया गया है। जिसे (१) धर्म (२) अर्थ (३) काम और (४) मोक्ष कहते हैं। इनका विपरीत क्रम से उल्लेख एवं साधन यहाँ पर बतलाया गया है। अतः शेष तीन पुरुषार्थों की एक मात्र नींव धर्म को अग्रिम मन्त्र में बतलाया जायगा। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इस मन्त्र में मोक्ष काम एवं अर्थ इन तीनों पुरुषार्थों की प्राप्ति के साधन बतलाये गये हैं।

मन्त्र के पूर्वार्ध में मोक्ष का साधन बतलाया कि साधक संसार की सभी जड़-चेतन वस्तुओं में ईश का चिन्तन करे। इससे क्रमशः व्यवहार में पवित्रता धर्म का लाभ एव मोक्ष की प्राप्ति स्वतः सिद्ध हो जायगी। तीसरे बार में काम का साधन बतलाया गया है। विषयों के भोग एवं तज्जन्य सुख को काम कहते हैं। इस काम को जो अपने जीवन में चिरस्थायी बनाना चाहता है, वह अधिक से अधिक त्याग तथा संयमपूर्वक ही विषयों का उपयोग करे। अमर्यादित अन्धाधुन्ध, खाने-पीने तथा विलास से भोगने की शक्ति क्षीण हो जाती है और यह बहुत काल तक विषयों को भोगने में समर्थ नहीं हो पाता। भूख से अधिक खाने वाले व्यक्ति की पाचन शक्ति क्षीण हो जाती है और वह धीरे-धीरे रोगों का शिकार होने लग जाता है। इसे भर्तृहरि ने कहा है कि—'भोगे रोगभयम्' अर्थात् भोग में रोगों का भय रहता है। ऐसे ही प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में समझना चाहिए। यदि विषय मर्यादित, त्याग तथा संयमपूर्वक न भोगे जायँ तो भोग कभी भी चिरस्थायी नहीं हो सकेगा। इसीलिए कामरूप पुरुषार्थ को चिरस्थिर करने के लिए त्याग की नितान्त आवश्यकता है। मन्त्र के चतुर्थ पाद में अर्थ प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। जैसे—'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' किसी के धन की लालच न करो। न्यायपूर्वक व्यापार, कृषि, वाणिज्य तथा नौकरी से न्यायोचित्त द्रव्य के संग्रह को लालच नहीं कहते, किन्तु यह मेरा नहीं है, ऐसा जानते हुए भी उसे स्वाधीन करने की मन में भावना तदर्थ प्रयत्न एवं पर-स्वत्व के अपहरण को ही लालच कहते हैं। ऐसा व्यक्ति न तो अपने जीवन में अर्थ का अधिक उपार्जन कर सकता है और न उसे चिरस्थिर ही बना सकता है। लोभ

से संगृहीत धन संग्रहकर्ता को सुख नहीं पहुँचा सकता बल्कि उसे चिन्ता और द्वन्द्व का शिकार बनाये रखता है। इस लोक में प्रसिद्ध है कि अधिक मुनाफा खाने वाले का व्यापार अधिक (बहुत दिनों तक) नहीं चलता। उसके विपरीत कम मुनाफा खाने वाले का ही व्यापार अधिक चलता है। उस पर लोगों का विश्वास होता है। अतएव उसे व्यापार से अधिक अर्थ का लाभ होता है और वह स्वस्थ समाज के निर्माण में भाग लेकर पावन यश का भागी बनता है। सत्य बात तो यह है कि अर्थ की प्राप्ति भाग्यानुसार होती है, अन्याय करके मनुष्य पाप का भागी बनता है। 'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्' 'जो मेरा है, वह दूसरों का नहीं हो सकता' यह विवेकशील व्यक्ति का सिद्धान्त है। इसीलिये पर-स्वत्वापहरणरूप लोभ का परित्याग कर न्यायपूर्वक एवं धर्म और वर्णानुसार जीविकोपार्जन करने से प्राप्त अर्थ ही चिरस्थिर होता है।

इकतीसवाँ दिन : आज ईशावास्योपनिषद् के द्वितीय मन्त्र पर विचार किया जा रहा है। वह है—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" ॥ २ ॥

"अधिकारी इस मनुष्य लोक में कर्म करते हुए ही १०० वर्ष जीने की इच्छा करे। हे मनुष्य! इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है जिससे कि तुममें कर्म का लेप न हो।" इसमें दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि, अनुष्टप्छन्द त्यागी देवता कर्मत्याग-निषेध में इसका विनियोग है। मनुष्य की पूर्ण आयु १०० वर्ष की मानी गयी है। प्रत्येक मनुष्य १०० वर्ष तक जीता रहना चाहता है। पर देखना यह है कि उसे वर्तमान जीवन तथा भविष्य में

भी शान्ति मिल सके। किस प्रकार रहे, जिससे कि स्मरण रहे कि चौरासी लाख योनियों में से मनुष्य योनि ही ऐसी है, जहाँ पर प्रारब्ध भोग के साथ नूतन कर्म करने का अधिकार प्राप्त है। इसीलिये इसे कर्मयोनि कहते हैं। शेष सभी भोग योनि है। जीव को प्रकृति से प्राप्त शरीरेन्द्रियादिक ऐसे साधन हैं, जिनसे परवश हुआ कर्म करना ही पड़ता है। कोई भी प्राणी क्षणमात्र भी कर्म किये बिना बैठ नहीं सकता। जैसा कि—

"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥"

(गीता ३-५)

ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है। अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य में यह विशेषता है कि इसके शरीरेन्द्रिय, मन, बुद्धि से की गयी चेष्टाएँ, पुण्य पाप को देने वाली हैं, अन्य शरीरों में नहीं। सूकर-कूकर अभक्ष्य-भक्षण, अगम्य-गमन, यहाँ तक की मातृ स्वसृगमन करके भी पाप के भागी नहीं बनते हैं क्योंकि वह कर्मयोनि नहीं है, किन्तु भोग योनि है। वह मनुष्य ऐसा करके कभी भी पाप से अलिप्त नहीं रह सकता है। हमने शास्त्र का अध्ययन नहीं किया, हमें धर्माधर्म का ज्ञान नहीं है, अतएव हमें पाप नहीं लगेगा; इस तरह बात बनाने से कभी भी मनुष्य दुष्कर्म करके पाप से अलिप्त नहीं रह सकेगा। अतः ब्रह्मनिष्ठा से पूर्व नरदेहाभिमानी पुरुष को पाप से अलिप्त रहकर पुरुषार्थचतुष्टय का सम्पादन कैसे करना चाहिये—इसी का उपदेश श्रुति भगवती कर रही है। कोई कह सकता है कि कर्म तो स्वभाव से मनुष्य करता ही है और कुछ न सही खाना-पीना, शौच, गमनागमन इत्यादि कार्य होंगे

ही; फिर कर्म करने का उपदेश वेद क्यों करता है ? इसका उत्तर यह है कि स्वभाव सिद्ध कर्म करने के लिए वेद की आज्ञा नहीं अपितु अपूर्व करने के लिए है। इसीलिये मैं संक्षेप में कर्म का स्वरूप और विभाग बतलाने जा रहा हूँ।

व्यक्ति भेद से कर्म अनन्त होने पर भी उन्हें पाँच भागों में विभक्त किया गया है। (१) नित्य (२) नैमित्तिक (३) काम्य (४) प्रायश्चित्त (५) निषिद्ध। संक्षेप में यों कहो कि विहित और निषिद्ध भेद से दो प्रकार के कर्म हैं। इनमें विहित कर्म के ही उक्त चार भेद हैं। जिस कर्म को करने के लिए वेदादि शास्त्र ने आज्ञा दी है, उसे विहित कर्म कहते हैं और जिसे करने के लिए नहीं किया अर्थात् निषेध किया है, उसे निषिद्ध कर्म कहते हैं। यथा 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि', ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'सुरा न पेया'। अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, ब्राह्मण को न मारे, मदिरा न पिये इत्यादि। ऐसे निषिद्ध कर्म धर्मार्थ-काम किसी भी पुरुषार्थ के साधक नहीं हैं, अपितु बाधक हैं। इसीलिये कल्याणकामी पुरुष को दूर से ही इनका कर्म परित्याग कर देना चाहिये। विहित कर्म में भी नित्य, नैमित्तिक सदा करने चाहिये। यथा 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' 'अग्निहोत्रं जुहुयात्'। प्रतिदिन सन्ध्या करें अग्निहोत्र करें। यथा समय उपनयन संस्कार हो जाने के बाद द्विजबालक प्रतिदिन सन्ध्या और हवन करें। केवल गायत्री मन्त्र या गुरुमन्त्र का सांय-सन्ध्या जप कर लेना मात्र सन्ध्या नहीं है। स्मृतिकारों ने सन्ध्या का काल एवं स्वरूप निश्चित कर दिया है।

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
अधमा सूर्यसहिता प्रातः सन्ध्या त्रिधा स्मृता ॥

प्रातः सन्ध्या तारा दीखते मानी जाती है, तारा के लुप्त हो जाने पर मध्यम और सूर्योदय के बाद होने वाली सन्ध्या अधम मानी जाती है।

उत्तमा सूर्यसंयुक्ता मध्यमा लुप्तभास्करा।
अधमा तारकोपेता सायं सन्ध्या त्रिधा स्मृता ।।

ऐसे ही सायंकाल में सूर्यास्त से पहले सन्ध्या आरम्भ कर तारा दीखने तक उत्तम सन्ध्या, सूर्यास्त काल में मध्यम एवं सूर्यास्त होने पर अधम मानी जाती है। यह सन्ध्या का काल है। ऐसे ही वैदिक मन्त्रों के द्वारा शिखा बन्धन से प्रारम्भ कर देव, ऋषि तर्पण पर्यन्त वैदिक कृत्य को सन्ध्या कहते हैं। अन्त में अग्निहोत्र करना चाहिये। वह भी आहिताग्नि हो, वेदविधि से अग्निहोत्रादि करना चाहिये। ये सब नित्य कर्म माने जाते हैं। पितृश्राद्धादि निमित्त प्राप्त होने पर जो कृत्य किये जायँ; उन्हें नैमित्तिक कर्म कहते हैं। किसी शापविशेष की निवृत्ति के लिए जिस कर्म का विधान किया हो; उसे प्रायश्चित्त कर्म कहते हैं। सामान्य, असामान्य भेद से वह प्रायश्चित्त दो प्रकार का है। गंगास्नान, देवदर्शन, भगवन्नामस्मरण सामान्य प्रायश्चित्त है और प्रत्यवायविशेष की निवृत्ति के लिए विहित कर्मानुष्ठान को असामान्य प्रायश्चित्त कहते हैं। कल्याण कामी व्यक्ति को नित्य-नैमित्तिक एवं यथासम्भव प्रायश्चित्त कर्म का अनुष्ठान करते हुये ही सौ वर्ष जीने की आकांक्षा करनी चाहिये। अन्यथा इनके त्याग से प्रत्यवाय लगेगा, साथ ही निषिद्ध कर्म होना स्वाभाविक है। इन दोनों प्रकार के कर्मों के लेप से वह बच नहीं सकता। सकाम कर्म तो फलाकांक्षा से साधक को लिपायमान करता ही है। इसलिए निषिद्ध न होते

हुए भी उसका परित्याग ही उचित है। अतः कर्म और उसके फल से मुक्त रहने के लिये सकाम कर्म का परित्याग एवं निषिद्ध कर्म का दूर से ही परित्याग कर सदा नित्य और नैमित्तिक एवं प्रायश्चित्त कर्म के अनुष्ठान का विधान किया गया है।

इस मन्त्र में शतवर्ष जीवन की इच्छा का विधान नहीं है, क्योंकि १०० वर्ष जीने की इच्छा अज्ञानी जीवों में स्वभाव-सिद्ध है। रागतः प्राप्त वस्तु का विधान करना शास्त्र का काम नहीं है, अन्यथा शास्त्र में प्रामाण्य नहीं रहेगा। लोक से अप्राप्त नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्तरूप अपूर्व कर्म के विधान से ही शास्त्र में प्रामाण्य आयेगा, न कि सौ वर्ष जीने की इच्छा के विधान से। अतः स्वभावतः शतवर्ष जीवन की इच्छा का अनुवाद कर उक्त नित्यादि कर्म में लगाने के लिए इस वेदमंत्र से उपदेश किया गया है। इस मन्त्र में आया हुआ इह पद भी विशेष महत्व रखता है। वह कर्माधिकार का संकेत कर रहा है। तुम भारतीय सपूत हो द्विजवंश में उत्पन्न हो, इसलिये अपने अधिकार का स्मरण रखो। चाहे आज का भारतीय द्विजबालक पाश्चात्य हवा के झोंके से अपने कर्तव्य को भूलकर एवं अपना मूल्यांकन न कर पाश्चात्यों का ही अनुकरण करने लग गया है, किन्तु शास्त्र ने तो इन्हें विश्व का गुरु बनाकर भेजा है। यह गंगा-यमुना पवित्र नदियों के किनारे यज्ञीय भूमि में यज्ञमण्डल का निर्माण कर देवताओं के आधिपत्य प्राप्ति के लिये तय्यारी करते थे। इसीलिये भारतीय मानव की महिमा देवतालोक स्वर्ग में गाया करते हैं—

गायन्ति देवा किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।

देवतालोक भारतभूभाग में विद्यमान् मानव की महिमा स्वर्ग में गाते हैं, क्योंकि उसका अधिकार स्वर्ग तथा मोक्ष तक प्राप्ति के लिये इस समय स्वभावसिद्ध है। ऐसे मानव जीवन में आकर भी जो अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता उसकी वेद-शास्त्र में घोर निन्दा की गयी है। इस भारतभूभाग में जन्म लेने के लिये ब्रह्मादिदेव भी तरसते हैं, भागवत में कहा है कि—

**"तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्"॥**

(भा० १०।१४।३०)

ब्रह्माजी कहते हैं कि मैं अपना अहोभाग्य मानूँगा कि चाहे तिर्यग् योनि ही क्यों न सही, एक बार मेरा जन्म आपकी जन्म-स्थली वृन्दावन इत्यादिक में होवे, जिससे कि मैं भी आपके भक्तों में से एक होकर आपके पद-कमलों की सेवा कर सकूँ। विचार कर देखें, जिस भारतभूभाग की महिमा वेदशास्त्र, देवा-धिदेव ब्रह्मा भी गा रहे हैं, ऐसे भारतवर्ष भगवान् की लीला भूमि में मानव शरीर प्राप्त कर जो अपनी कीमत नहीं आँकता; उस अभागे के विषय में विशेष क्या कहा जाय! मानस के अन्दर अनेक बार मानव जीवन की महिमा बतलायी गयी है, जिसे अग्रिम प्रसङ्ग में कहूँगा।

बत्तीसवाँ दिन : कल के प्रसङ्ग में बतलाया गया था कि सदा शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिकादि कर्म का अनुष्ठान, सकाम तथा निषिद्ध कर्म का परित्याग ही कर्म के लेप से बचने का सर्वोत्तम साधन है। इस पर प्रश्न होता है कि तब तो जीवन यात्रा के लिये कर्म करने का अवसर न मिलने के कारण शरीर-

निर्वाह भी न हो सकेगा। उत्तर यह है कि जैसे अग्निहोत्रादि कर्म विहित हैं, ऐसे ही अपने वर्ण एवं आश्रम के अनुसार जीवन निर्वाह हेतु कर्म भी विहित है। ब्राह्मण के लिये अध्ययन स्वधर्मरक्षणार्थ एवं अध्यापनादि जीविका के लिये विहित हैं। क्षत्रिय के लिये वेदादि अध्ययन स्वधर्म पालन के लिये और प्रजापालन जीविका के लिये होता है। वैसे ही वेदादि अध्ययन वैश्य के लिये स्वधर्म रक्षणार्थ है और कृषि-वाणिज्यादि जीविका के लिये है। स्त्री एवं शूद्रों के लिये यथासंभव इनकी सेवा ही स्वधर्म एवं जीविका का साधन है। इस प्रकार अपने वर्णाश्रमानुसार स्वधर्म का पालन करते हुये मनुष्य कल्याण को प्राप्त करता है। ऐसा श्रुति, स्मृति इत्यादि सभी ग्रन्थों में बतलाया गया है। भगवत्पाद भगवान् शंकराचार्य जी ने एषणात्रय के संन्यास करने वाले यतियों के ऊपर उक्त कर्मों का भार नहीं है, ऐसा ईशावास्यभाष्य में कहा है। उनका कहना है कि तत्त्वज्ञानी सदा आत्मनिष्ठ होकर रहता है, उसे जीने-मरने की परवाह नहीं। कर्म तो शत-वर्ष जीवनाभिलाषी के लिये बतलाया गया है। सौ वर्ष जीने की अभिलाषा अज्ञानियों को हुआ करती है, न कि तत्त्वज्ञानियों को। इसलिये तत्त्ववेत्ता के लिये द्वितीय मन्त्र से कर्म का विधान नहीं है किन्तु अज्ञानियों के लिये है। कदाचित् अपरिपक्व ज्ञान वाले को देह में आत्माध्यास होवे तो उसे हटाने के लिये 'आसुप्ते-रामृते कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया' इस वाक्यानुसार केवल वेदान्त-चिन्तन से ही देहाद्यध्यास की निवृत्ति हो जायगी। कर्म करने की कतई आवश्यकता नहीं है। कर्मानुष्ठान देहाद्यध्यास को न मिटाकर उलटे उसको बढ़ाने वाला है क्योंकि जाति, वर्ण, आश्रम, (अवस्था) का अभिमान ही विशेष कर्म का प्रयोजक बतलाया गया है। इसलिये चतुर्थाश्रम में तत्त्वज्ञानी तथा तत्त्व-

ज्ञानाभिलाषी दोनों ही कर्म के अधिकारी नहीं किन्तु अज्ञानी ही कर्म के अधिकारी हैं। ऐसे अज्ञानियों के लिये ही इस मन्त्र से कर्म का विधान किया गया है। पर इस बात को भी कभी न भूलें कि सभी पुरुषार्थों का आधारभूत धर्मानुष्ठान ही है। मानव शरीर की दुर्लभता का वर्णन कल हमने बतलाया था। क्योंकि इसे देवता भी चाहते हैं। भोग की दृष्टि से देवयोनि श्रेष्ठ है; कर्म की दृष्टि से नहीं। इसीलिये देवता भी मनुष्य शरीर में आना चाहते हैं। कहा है कि—

"मनुजदेहमिमं भुवि दुर्लभं समधिगम्य सुरैरपि वाञ्छितम्।
विषयलम्पटतामपहाय वै भजत रे मनुजा गिरिजापतिम्॥"

अर्थात् देवताओं का भी आकांक्षा का विषय इस दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त कर विषयलम्पटता को छोड़, हे मनुष्यो! उमापति भगवान् शंकर का भजन करो। रामचरितमानस में सम्पूर्ण रामचरित श्रवण करने के बाद गरुड़ जी ने काकजी से सात प्रश्न किये हैं। यथा—

"प्रथमहिं कहहुनाथ मतिधीरा। सब ते दुर्लभ कवन शरीरा।"

अर्थात् हे मतिधीर! काकजी! सबसे दुर्लभ शरीर कौन सा है? उत्तर में काकजी ने कहा है कि—

"नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही।
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी।
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषय रत मंद मंद,तर
काँच किरिच बदलें ते लेहीं। कर ते डारि परस मनि देहीं॥"

मनुष्य शरीर के समान दूसरा कोई देह नहीं है, क्योंकि बराबर सभी जीव इसे चाहते हैं। नरक, स्वर्ग और मोक्ष की

नसेनी (सीढ़ी) यह मानव देह ही है। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तथा गति को देनेवाला यही है। ऐसे शरीर को प्राप्तकर भी जो परमात्मा का भजन छोड़ विषय में रत रहता है, वह मूर्ख से भी मूर्ख है। क्या हाथ में आया हुआ पारसमणि फेंककर बदले में काँच के टुकड़ों को लेने वाला भला कहा जायगा ? अर्थात् नहीं। यदि मानव शरीर की दुर्लभता कोई मनुष्य बतलाता तो उस पर कदाचित् पक्षपात की आशंका हो सकती थी। यहाँ तो पूछने वाले गरुड़ और उत्तर देने वाले काकजी हैं। इसलिये मनुष्य शरीर की दुर्लभता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। मनुष्य एक चौराहे पर खड़ा है जहाँ से स्वर्ग नरक एवं मोक्ष के लिये मार्ग फूटता है। कठोपनिषद् में यमाचार्य ने कहा है कि—

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते।"

श्रेय=मोक्ष और उसके साधन, प्रेय=भोग और उसके साधन दोनों एक साथ दूध और पानी के समान मिले हुये मनुष्य के पास आते हैं। धीर पुरुष इन दोनों की यथार्थ समालोचना कर विवेक कर लेता है और प्रेय की अपेक्षा श्रेय का ही वरण करता है किन्तु मन्दबुद्धि पुरुष योग क्षेम की लालच में पड़कर प्रेय मार्ग का अवलम्बन करता है। इन सभी उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि मनुष्य एक चौराहे पर खड़ा है और अपने मार्ग का निश्चय करने में स्वयं स्वतन्त्र है। इन्द्रादि देव भोग की दृष्टि से श्रेष्ठ होते हुये भी कर्म के अधिकारी न होने के कारण वे मानव शरीर में आना चाहते हैं। इसे मैं एक दृष्टान्त से समझाता हूँ। नौकरी की आकांक्षा रखने वाले किसी आदमी से कहा जाय कि हमारे पास दो स्थान रिक्त हैं। एक में सौ

रुपया मासिक वेतन और दूसरे में १००० रु० मासिक वेतन मिलेगा। इन दोनों में से आप जिसे चाहो स्वीकार कर सकते हैं। निःसन्देह आप १००० रु० मासिक वेतन वाले पद को ही स्वीकार करेंगे, न कि १०० रु० वेतन वाले पद को। पर जब कुछ इसमें संशोधन किया जाय, १०० रु० मासिक वेतन वाले में यह विशेषता है कि यदि आप अपनी कर्मठता से मालिक को प्रसन्न रखोगे तो १५ दिन के बाद आपका वेतन द्विगुणा, १ महीने में ५००, दो महीने के बाद १०००, तीन महीने के बाद २ हजार, चौथे में ४०००, ५ मास में १०००० वेतन मिल सकता है, इतना ही क्यों आपकी कार्यतत्परता से प्रसन्न होकर आपको अपना पद भी मालिक दे सकता है। इसके विपरीत १००० रु० वेतन वाले पद में कमी है कि उस पद पर काम करने वाला व्यक्ति चाहे जितना भी प्रयत्न करे जितना भी पैर पटके परन्तु उसके वेतन में एक पैसे की भी तरक्की होने वाली नहीं है। इन संशोधनों के बाद आपसे पूछा जाय कि इन दोनों पदों में से आप किसको चुनेंगे ? ऐसी परिस्थिति में यदि आप कर्तव्यपरायण हैं तो १०० रु० वेतन वाले पद को ही स्वीकार करेंगे क्योंकि उस पद पर वेतन कम मिलने पर भी भविष्य में उन्नति की संभावना है। उन्नतशील वस्तु और व्यक्ति को सभी चाहते हैं। इस दृष्टान्त को दार्ष्टान्ति में घटा लेना चाहिये कि स्वर्गसुख १०००रु० वेतन वाले पद के समान है, जहाँ पर उन्नति की कोई आशा और संभावना नहीं है। मनुष्य शरीर में किये हुये कर्म का फल भोगने के लिये देवयोनि और स्वर्गसुख प्राप्त हुआ है, जिसे वहाँ पर केवल भोग सकते हैं नूतन कर्म नहीं कर सकते हैं। नूतन कर्म करने में तो देवताओं का अधिकार ही नहीं है, भोगबाहुल्य के कारण उपासना और वेदान्त का श्रवण भी दुर्लभ ही है। इन्द्र

चाहे कि मैं ब्रह्मा बनूँ तो उसे फिर से मनुष्य शरीर में ही आना पड़ेगा। किन्तु मनुष्य शरीर में ऐसी बात नहीं है। मनुष्य तो शास्त्र विधि के अनुसार निर्विघ्न सौ अश्वमेध यज्ञ करके इन्द्र पद पर बैठ सकता है, वैसे ही ब्रह्मादि पद को भी अपने सत्कर्म और उपासना से प्राप्त कर सकता है, किंबहुना ब्रह्मादि देवों के भी अधिदेव परमात्मस्वरूप को मनुष्य वेदान्त विचार जन्य ब्रह्मात्मैक्य बोध से प्राप्त कर लेता है। इसी विशेषता को लेकर और अपनी न्यूनता को देखते हुये इन्द्रादि देव अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट हैं और वे चाहते हैं कि हम फिर से मनुष्य शरीर को प्राप्त कर सत्कर्म, उपासना तथा ब्रह्मज्ञान से सर्वोत्तम स्थान को प्राप्त करें। मनुष्य शरीरस्थ अन्तःकरण में ही सत्यानृत विवेक करने की शक्ति है, पशु तथा कीटादि शरीर में नहीं; यह तो प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है। ऐसे देवदुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त करके फलाकाक्षा का परित्याग करके शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान करना ही चाहिये। इसी से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। शुद्ध अन्तःकरण की यही पहिचान है कि विषयों की ओर आसक्ति और झुकाव न रहे। यदि अन्तःकरण में विषयों की ओर आसक्ति है, विषयों की ओर हमारा मन खींचा जाता है तो निश्चय ही अन्तःकरण मलिन है। भोजन से तृप्त हुये व्यक्ति की भोजन से उपरामता के समान ही शुद्ध अन्तःकरण की विषयों से उपरामता स्वाभाविक है।

आत्मज्ञान शून्य मानव के ऊपर तरस खाकर श्रुति भगवती कह रही है कि हे मनुष्यो ! यदि तुम अशुभ कर्म से अलिप्त रह कर सौ वर्ष जीना चाहते हो तो शास्त्रविहित कर्म करते ही रहो 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादि।

तेतीसवाँ दिन : इस मन्त्र में 'एव' शब्द और 'नरे' शब्द महत्त्व रखते हैं। भगवत्पाद भगवान् शंकराचार्य का सिद्धान्त है कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतियाँ डिण्डिम उद्घोष कर रही हैं कि मोक्ष का साधन एकमात्र ब्रह्म-ज्ञान ही है। फिर भी सब की आधार शिला सत्कर्म को ही वे मानते हैं। उन्होंने विवेक चूडामणि में कहा है कि—

> जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता
> तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात्परम्।
> आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति-
> र्मुक्तिर्नो शतजन्मकोटिसुकृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते ॥

चौरासी लाख योनियों में मनुष्य शरीर सबसे दुर्लभ माना जाता है। जिसकी विशेषता पूर्व प्रसंग में बतला आये। मनुष्य शरीर में भी कदाचित् स्त्री शरीर मिल गया होता तो बड़ी ही पराधीनता थी क्योंकि शास्त्र, लोक दृष्टि से भी स्त्री को पराधीन बतलाया गया और होना भी चाहिये। अतः स्त्री शरीर न प्राप्त कर पुरुष शरीर प्राप्त करना यह पूर्व की अपेक्षा भी दुर्लभ है। पुरुष शरीर में भी ब्राह्मण शरीर प्राप्त होना उससे भी दुर्लभ है, जिसे मानस में भगवान् श्रीराम और शंकर जी ने विशेष रूप से बतलाया है। भगवान् राम ने कहा है—मेरी शीघ्र प्रसन्नता का एकमात्र साधन भक्ति ही है, किन्तु भक्ति की प्राप्ति सत्पुरुषों की कृपा से होती है। इसलिये हे लक्ष्मण ! भक्ति प्राप्ति का वह साधन मैं बतलाऊँगा, जिससे कि अत्यन्त सरलता से जीव मुझे प्राप्त कर लेंगे। यथा—

सुगति की साधन कहहुँ बखानी। सुगम पन्थ मोहि पावहिं प्रानी।।
प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तन मम धर्म उपज अनुरागा।

सर्वप्रथम ब्राह्मणों के चरणों में अत्यन्त प्रीति होनी चाहिये, साथ ही शास्त्रविधि के अनुसार अपने वर्णाश्रमोचित कर्म में निरत रहना चाहिये अर्थात् निष्काम भाव से निरन्तर उसका अनुष्ठान करना चाहिए। इसका सुपरिणाम यह है कि विषयों से वैराग्य होवे। विषयों से वैराग्य होना ही अन्त:करण की शुद्धता है और शुद्ध अन्त:करण में भगवत्प्रेम उत्पन्न होता है। अतः हमें इस प्रसंग से ब्राह्मण के चरणों में निस्सीम प्रेम और स्वधर्म का निष्काम भाव से निरन्तर अनुष्ठान करना ही भक्ति की आधारशिला है। ब्राह्मण विद्वान्, शीलवान् ही पूज्य है, ऐसी बात नहीं है बल्कि—

"सापत ताड़त परुष कहंता।
बिप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता।।
पूजिअ बिप्र सील गुन हीना।
सूद्र न गुण गन ग्यान प्रबीना।।"

ब्राह्मण शाप देवें, मारें, कठोर वचन बोलें; फिर भी उसकी पूजा करनी चाहिए। शील तथा गुण से हीन भी ब्राह्मण पूज्य है, ऐसा सन्तों का कहना है। किन्तु गुणगान से युक्त, ज्ञान में प्रवीण शूद्र भी पूजा के योग्य नहीं है। अतः ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न बालक ही ब्राह्मण कहलायेगा और वह पूज्य है, चाहे शास्त्रज्ञान से रहित होने के कारण ब्रह्मबन्धु ही क्यों न कह-लावें। भगवान् शङ्कर ने शूद्र शरीर में काकजी को शाप देने के

बाद उनके गुरु की प्रार्थना से प्रसन्न हो, पुनः उन्हें शाप उद्धार के कुछ वरदान भी दिया। उस समय उन्होंने कहा कि ब्राह्मणों का अपमान मुझसे सहा नहीं जाता। अतः हे शूद्र।

'इदं कुलिस मम शूल बिसाला। कालदण्ड हरि चक्र कराला॥
जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्र द्रोह पावक सो जरई॥"

इन्द्र के वज्र, मेरे विशाल त्रिशूल, यमराज के डण्डे और भगवान् विष्णु के कराल चक्र से भी न मर सके ऐसा व्यक्ति भी ब्राह्मण के द्रोह रूप अग्नि से जल कर राख हो जायगा। इसलिए अब से किसी ब्राह्मण का अपमान नहीं करना। इन सभी प्रसंगों में ब्राह्मण की महती महिमा गायी गयी है। अतः ब्राह्मण शरीर दुर्लभ है; उसमें भी वैदिक धर्म मार्ग में तत्पर रहना दुर्लभ है। उस पर भी विद्वान् होना दुर्लभ है, आत्मानात्म का विवेक, आत्मज्ञान एवं ब्रह्मरूप से स्थितिरूप मोक्ष तो और भी दुर्लभ है किन्तु इस बात को न भूलें कि इन सबका आधार शुभ कर्म है। सैकड़ों जन्मों में किये हुए अनेक शुभकर्म रूप पुण्य के बिना मोक्ष नहीं मिलता। इसीलिए मोक्षाभिलाषी सद्गृहस्थ व्यक्ति को आत्मज्ञान के अधिकार प्राप्ति के लिए "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" के अनुसार कर्म करना ही चाहिए। इस मन्त्र में आये हुए 'एवं' का तात्पर्य यह है कि कर्ता भोक्ता तथा कर्म तीन प्रकार के होते हैं। (१) एक केवल कहता है, करता नहीं (२) एक कहता भी है और करता भी है (३) एक केवल करता ही है कहता नहीं। (१) एक कर्म करने वाले में फलाकांक्षा होती है, कर्म नहीं। (२) दूसरे में फलाकांक्षा के सहित कर्म किया जाता है। (३) तीसरे में केवल कर्म किया जाता है, फलाकांक्षा नही होती। इन सबका सुन्दर समन्वय मानस में

मिलता है। सारी सेना के कट जाने के बाद संग्राम क्षेत्र में रावण गालियाँ देता हुआ अपनी प्रशंसा भगवान् राम के सामने करता है। उस समय भगवान् राम ने रावण से कहा है कि—

'जनि जल्पना करि सुजसु नासहि नीति करहि छमा।
संसार महँ पुरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस समा॥
एक सुमनप्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं॥'

सत्कर्म का फल अदृष्ट के साथ लोक ख्याति भी है। यदि कोई अपने मुख से अपने सत्कर्म की बात करने लग जाता है तो उसका पुण्य नष्ट हो जाता है। यथा—

"निज मुख कहे सुजस जेही भाँती।"

जैसा कि इस देह से स्वर्ग के पास पहुँचे हुये त्रिशंकु के मुख से उसकी कीर्ति का वर्णन कराकर पुण्य क्षीण होते ही देवताओं ने उसे ढकेल दिया। दूसरी बात यह है कि अच्छे कर्म करने वाले की प्रशंसा लोक में होती ही है, किन्तु जब कोई अपने मुख से स्वयं अपनी प्रशंसा करने लग जाता है तो उसकी कीर्ति मलिन होकर अन्त में क्षीण हो जाती है। रावण के निज मुख से प्रशंसा सुनकर श्रीरामजी ने उसे नीति का उपदेश दिया विज्ञानी नीतिज्ञ व्यक्ति धैर्य रखते हैं, वह अपने मुख से अपनी प्रशंसा करके अपने सुयश को नष्ट नहीं करते। संसार में पुरुष पाटल, आम तथा पनस के समान तीन प्रकार के हैं। पाटल में केवल पुण्य लगता है, फल नहीं आता। आम में पुण्य और फल दोनों ही लगते हैं और पनस केवल फल ही देता है, पुण्य नहीं।

ऐसे ही एक केवल कहता ही है, करता नहीं, दूसरा कहता और करता भी है, तीसरा केवल करता है, वह वादविवाद में नहीं पड़ता। वैसे ही फलाभिलाषा मात्र से किसी को कर्म का फल प्राप्त नहीं हो सकता। फलाभिलाषा रखते हुये कर्म करने से ही फल की प्राप्ति होती है। सत्य बात तो यह है कि फल की अभिलाषा हो या न हो कर्म करने वाले को उसका फल अवश्य मिलता है। उलटे ही फल तो उसे बाँधने वाला होता है। अतएव फलाकांक्षा का परित्याग कर कर्म करना कर्म में कौशल माना गया है "योगः कर्मसु कौशलम्" इन सारे अभिप्रायों को अपने अन्दर रखते हुए भगवती श्रुति कह रही है कि तुम इस अधिकारी मनुष्य शरीर को पाकर फलाकांक्षा का त्याग कर शास्त्रविहित कर्म करो। एक व्यक्ति स्वर्ग चाहता है, तदनुरूप कर्म नहीं करता तो क्या उसे स्वर्ग मिल जायगा ? अर्थात् नहीं। दूसरा स्वर्ग की इच्छा से तदर्थ कर्म करता है, निःसन्देह उसे स्वर्ग प्राप्त होगा। तीसरा बिना कुछ चाहते ही वेद की आज्ञा मानकर अपने कर्तव्य का पालन करता है, तो क्या उसे फल नहीं मिलेगा ? अर्थात् अवश्य मिलेगा। ऐसे ही मनुष्य ! तुम फल के लिये दीन न हो स्ववर्णाश्रमोचित कर्म में रत हो, अवश्य तुम्हें फल प्राप्त होगा, विशेष यह होगा कि तुम्हारा अन्तःकरण भी शुद्ध हो जायगा। 'पूर्ण आयु करने के लिये' कहने का तात्पर्य यह है कि अपने शरीर, इन्द्रियाँ, एवं मन को व्यर्थ चिन्तन या चेष्टाओं में न लगाकर सदा सत्कार्य में लगाये रखना चाहिये। यह मणिराम बाबू (मन) ब्रह्मराक्षस के समान है।

यात्रा में लौटते हुये एक सेठ को ब्रह्मराक्षस मिल गया। पूछने पर उसने कहा—मैं ब्रह्मराक्षस हूँ, तुम्हारा पीछा नहीं

छोड़ूँगा। तुम्हारे घर का दुकान का एवं अन्य जितने भी काम हैं; मैं अकेले ही कर लूँगा। मुझे खाना, खुराक और धन की भी आवश्यकता नहीं है। पर याद रखो; जिस दिन मुझे काम नहीं दोगे तो मैं तुम्हें खा जाऊँगा। सेठ बड़ा प्रसन्न हुआ वह मन ही मन कहने लगा कि हमारे विशाल काम को इसके बाप-दादे मिलकर भी नहीं कर सकेंगे, अकेले की तो बात ही क्या? घर में आकर भोजन के बाद सो गया। चार बजे ब्रह्मराक्षस ने आकर सारे वृत्तान्त का स्मरण कराया। सेठजी ने मुनीम से कहा—सभी नौकरों को हिसाब कर वेतन दे दो और उन्हें छुट्टी दे दीजिये। ब्रह्मराक्षस घर से लेकर फैक्टरी तक सभी काम को अकेले ही चन्दघण्टों में समाप्त कर डालता। सेठ से कहा—मुझे काम दो। सेठ ने अनेक प्रयत्न के साथ काम एकत्रित किया लेकिन उस पिशाच ने उसे शीघ्र ही समाप्त कर डाला। काम न मिलने पर ब्रह्मराक्षस मुख फाड़कर सेठजी की ओर दौड़ा। बेचारे सेठजी अपनी जान बचाने के लिये भागते-भागते अपने गुरु संन्यासी बाबा के पास गये। गुरुदेव! इस पिशाच से मुझे बचाओ। सारे वृत्तान्त को जानने के बाद साधु ने कहा—डरो नहीं, मैं तुम्हें उपाय बताता हूँ। एक लम्बे खम्भे को तुम अपनी फैक्टरी के आँगन में गाड़ दो, और इससे कहो—काम न रहने पर इस खम्भे के ऊपर चढ़ो और उतरो। सेठजी ने वैसे ही किया। उन्हें राहत मिली। ब्रह्मराक्षस सेठ के अन्य कामों को समाप्त कर उस खम्बे के ऊपर चढ़ने-उतरने का काम करने लग गया। यही एक ऐसा काम था, जो कभी भी समाप्त होने वाला नहीं था। ब्रह्मराक्षस कुछ दिनों में ही परेशान हो गया और वह लंगोटी झाड़कर भागता बना। इस दृष्टान्त को द्राष्टान्त में घटाओ। यह मन ही ब्रह्मराक्षस है जीव सेठजी

है। इस मन को सदा सत्कर्म में नहीं लगाये रखोगे तो यह अनर्थ चिन्तन करने लग जायगा और तुम्हारा सर्वस्व नष्ट कर डालेगा। यदि तुम्हारे पास और कोई काम नहीं हो तो भगवान् का नाम, स्मरण एवं उनके स्वरूप चिन्तनरूप लम्बे खम्बे पर चढ़ने और उतरने का काम दे दो। इससे परेशान हो या तो परमात्मा में ही लीन हो जायगा अथवा तुम्हारे अधीन हो जायगा। इसीलिए श्रुति भगवती कह रही है कि हे अज्ञ मानव ! तुम पूर्ण आयु शास्त्र विहित कार्यों को करते हुए ही बिताओ। ऐसे करने से कर्म के लेप से मुक्त हो जाओगे। कर्म के लेप से बचने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

चौंतीसवाँ दिन :

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताᳫंस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

आज ईशावास्योपनिषद् के तृतीय मन्त्र पर विचार प्रारम्भ हो रहा है। इस मन्त्र के दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि, आर्षानुष्टुप्छन्द, जीव देवता और आत्मघात-निषेध में इसका विनियोग है।

प्रथम मन्त्र से तत्त्वज्ञान, उसमें अपरिपक्व पुरुष के लिये संन्यास का विधान एवं संन्यासी के लिये नियम विधि का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय मन्त्र से उसमें असमर्थ व्यक्ति के लिये यावज्जीवन शास्त्रविहित कर्म करने का उपदेश किया गया है। इसके आगे प्रथम मन्त्रोक्त सिद्धान्त का विस्तार करना है, इसलिये तृतीय मन्त्र से अज्ञानियों की निन्दा की जा रही है। इसका तात्पर्य निन्दा में नहीं है अपितु ज्ञान की स्तुति करने में है। इसलिये ऐसे वाक्यों को अर्थवाद वाक्य कहते हैं।

शरीरादि अनात्म पदार्थों के पोषण में निरत व्यक्ति को असुर कहते हैं और उससे सम्बन्ध रखने वाले लोक असुर संबन्धी माने जाते हैं। मानव शरीर को छोड़कर सभी असुरसंबन्धी लोक हैं, क्योंकि ये सबके सब घोर अज्ञानान्धकार से आवृत हैं। आत्मज्ञान से शून्य, आत्मघाती मानव मरने के बाद ऐसे लोकों को ही प्राप्त होता है। परमार्थ दृष्टि से देवताओं को भी असुर कह दिया गया है, वे भी भोग लम्पट होने के कारण शरीरादि अनात्म वस्तुओं के ही पोषण में लगे रहते हैं। मनुष्य का हित केवल आत्मोद्धार में ही है। जिसने आत्मोद्धार के लिये प्रयत्न नहीं किया, वह आत्मघाती है। आचार्य भगवत्पाद कहते हैं कि—

"लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्त्यौ न यतेत मूढधीः स ह्यात्महा स्वं
विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥ (वि० चू० ४)

मानव जीवन प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है, उस पर भी पुरुष शरीर मिलना एवं वेदशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना तो अत्यन्त दुर्लभ है। आचार्य कहते हैं कि 'जो इन्हें प्राप्तकर आत्मा के उद्धार के लिये प्रयत्न नहीं करता, वह मूर्ख है, वह आत्मघाती है और असत् वस्तु में आग्रही होने के कारण वह अपनी आत्मा का हनन कर रहा है।' असुर लोक प्रवृत्ति और निवृत्ति को भी नहीं जानते इसीलिये तो गीता में कहा है कि—

"प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥"

असुर स्वभाव वाले पुरुष किससे निवृत्त होना चाहिये और किस में प्रवृत्त होना चाहिये, इसे भी नहीं जानते। उनमें शौच आचार भी नहीं होता एवं सत्यता भी नहीं होती। माया एवं उसके कार्य प्रपुज्या से निवृत्त हो सत्यात्मा की ओर प्रवृत्ति होने में ही बुद्धिमत्ता है, किन्तु असुर इसे नहीं जानते। वे तो अनात्मवस्तुओं के पोषण में ही लगे रहते हैं, ऐसे देवता भी असुर ही माने जायेंगे। मानव जीवन प्राप्त होना कोई सरल नहीं है। मानस में कहा है कि—

आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥
(रामचरितमानस उत्तरकाण्ड ४३ दो०)

चौरासी लाख योनियों में काल, कर्म, स्वभाव तथा गुणों से घेरा हुआ यह जीव माया से प्रेरित हो घूमता रहता है। अकारण प्रेम करने वाला परमात्मा कृपा करके कभी-कभी इसे मानव शरीर दे देता है। यह मानव शरीर संसार से तैरने के

लिये जहाज के समान है। मेरा अनुग्रह उचित दिशा की ओर ले जाने के लिये वायु के समान है, सद्गुरु कर्णधार है। ऐसे सारे समाज की प्राप्ति हो जाने पर यह जहाज दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार दुर्लभ साज भी आज सुलभ हो रहा है। ऐसे नर समाज को प्राप्त करके भी संसार समुद्र से न तर सका तो वह कृतघ्न, कुबुद्धि, आत्महनन के फलस्वरूप दुर्गति को प्राप्त होता है। ऐसे लोगों के लिये घोर अज्ञानान्धकार से आच्छादित सूकर-कूकरादि योनियों में ही जाना पड़ेगा। बाल-हत्या, स्त्रीहत्या, भ्रूणहत्या, ब्राह्मण हत्या और संन्यासी हत्या, ऐसे अनेक प्रकार के पाप हैं, जिनका प्रायश्चित्त शास्त्रों में बतलाया गया है किन्तु आत्महत्या का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। उसका परिणाम तो चौरासी लाख योनियों में अनन्त बार जन्म लेकर दारुण दुःख का भोग करना ही है। इसलिये हे मनुष्यो ! समय रहते चेत जाओ, नहीं तो मरने के बाद पश्चात्ताप करना पड़ेगा। आचार्य भगवत्पाद शंकराचार्य मानव को संबोधित कर अत्यन्त दया से गद्गद हृदय हो कहते हैं—अरे ! मूढबुद्धिमानव ! गोविन्द का भजन करो—

> "बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।
> वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥"

वे कहते हैं, बड़ा अन्धेर हो गया। हम आँख खोलकर जब देखते हैं तो बालक अपने खिलौने में मग्न है। तरुण लोग पत्नी और बाल-बच्चे में आसक्त हैं। उन्हें नून तेल को चिन्ता से फुरसत नहीं और बूढ़े लोग सदा चिन्ता में मग्न दीखते हैं। पर हाय रे ! ब्रह्म में कोई लगा हुआ नहीं, जिसमें उसका सच्चा हित था। अतः मानव ! अब भी चेतो और अपने

आत्मस्वरूप परमात्मा का चिन्तन करो, जिससे तुम्हारा कल्याण होगा। एक बार काशी में कुछ बाबू लोग नौका विहार करने के लिये गये। एक अच्छी नौका को उन्होंने किराये पर बुलवाया। जिसमें कुर्सियाँ भी लगीं हुई थी। बाबू लोग कुर्सी पर बैठ गये, पान चबाते, हंसी मजाक करते हुये नौका विहार करने लगे। एक ने नाविक से पूछा—अरे मल्लाह! तुमने कुछ अध्ययन किया है या नहीं? बेचारे मल्लाह ने उत्तर दिया—बाबूजी! ऐसी जाति और ऐसे गरीब घर में मेरा जन्म हुआ कि जहाँ मुश्किल से रूखा-सूखा पेट भरने के लिये मिल जाता है। पढ़ना तो दूर रहा, मैंने तो पाठशाले का मुख भी नहीं देखा। बाबू ने कहा—तब तो तुम्हारे जीवन का चौथा हिस्सा बेकार गया क्योंकि २५ वर्ष की उमर तक पढ़ना लिखना कलाकौशल प्राप्त करने के लिये कहा गया है। दूसरे बाबू ने कहा—जाने दो, बेचारा कहाँ से पढ़ना आदि करेगा। उसने नाविक से पूछा—विवाह तो हुआ है या नहीं? लड़के बच्चे कोई हैं या नहीं क्योंकि तुम्हारी उमर ७० वर्ष के लगभग हो चुकी है। नाविक ने उत्तर दिया कि बाबूजी! मेरे बचपन में ही माँ बाप मर गये। मेरी शादी नहीं हुई तो बच्चे कहाँ से होंगे मैं घर में अकेला ही हूँ। बाबू ने हंसते हुए कहा—तब तो तुम्हारे जीवन का दूसरा हिस्सा भी व्यर्थ ही गया। मल्लाह ने कहा कि ठीक ही कहते हैं बाबूजी। मेरा जीवन सचमुच में बेकार है। तीसरे ने उससे पूछा—अरे! तुमने कुछ देश भ्रमण आदि किया है या नहीं? उसने उत्तर दिया कि रोज दिन कमाकर खाता हूँ मुझे कहाँ फुरसत कि मैं देशाटन करूँ और न मेरे पास इतना धन ही है। बाबू ने ठहाका मारते हुए कहा कि तब तो तुम्हारे जीवन का

तीसरा हिस्सा भी व्यर्थ गया। बेचारा मल्लाह बाबू लोगों की व्यंग भरी बातों का उत्तर केवल इतना ही देता जा रहा था कि ठीक ही है बाबूजी। नौका गंगा के बीच धीरे-धीरे चल रही थी। इतने में ही अकस्मात् पश्चिम की ओर से जोरदार आँधी आयी। कुछ पानी भी पड़ने लगा। नौका की स्थिति बिगड़ने लगी। मल्लाह ने नौका सम्हालने की हर कोशिश की। बाबू लोग भी उसे डांटते हुये कह रहे थे कि नौका को सम्हालकर किनारे लगावो किन्तु नौका उस मल्लाह के काबू से बाहर हो चुकी थी। नाविक ने बाबू लोगों से कहा—आप तैरना जानते हैं या नहीं ? सभी ने उत्तर दिया कि हम लोगों में से कोई भी तैरना नहीं जानता। मल्लाह ने कहा तब तो मेरे जीवन के तीन ही हिस्से बेकार गये थे लेकिन आप लोगों का जीवन पूरा का पूरा अभी बेकार हो जायगा, मैं तो जा रहा हूँ, ऐसा कह पतवार फेंककर वह गंगाजी में कूद पड़ा और तैरता हुआ किनारे पर आ गया। उधर नौका उलट गयी और सभी बाबू लोगों का काम तमाम हो गया। यह तो दृष्टान्त है, दार्ष्टान्त में यों समझें कि आप बहुत बड़े विद्वान् हैं, कलाकौशल में निपुण हैं, आपके पास घर, धन, ऐश्वर्य, परिवार सब कुछ हैं, आपने अनेक देशों की यात्रा भी की हो, परन्तु यदि आपने आत्मज्ञान का सम्पादन नहीं किया, परमात्मा की भक्ति नहीं की तो ये सब बेकार हैं और आपका जीवन-बेड़ा इस संसार सागर में डूबकर ही रहेगा। अतः शीघ्रतिशीघ्र चेत जावें और जीवन के अवशेष भाग को परमात्मा के नाम चिन्तन में तथा आत्म-ज्ञान सम्पादन में लगाना चाहिये। नहीं तो आत्मघातियों के समान घोर अज्ञानान्धकार से आच्छादित असुर लोकों में जाना ही पड़ेगा।

आत्मज्ञान शून्य व्यक्ति के ऊपर अत्यन्त करुणार्द्र चित्त से गद्गद वाणी से युक्त श्रुति कहती है कि अरे ! आत्मघाती भूतादि जीव ऐसे सूकर-कूकरादि योनियों में जा रहे हैं, जहाँ पर विवेक, वैराग्य, विज्ञान इत्यादि प्रकाश का अत्यन्त अभाव है। कुछ ऐसे भी नरकलोक हैं कि जिनमें जीवात्माओं को दारुण दुःख भोगने के लिये जाना पड़ता है। पुराणों में सुना जाता है कि यमदूत पापियों को यमलोक में तपे हुये कड़ाह के तेल में तापते हैं, आरे से चीरते हैं। कुछ लोग ऐसे वर्णन को गप मानते हैं तो कुछ लोग अर्थवाद मानते हैं। मेरी समझ से यहाँ पर रहस्य है जिन पापों का फल दारुण दुःख मर्त्य लोक में नहीं भोगा जा सकता, क्योंकि यहाँ के शरीर में उस तरह दुःख भोगने की शक्ति ही नहीं है, यह तो तपे हुये तेल के कड़ाह में डालते ही पाँच मिनट के अन्दर समाप्त हो जाता है। इसके द्वारा इन दुष्कर्मों का फल नहीं भोगा जा सकता, इसीलिये उसे नारकीय शरीर से उन पाप कर्मों का फल भोगाया जाता है। खैर ! पुरुष को तपे हुये लोहे की स्त्री से स्पर्श कराया जाता है और स्त्री को तपे हुये लोहे के पुरुष से स्पर्श कराया जाता है। नारकीय शरीर को यातनामय शरीर कहते हैं जिससे सौ वर्ष तक नारकीय दुःख भोग कराने पर भी प्राण निकलता नहीं किन्तु दुःख का अनुभव होता रहता है। रामचरित मानस में रामजी को बन में पहुँचाकर लौटते समय सुमन्त ने अपनी स्थिति का वर्णन करते हुये कहा है कि—

"हृदउ न बिदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यहु जातना सरीरु॥"

राम जैसे प्रियतम नीर के वियोग में पंक के सदृश मेरे हृदय को फट जाना चाहिये था अर्थात् जल के अभाव में कीचड़ में जैसे बड़े-बड़े दरारे पड़ जाते हैं वैसे ही राम के वियोग में मेरे हृदय को भी विदीर्ण हो जाना चाहिये था किन्तु हुआ नहीं। इसलिये मुझे जान पड़ता है कि मेरे शरीर को विधाता ने नारकीय शरीर के समान यातनामय बना दिया। इससे भी यही अर्थ निकलता है कि नारकीय शरीर इतना दृढ़ होता है कि जिससे असह्य दुख भोगने पर भी प्राण वियोग नहीं होता। अज्ञानी, भोगलंपट, परधनापहरण करने वाला तथा 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' के अनुसार कर्म न करने वाले पुरुष ऐसे लोक को प्राप्त होते हैं। इसे भी 'असुर्या नाम ते लोका' यह मन्त्र बतला रहा है। आचार्य भगवत्पाद ने कहा है कि—

इतः को न्वस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति।
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम्॥
(वि० चू० ५)

दुर्लभ मनुष्य शरीर, उसमें भी पुरुष देह प्राप्त कर जो स्वार्थसिद्धि में प्रमाद करता है, उससे बढकर और मूर्ख कौन हो सकता है ? लोग अपना स्वार्थ भी नहीं जान पाते। लौकिक धन ऐश्वर्य की प्राप्ति स्वार्थसिद्धि नहीं कही जाती किन्तु परमात्मा में स्नेह कर आत्म-कल्याण करना ही स्वार्थ कहा गया है। मानस में कहा है कि—

"स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा।
मन क्रम वचन राम पद नेहा॥"

जीव का सच्चा स्वारथ यही है कि मन, कर्म और वचन से परमेश्वर के चरणों में प्रेम होवे। विनय में गोस्वामी जी ने कहा है कि—

जिनके लगन राम सों नाहीं।
ते नर खर कूकर सम वृथा जग माहीं।

अर्थात् जिनका अन्तरात्मारूप परमात्मा के साथ लगाव-सम्बन्ध नहीं है वे मनुष्य खर, कुत्ते और सूअर के समान हैं और उनका संसार में जीना व्यर्थ है। महापुरुषों ने परमार्थ से विमुख लोगों के लिये इस प्रकार कठोर वचन का प्रयोग कर दिया है कि जिसके आधार पर आज हम भी परमार्थ से विमुख व्यक्ति को फटकारने में संकोच नहीं करते। अन्यथा लोग यह कह सकते थे कि देखो यह बाबा कैसा है, रोज दिन हम लोगों को गधा, सूअर, कुत्ता बनाता रहता है। मानस में ही नहीं, भागवत माहात्म्य में भी कहा है कि—

"आजन्ममात्रमपि येन शठेन किंचित्
चित्तं विधाय शुकशास्त्रकथा न पीता।
चाण्डालवच्च खरवद् बत तेन नीतं
मिथ्या स्वजन्मजननीजनिदुःखभाजा।
(३।४२)

दुर्भाग्य की बात है कि १०० वर्ष की आयु वाला मनुष्य शरीर मिला, जिसमें सैकड़ों बोरी गेहूँ, और चावल बरबाद कर डाले। सैकड़ों पीपे घी और तेल को खत्म कर डाला। क्या इतने मात्र के लिए शरीर मिला था? महर्षि वेदव्यास जी कहते हैं कि जिस मूर्ख ने जन्म भर में कभी भी चित्त लगाकर अवधूत शिरोमणि शुकदेव के मुख से निकली हुई भागवत की कथा नहीं

सुनी, वह चाण्डाल और गधे के समान है। उसको जन्म देने में उसकी माता ने जो दु:ख सहा, वह व्यर्थ ही गया। ऐसी अपनी माँ को दु:ख देने वाले मूर्ख ने अपने जीवन को व्यर्थ ही व्यतीत किया। क्योंकि इस जीवन का उद्देश्य परमार्थ चिन्तन भगवद्-गुणानुवाद तथा श्रवणादि था; उसे न करके विषयों का कीड़ा बना रहा है। ऐसे मन्दभागी का उपहास करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि—

'स्थाल्यां वैदूर्य्यमय्यां पचति स लशुनं हीन्धनैश्चन्दनौघै:,
सौवर्णैः लांगलाग्रैर्विलखति वसुधामर्कतूलस्य हेतोः।
छित्त्वा कर्पूरखण्डान् वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्,
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः॥'

आज बड़े बड़े श्रीमन्तों के घर में भी खाने-पीने के लिये सोने चांदी का बर्तन तो रहा नहीं, आधुनिक डॉक्टरों ने लोहे की प्रशंसा कर सोने चाँदी के बर्तनों को फेंकवा कर लोहे के (स्थूल) पात्रों में खाने के लिए कहा। वैसे ही मिट्टी के पात्र या तो संन्यासी रखते थे अथवा गरीब, वह मिट्टी का पात्र (चीनी का) सेठों के घरों को सजाने लग गया फिर भला उनके घर में वैदूर्यमणि की कढ़ाई कहाँ से मिल सकेगी। ऐसे दुर्लभ वहुमूल्य वैदूर्यमणि की बनी हुई कढ़ाई में चन्दन समूह की लकड़ी से वह बदनसीब मानो लशुन पका रहा है। सोने के बने हुए हल से जमीन खोदकर मानो आकड़े की खेती कर रहा है। कोदों की खेती की रक्षा के लिए कपूर खण्ड को काट-काटकर मानों चारों ओर से बाड़ लगा रहा है; जो मनुष्य इस कर्मभूमि को प्राप्त करके भी आत्मकल्याण के लिये परमेश्वर चिन्तन, त्याग तथा तप नहीं करता। अत: मानव जीवन को प्राप्त कर स्वार्थसिद्धि

(आत्मकल्याण) में प्रमाद नहीं करना चाहिये। ऐसे अनेक शास्त्रों और महापुरुषों ने परमार्थ से विमुख व्यक्ति की घोर निन्दा की है। मैं भी बार-बार आप लोगों से इसलिये कहता हूँ कि आपके हृदय में चोट लगे और आप किसी प्रकार परमार्थ की ओर बढ़ें पर यह सांसारिक जीवों का स्वभाव कुत्ते की पूँछ के समान है, जिसे छः मास तक जमीन के नीचे रखा और बाहर निकाला तो भी वह टेढ़ी की टेढ़ी ही, सीधी नहीं होती। सज्जनो ! हमारी बातों में विश्वास कर सावधान हो जाओ और इसके पहले दो मन्त्रों में बतलाये गये सर्वत्र आत्मदर्शन, परस्वत्वरूप लालच का परित्याग तथा विहित कर्मों का अनुष्ठान इत्यादि अपने अधिकारानुरूप कार्य में आत्मकल्याण के उद्देश्य से जुट जाओ अन्यथा 'असुर्या नाम ते लोका' इस मन्त्र का उदाहरण आप ही बन जायेंगे। किसी ने कहा है कि—

'इयमेव परा हानिरुपसर्गोऽयमेव हि।
अभाग्यं परमं चैतद्वासुदेवं न यत्स्मरेत् ॥'

दुर्लभ मानव देह को प्राप्त कर जो सच्चिदानन्द वासुदेव का स्मरण भजन नहीं करता, यही सबसे बड़ी हानि है, बड़ा भारी जीवन में धोखा है और यही अभाग्य की पराकाष्ठा है।

पैंतीसवाँ दिन : आज ईशावास्योपनिषद् के चतुर्थ मन्त्र पर विचार प्रारम्भ हो रहा है। इस मन्त्र के दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द, परमात्मा देवता है एवं अविनाशित्व में इसका विनियोग होता है।

इससे पूर्व प्रसंग में बतलाया गया था कि जिस आत्मा को न जानने के कारण अज्ञानी आत्मघाती कहलाते हैं और उस

आत्मघात का दुष्परिणाम भोगने के लिये उन्हें निबिड अज्ञानान्धकार से आच्छादित असुर लोक में जाना पड़ता है, इसके विपरीत आत्मज्ञानी पुरुष संसार दुःख से छूटकर परमानन्द-स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करता है, उस आत्मा का स्वरूप इस चतुर्थ मन्त्र से बतलाया जा रहा है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।४।

आत्मतत्त्व स्वरूपतः कामनादि क्रिया से रहित और एक है। वही औपाधिक दृष्टि से अति चञ्चल वेगवान् मन से भी अधिक वेग वाला है। इसे चक्षुरादीन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकी हैं क्योंकि व्यापक होने के कारण वह सर्वत्र पहुँचा हुआ है। वह स्थिर रहकर भी दूसरे सभी दौड़ने वाले वायु, काल इत्यादियों का अतिक्रमण कर जाता है। उसके साक्षित्व में सूत्रात्मा सभी प्राणियों के कर्मों का विधान करता है। एजत्=कम्पन, अपने स्वभाव से प्रच्युति इत्यादि विकार जिसमें सम्भव नहीं, उसी को अनेजत् कहा जाता है। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इत्यादि श्रुति भी उस आत्मतत्त्व को कला एवं क्रिया से रहित बतला रही है'। नाना शरीरादि उपाधियों के भीतर भी एक ही आत्म-तत्त्व विद्यमान् है। भेद केवल उपाधि के कारण से है; परमार्थ दृष्टि से नहीं। आप कह सकते हैं कि यदि सभी शरीर में आत्मा एक ही है तो जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, बन्ध-मोक्षादि की व्यवस्था कैसे हो सकेगी ? इसका उत्तर यह है कि जन्मना, मरना स्थूल शरीर का धर्म है; सुख-दुःख अन्तःकरण का धर्म है; बन्ध-मोक्षादि आभास अन्तःकरण को होते हैं, कूटस्थ आत्मा को नहीं। इतनी सी छोटी बात के लिये आत्मा में नानात्व नहीं

माना जा सकता। अग्नि तत्त्व सारे विश्व में एक है किन्तु उपाधि रूप नाना काष्ठादिक इन्धन में पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है। यमाचार्य ने नचिकेता से कहा है कि—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

(क० २।२।६)

जैसे एक ही अग्नि सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है, पर उपाधि के साथ मिलकर तदनुरूप हुआ प्रतीत होता है। ठीक वैसे ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक है पर उपाधि के साथ तादात्म्य होने पर तदनुरूप दिखाई पड़ता है। अतः सम्पूर्ण जन्म-मरणादि सांसारिक विकार औपाधिक हैं। वे सब अज्ञानियों की दृष्टि से आत्मा में प्रतीत होते हैं। मन की चञ्चलता तथा वेग लोक-प्रसिद्ध है, जिसे योगवासिष्ठ में भगवान् राम और गीता में अर्जुन ने भी कहा है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

(गी० ६-३४)

भगवन्! मन चंचल प्रमथनशील तथा दृढ़ है, इसे वायु के समान वश में करना दुष्कर है। महर्षि वसिष्ठ तथा भगवान् श्रीकृष्ण ने उनके अनुभव का समर्थन करते हुए ही उसको वश में करने के लिये कहा है। यह एक क्षण में न जाने क्या-क्या कल्पना कर बैठता है। वायुयान या आज का राकेट भी भागने में इसकी समता नहीं कर सकते। ऐसे वेगवान् मन से भी अधिक वेग वाला आत्मा इसीलिये है कि वह व्यापक है। मन जहाँ जायगा,

वहाँ उससे पहिले ही आत्मा पहुँचकर मन में अपने आभास को उँडेलने के लिये तैयार रहता है। आत्मप्रकाश से मन का प्रकाशन होता है और साभास मन की सहायता से नेत्रादि इन्द्रियाँ किसी बाह्य वस्तु को जानने में समर्थ हो पाती हैं। परमात्मा ने इन्हें बहिर्मुख बनाया है। इसीलिये वे बाह्य वस्तुओं को ही देख सकती हैं, अन्तरात्मा परमात्मा को नहीं, क्योंकि उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इत्यादि कोई गुण नहीं है और इन्द्रियाँ तो ऐसे गुण या ऐसे गुण से विशिष्ट बाह्य वस्तुओं को ही देख सकती हैं। अतः श्रुति ने स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया कि अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के सत्त्वांश से उत्पन्न होने के कारण ये इन्द्रियाँ साभास मन की सहायता से बाह्य वस्तु को तो देख सकती हैं किन्तु अन्तरात्मा को नहीं देख सकतीं। अतः इनसे आत्मदर्शन की अभिलाषा छोड़ो। काल, वायु इत्यादि अत्यन्त वेग वाले हैं, पर इनमें वेग भरने वाला आत्मा ही तो है।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
(क० २।३।३)

इसके भय से अग्नि और सूर्य तपते हैं, इसी के भय से इन्द्र और वायु दौड़ते हैं। यहाँ तक कि मृत्यु भी इसी के भय से रात दिन उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओं को खाती चली जा रही है। इसीलिये ये सब मिलकर भी दौड़ने लग जायं तो भी आत्मा अपनी व्यापकता एवं निःसीम शक्ति से इनका अतिक्रमण कर आगे ही पहुँच जाता है। क्यों न हो, जब इस परमात्मा के नाम के प्रभाव से गणेश जी ने अनन्तशक्तिशाली सभी देवताओं

का अतिक्रमण कर सम्पूर्ण पृथिवी की परिक्रमा की, जिससे ब्रह्मा ने इनको सभी देवताओं में सर्वश्रेष्ठ घोषित किया—

महिमा तासु जानि गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ ॥

रामचरित मानस में गोस्वामी जी ने कहा है कि जिसके नाम की महिमा का गणेश जी ने प्रत्यक्ष अनुभव किया और उसी के प्रभाव से देवताओं में प्रथम पूज्य हो गये ! जब नाम ने ही सभी रॉकेटों का अतिक्रमण कर डाला तो भला उस आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में कहना ही क्या ? समष्टि वायु को सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ कहते हैं, जिसमें सम्पूर्ण प्राणियों के कर्म संस्कार वैसे ही पिरोये हुये हैं, जैसे सूत्र में मणि या तन्तु में वस्त्र। उसे श्रुति मातरिश्वा पद से कह रही है। यही मातरिश्वा सूत्रात्मा समष्टि एवं व्यष्टि जगत् में काम कर रहा है। समष्टि में सूर्य-चन्द्र को प्रकाश एवं शीतलता प्रदान करना अग्नि जलादि में भी शक्ति भरना और व्यष्टि शरीर में रक्त का संचालन इन्द्रियों में गति भरना, उसी सूत्रात्मा के काम हैं पर यह सब उस आत्मतत्त्व के साक्षित्व में ही वह कर रहा है। 'अप्' शब्द का कर्म अर्थ निघण्टु में किया गया है। श्रौत स्मार्त सभी कर्म सोमरस घृत एवं दुग्धादि रूप जल प्रधान द्रव्य से सम्पन्न होने के कारण लक्षणावृत्ति से 'अप' शब्द के द्वारा कर्म को ही बतलाया गया है। यह कर्म अदृष्ट या वासना रूप से उसी सूत्रात्मा में विद्यमान् है, जिसे पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड को सञ्चालन के लिये उस परमात्मतत्त्व के साक्षित्व में मातरिश्वा सूत्रात्मा विभाग करता है। इस प्रकार संक्षेप से चतुर्थ मन्त्र का विचार किया।

छत्तीसवाँ दिन : कल मैंने शास्त्रीय दृष्टि से चतुर्थ मन्त्र का विचार किया था। आज अनुभव के आधार पर उसका

विचार करते हुये आत्मतत्त्व का विश्लेषण करने जा रहा हूँ ।

आत्मतत्त्व को 'अनेजत्' और 'एक' बतलाया गया है । जो परिच्छिन्न होता है, उसी में कम्पन इत्यादि क्रिया हुआ करती है । क्रिया पाँच प्रकार की हैं— (१) उत्क्षेपण (२) अपक्षेपण (३) आकुञ्चन (४) प्रसारण तथा (५) गमन । वस्तु परिच्छिन्न है, इसलिये हम उसे ऊपर फेंक सकते हैं, नीचे फेंक सकते हैं, सिकोड़ सकते हैं, फैला सकते हैं तथा गमनादि क्रिया भी उसमें पैदा कर सकते हैं । पर आकाश अपरिच्छिन्न है, अतः उसमें उक्त पाँचों क्रियाएँ सम्भव नहीं हैं । आकाश को न ऊपर फेंक सकते, न नीचे । न सिकोड़ सकते और न फैला सकते तथा गमनादि क्रिया भी उसमें नहीं पैदा कर सकते हैं । तो भला आकाश से भी अधिक व्यापक उस आत्मतत्त्व में ये क्रियायें कैसे हो सकेंगी ? आत्मा अनुपम है, फिर भी व्यापकता के लिये आकाश से उसकी उपमा दी जाती है "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" इत्यादि । कुछ सम्प्रदायों को छोड़ कर सभी दार्शनिकों ने आत्मतत्त्व को व्यापक माना है । फिर भी न्याय, वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा ने आत्मा को कर्ता एवं भोक्ता मान लिया है । सांख्य-योगदर्शन ने कर्ता न मानते हुए भी भोक्ता तो उस आत्मा को मान ही लिया है । मैं संक्षेप में इन दर्शनों का रहस्य एवं इनकी भूल बतलाकर श्रुति का तात्पर्य स्पष्ट कर देना चाहता हूँ ।

अभी ऊपर कह आये हैं कि व्यापक तत्त्व में कोई क्रिया नहीं होती है । फिर भला ! उस व्यापक आत्मा को इन दार्शनिकों ने कर्ता या भोक्ता कैसे मान लिया है । उत्तर यह है कि आत्मा में गमनागमनादि क्रिया तो नहीं ही है किन्तु व्यापक आत्मा एवं

अणुपरिमाण मन के संयोग से आत्मा में ज्ञान, इच्छा, कृति एवं सुख-दुःखादि गुण उत्पन्न होते हैं। किसी वस्तु को देखने के बाद अनुकूलता के ज्ञान से इच्छा उत्पन्न हो जाती है तथा प्रतिकूलता के ज्ञान से द्वेष उत्पन्न होता है। उसके बाद आत्मा में कृति अर्थात् प्रयत्न उत्पन्न होता है; जो आँखों से दीखता तो नहीं। पर उसके उत्तर काल में शरीरादि की चेष्टा स्वाभाविक रूप से होने लग जाती है। इन गुणों की उत्पत्ति न्यायादि दर्शनों में इसी प्रकार से मानी है जैसे पान, चूने तथा कत्थे के सम्बन्ध से लालिमा उत्पन्न हो जाती है। इसी कृति को लेकर आत्मा को कर्ता कह दिया गया है। आत्मा भात, माल-पुआदि खाता है, ऐसी बात नहीं। इन्हें तो बाहर किसी पात्र में रखने के समान ही पेट तक पहुँचाना भी बोरी भरने के समान ही है। किन्तु शरीर में व्याप्त इन्द्रियों से जुड़े हुये मन का आत्मा के साथ सम्बन्ध होते ही अनुकूलता और प्रतिकूलता का ज्ञान होता है, जिससे सुख या दुःख उत्पन्न हो जाते हैं। इस विषय के सम्बन्ध से होने वाले सुख या दुःख का अन्तिम परिणाम आत्मा में ही वे लोग मानते हैं। इसी से आत्मा को भोक्ता कह देते हैं। बेचारा वह आत्मा खाता-पीता तो नहीं, इनसे होने वाले सुख-दुःख रूप चोट उस आत्मा में ही होती है। इसी प्रकार सांख्य तथा योगदर्शन में आत्मा को भोक्ता कहा गया है। बुद्धि के सत्त्वगुण परिणाम में चेतनात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसी को वे लोग आत्मा में भोक्तृत्व मानते हैं और आत्मानात्म के अविवेक से आत्मा में सुख-दुःख प्रतीत होते हैं। वस्तुतः आत्मा में भोक्तृत्व नहीं है। चाहे प्रतिबिम्ब में भोक्तृत्व मान भी लेवें। पर बिम्बात्मा में भोक्तृत्व कथमपि संभव नहीं है। आकाशस्थ सूर्य का प्रतिबिम्ब घट के जल में पड़ता है एवं जल के हिलने से

प्रतिबिम्ब हिलता हुआ सा प्रतीत होता है। एतावता आकाशस्थ सूर्य को हिलने वाला मानना सर्वथा अनुचित होगा। वस्तुतस्तु प्रतिबिम्ब भी नहीं हिलता, किन्तु जलमात्र हिलता है। पर इस रहस्य को न जानने वाले सांख्य तथा योगशास्त्र ने आत्मा को भोक्ता मान लिया है।

आत्मा एवं मन के संयोग से आत्मा में ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख एवं दुःखादि की उत्पत्ति को लेकर आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि मानने से अर्ध-वैनाशिकत्व एवं चार्वाक मत की प्रसक्ति होगी। चार्वाकों ने भी भूतचतुष्टय के संघातरूप शरीर में ही मदशक्ति के समान चेतन की उत्पत्ति मानी है। वैसे ही आपने भी आत्ममनः संयोग से आत्मा में ज्ञानादि की उत्पत्ति मानी है, इसीलिये दोनों में बहुत थोड़ा ही अन्तर रह जायेगा। इससे अच्छा तो यह था कि चेतनात्मा के संबन्ध से मन में ज्ञानादि की उत्पत्ति मानते। वह आत्मा एक है; नाना नहीं। 'अनेज-देकम्' इन विशेषणों से न केवल आत्मा में विभुत्व का प्रति-पादन किया गया, अपितु जीव नानात्व एवं जीवाणुत्व का भी निषेध किया गया है। न्यायादि सभी दर्शनों में जीव को नाना माना गया है। वैष्णव सम्प्रदायाचार्यों ने जीव को नाना मानते हुए अणु परिणाम भी माना है। दार्शनिकों ने जीव को अणु परिमाण न मानकर विभु परिमाण माना है। पर वेदान्तशास्त्र जीव को एक और विभु बतलाता है। एक मानने पर भी सुख-दुःख, बन्ध-मोक्षादि व्यवस्था उपाधि को मानकर बन जाती है। निरुपाधिक दृष्टि से आत्मा व्यापक, एक एवं निष्क्रिय है किन्तु उपाधि को लेकर मन से भी अधिक वेग वाला, गतिमान् सभी वस्तुओं का आक्रमण करने वाला एवं प्राणियों

के कर्मों का विधान करने वाला उसे कहा गया है। यद्यपि कहीं-कहीं वेदान्त शास्त्र में 'अणोरणीयान्' इत्यादि वाक्य से आत्मा को अणु से अणु और महान् से भी महान् बतलाया गया है। तथापि वह आत्मा का अणु-परिणाम न्यायशास्त्र-सम्मत त्रसरेणु के षष्ठभाग रूप नहीं है। क्योंकि वैज्ञानिकों ने उसे भी सौ भाग में विभक्त कर अनित्य सिद्ध कर दिया है। हमारा अणु-परिमाण तो इस प्रकार है यथा—

"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥"

(श्वेता० ५।९)

बाल के अग्रभाग को सीधे सौ बार चीरने पर जो उसका सौवाँ भाग है उसको पुनः सौ भाग में विभक्त करो और उसके एक भाग को पुनः १०० भाग में विभक्त करो। इस प्रकार सौ बार करने पर उस केश का जो एक भाग होगा उसी प्रकार (वैसा परिमाण वाला) जीव को जानना चाहिये और वैसे जीव का अन्त नहीं होता। हमारी जीव के संबन्ध में इस मान्यता को किसी भी समय कोई दार्शनिक या कोई वैज्ञानिक द्रष्टा गलत सिद्ध नहीं कर सकता। हमने तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म ततोऽपि सूक्ष्म वस्तु में उस आत्मा की विद्यमानता बतलायी। वैसे ही 'महतो महीयान्' का अभिप्राय यह है कि आकाश दिक्-कालादि व्यापक पदार्थ को भी उसने अपनी अधिकतम व्यापकता से अपने भीतर कर रखा है। ऐसी आत्मा आप सभी श्रोताओं का निजरूप है। कदाचित् आप अपने से भिन्न उसे न मान लें, इसीलिये मुझे बार-बार कहना पड़ता है कि हम आप श्रोताओं की ही कथा कर रहे हैं; किसी अन्य भगवान् की नहीं। वेदान्त

सदा नगद सौदा करने के लिये सिखाता है, उधार सौदे के लिये नहीं । अस्तु निर्गुण-निराकार ब्रह्म की व्यापकता, एकता कथञ्चित् संभव हो जाने पर भी सगुण-साकार ब्रह्म में इस बात को कैसे सिद्ध कर सकोगे ? इस बात को एक दृष्टान्त से बतलाया जाता है ।

लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों से कहा—हे गोपियो! शास्त्र में तत्त्वदर्शी महापुरुषों की सेवा से सच्चिदानन्द ब्रह्म की सेवा हो जाती है, ऐसा बतलाया है। तत्त्ववेत्ता साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होता है। देखो ! यमुना के उस पार अपने शिष्यों के साथ दुर्वासा चातुर्मास्य कर रहे हैं। तुम लोग अनेक पक्वान्न तथा स्वादिष्ट भोजन से उन्हें तृप्त करो। इससे तुम्हारी सभी प्रकार की मनोकामनाएँ सिद्ध हो जायँगी। श्रावण का महीना सोमवार भगवान् शंकर का दिन है; ऐसा सोचकर भगवान् श्रीकृष्ण के आदेशानुसार सभी गोपियों ने अपने घर से भोजन के थाल सजाकर दुर्वासा महर्षि को भिक्षा कराने के लिये चल पड़ीं। यमुना जी दोनों किनारों से उछलती हुई चल रही थीं जिनमें असंख्य भयंकर भँवर दिखायी पड़ते थे। भयंकर बाढ़ के कारण मल्लाहों ने नाव चलाना भी बन्द कर रखा था। ऐसी परिस्थिति में नदी पार कैसे की जाय ? इस चिन्ता में सभी गोपियाँ पड़ गयीं। उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ आ गये। उन्हें देखते ही गोपियों ने प्रसन्न हो यमुना के उस पार जाने के लिये भगवान् से उपाय पूछा। श्रीकृष्ण ने कहा—तुम लोग यमुना से कहो कि "हे यमुने ! श्रीकृष्ण ने कहा है कि यदि मैं अखण्ड ब्रह्मचारी हूँ तो तू हमें मार्ग दे"। भगवान् श्रीकृष्ण के कहने पर गोपियाँ मन ही

मन हँसने लगीं कि इस काले की हरकतें हम सभी जानती हैं। यह कब से ब्रह्मचारी बन गया ? चलो, हमें तो अपने काम से मतलब है । गोपियाँ यमुना के पास गयीं और यमुना से श्रीकृष्ण की बात ज्योंही कही तो यमुना का पानी उतर गया और एक सड़क दिखायी पड़ी । अत्यन्त सरलता से गोपियाँ उस पार चलीं गयीं और दुर्वासा के चरणों में भोजन का थाल रखकर सभी ने निवेदन किया कि हे प्रभो ! आप इस भोजन को स्वीकार करो । यह शुद्ध गोघृत से बनाये हुए पक्वान्न, माल-पुआ, कचौड़ियाँ, अनेक प्रकार की सब्जियाँ हैं, और गोदुग्ध की बनी खीर है। हम लोगों के यहाँ डालडा का प्रयोग नहीं होता है और मूँगफली तेल की तो बात ही क्या ? महर्षि दुर्वासा गोपियों की प्रार्थना मानकर भोजन के लिए बैठे। बस क्या था, एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी थाली को मिनटों में चाट गये, अर्थात् गोपियों के लाये सैकड़ों थाल भोजन को दुर्वासा अकेले ही खा गये । शिष्य लोग उनका मुँह ही ताकते रह गये । उनको प्रसाद तक नहीं मिला, गोपियों की तो बात क्या ? गोपियों ने अपनी-अपनी थाली धोकर पी लिया और उसीको महर्षि का प्रसाद समझा । चलते समय यमुना पहले के जैसे ही दोनों तटों से उछल रही थी। वे दुर्वासा के पास आयीं और उस पार जाने का उपाय पूछा। दुर्वासा ने कहा—जाकर कहो कि हे यमुने ! यदि दुर्वासा ऋषि अखण्ड उपवास रखते हैं तो तू हमें जाने के लिये रास्ता दे। गोपियों ने वैसा ही कह दिया और यमुना ने गोपियों को मार्ग दे दिया । इन दोनों घटनाओं से सभी गोपियों को बड़ा आश्चर्य हुआ । न केवल हम श्रीकृष्ण की करामातें जानती हैं अपितु दुर्वासा ऋषि हमारे देखते ही देखते सैकड़ों कौर खा

गये, फिर भला उनका अखण्ड उपवास कैसा ? दुर्वासा झूठे और यमुना भी झूठी ही हैं। पर मन में से निकालने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण से ही पूछा। गोपियों ने सभी घटना कह सुनायी। उनकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥"

जिसकी किसी कर्म में कर्तृत्वाभिमान नहीं है और जिसकी बुद्धि कर्मफल से लिपायमान नहीं होती; वह न तो हनन क्रिया का कर्ता ही बनता है और न उस पाप से वह बँधता है। इसलिये तत्त्ववेत्ता महात्माओं की स्थिति की पहिचान बाह्य-क्रिया से नहीं होती। अतः मैंने एवं दुर्वासा महर्षि ने जो कहा है, दोनों ही ठीक है। यमुना इस रहस्य को जानती हैं। इसलिये उन्होंने तुम्हें मार्ग दे दिया। अब तुम जाओ, सन्देह-रहित हो मेरा भजन करो और समय-समय पर साधु ब्राह्मणों की सेवा किया करो।

अतएव 'अनेजदेकम्' इत्यादि श्रुति की व्याख्या करते हुए जैसे हमने निर्गुण निराकार ब्रह्म को निष्क्रिय एवं निष्कलंक माना है; वैसे ही सगुण साकार ब्रह्म के विषय में भी समझना चाहिये। उसकी व्यापकता काकजी ने अनुभव किया है और उसकी द्रुतगामिता का अनुभव द्रौपदी ने भी किया है। इसलिये मैं इस प्रसंग को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता।

"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" ॥ ५ ॥

इस मन्त्र के दधीच ऋषि (दध्यङ्ङाथर्वण) आर्ष्यनुष्टुप् छन्द, आत्मा देवता है, लोकान्तरगमन में विनियोग है।

सैंतीसवाँ दिन : आज ईशावास्योपनिषद् के पञ्चम मन्त्र पर विचार प्रारम्भ किया जा रहा है। इससे पूव चतुर्थ मन्त्र में आत्मा का स्वरूप जैसा बतलाया गया, लगभग वैसे ही इस मन्त्र से बतलाया गया है। ऐसी परिस्थिति में पूर्व मन्त्र से उक्त अर्थ को ही बतलाने की क्या आवश्यकता है ? भगवत्पाद शंकराचार्यजी ने उत्तर दिया है कि 'न मन्त्राणां जामिताऽस्ति' अर्थात् सहस्र माताओं से अधिक वात्सल्य रखने वाली श्रुति भगवती के मन्त्रों में आलस्य नहीं है। जिज्ञासु को जब तक परमात्मतत्त्व का बोध नहीं हो जाता, तब तक पुनरुक्ति की परवाह न कर बार-बार आत्मतत्त्व को बतलाती है।

"वह आत्मतत्त्व चलता भी है और नहीं भी चलता है, वही दूर में भी है और निकट भी, वह सभी के भीतर है और वही इस दृश्यमान् जगत् के बाहर भी है।"

उपाधि के साथ संबन्ध होने पर वह आत्मा शरीर एवं इन्द्रियों से होने वाली संपूर्ण क्रियाओं का कर्ता है; परमार्थतः नहीं। परमार्थ दृष्टि से तो वह निष्कल और निष्क्रिय है। जैसे आकाशस्थ सूर्य का जल में प्रतिबिम्ब पड़ता है और वह जल के हिलने से हिलता हुआ सा प्रतीत होता है, वस्तुतः वह हिलता नहीं है। वैसे ही अन्तःकरणादि उपाधियों की चञ्चलता से उसमें प्रतिबिम्बित आत्मा चञ्चल सा प्रतीत होता है, परमार्थ दृष्टि से वह अचल, निष्क्रिय एवं निष्कल है। यथा "स्थिरमचलममृतमच्युतं ध्रुवम्" "वह आत्मतत्त्व स्थिर, अचल,

अमर, स्वभावतः अपनी स्थिति से प्रच्युत न होने वाला और ध्रुव है (मै० ६।२३)। अतः परस्पर एक ही आत्मतत्त्व में विरुद्ध बातें सुनकर आशंका न करें। वह आत्मतत्त्व अविवेकियों की दृष्टि से बहुत दूर है क्योंकि उन्हें तो करोड़ों जन्मों में भी आत्मा प्राप्त हो नहीं सकता। किन्तु वही आत्मतत्त्व अपना निजरूप होने के कारण तत्त्वज्ञ की दृष्टि से अत्यन्त निकट है।

"दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्।"
(मुण्डक० ३।१।७)

अविवेकी के लिये दूर से दूर और विवेकी के लिये निकट से भी निकट है, क्योंकि आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले पुरुष ने इस शरीर के भीतर ही बुद्धिरूपी गुफा में उस आत्मा को निहित रूप से जाना है। पर यह भी स्मरण रहे कि उस स्वयंप्रकाश आत्मा को चक्षुरादि इन्द्रियाँ प्रकाश नहीं कर सकती हैं जैसे कि पूर्वमन्त्र में भी "नैनद्देवा आप्नुवन्" इस वाक्य से बतलाया गया है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि—

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।।

वह आत्मा चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों से एवं वाणी इत्यादि कर्मेन्द्रियों से जाना नहीं जाता और वैसे ही अन्य किसी भी साधन एवं तप तथा कर्म से नहीं जाना जाता, उसे तो विशुद्धान्तःकरण पुरुष ही उस निष्कल आत्मतत्त्व के प्रसाद से जानता है क्योंकि आत्मा को छोड़ कर सभी अनात्मवस्तु जड़ हैं। ये आत्मा का प्रकाश कैसे कर सकेंगी ? यद्यपि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' 'दृश्यते

त्वग्रया बुद्धया' इन श्रुतियों से आत्मतत्त्व अन्तःकरण से दीखता है, ऐसा बतलाया गया है। किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर ब्रह्माकार वृत्ति में स्वयंप्रकाश आत्मा अपने आप ही प्रकाशित होता रहता है। इसे एक दृष्टान्त से समझो। किसी अन्धेरे कमरे में टोकरी से ढकी हुई पुस्तक को आप देखना चाहें तो टोकरी को हटाकर तथा प्रकाश लाकर ही उसे देख पायेंगे, किन्तु किसी अन्य कमरे में पात्र से ढके हुये दीपक को देखना चाहें तो पात्ररूप ढक्कन को हटाने मात्र की आवश्यकता है। दूसरे दीपक को लाने की आवश्यकता नहीं है। वैसे ही जड़ वस्तुओं को देखना चाहे तो विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति होनी चाहिये एवं उसमें प्रकाशरूप चेतनात्मा का प्रतिबिम्ब भी होना चाहिये किन्तु स्वयंप्रकाश आत्मा को देखने के लिये आत्माकार वृत्ति मात्र की आवश्यकता है। उसमें चेतनरूप प्रतिबिम्बादि की नहीं। अतएव विवेकी पुरुष ब्रह्माकार वृत्ति में स्वयंप्रकाश ब्रह्म का आत्मभावेन साक्षात्कार करता है। इसलिये उनकी दृष्टि से आत्मतत्त्व अत्यन्त निकट है। वही आत्मतत्त्व सब के बाहर और भीतर सर्वत्र विद्यमान् है।

**ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्" ॥**

(मु० २।२।११)

यह आत्मस्वरूप अविनाशी ब्रह्म ही सबके आगे-पीछे दक्षिण, उत्तर, नीचे तथा ऊपर भी फैला हुआ है। किंबहुना सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म रूप ही तो है। इससे भी सबके बाहर भीतर ब्रह्म की व्यापकता सिद्ध होती है। व्यापक ब्रह्म हमारे रोम-रोम में, तन में तथा

मन में भी विद्यमान् है। इस पर शंका हो सकती है कि फिर मन में व्यापक ब्रह्म को चिन्तन करने की क्या आवश्यकता? वह आनन्दस्वरूप व्यापक होने पर भी आनन्द का भान क्यों नहीं होता, इसे मैं एक दृष्टान्त से बतलाता हूँ।

एक जिज्ञासु भक्त ने तत्त्ववेत्ता महात्मा से पूछा कि भगवन्! परमेश्वर कैसा है और कहाँ रहता है? महात्मा ने 'तदेजति तन्नैजति' इस मन्त्र के आधार पर परमात्मा का स्वरूप बतलाया कि वह परमेश्वर व्यापक परिपूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूप है और वह तुम्हारा निजरूप है। जिज्ञासु ने पूछा—यदि वह ऐसा है तो मुझे उसका अनुभव क्यों नहीं होता? महात्मा ने कहा कि व्यापक होने से परमात्मा तुम्हारे मन में अवश्य है किन्तु तुम्हारा मन परमेश्वर में नहीं है। तुम्हारा मन तो संसार में लगा हुआ है। अनेक प्रकार से समझाने पर भी जब उसे परमात्मतत्त्व का बोध न हो सका तो उन्होंने कहा—जाओ, हरिद्वार हर की पौड़ी में एक विचित्र रंग की मछली है जो मनुष्य की आवाज में बोलती है। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर वही देगी। बेचारा जिज्ञासु चटपट महात्मा के चरणों में प्रणाम कर हरिद्वार के लिये चल पड़ा। वहाँ हर की पौड़ी में एक किनारे बैठ चिरकाल तक उस मछली की प्रतीक्षा करता रहा। वह सभी मछलियों को देख अपना प्रश्न दुहराता था कि परमात्मा कहाँ रहता है और वह मुझे कैसे मिल सकेगा? जब वह मछली आयी तब उस जिज्ञासु का प्रश्न सुनकर उसने पूछा—तू कहाँ से आया? जिज्ञासु ने कहा—गुरुदेव ने तुम्हारे पास मुझे भेजा है। मैं यह जानना चाहता हूँ कि परमेश्वर कहाँ है, और वह मुझे कैसे प्राप्त होगा? मछली ने कहा कि मैं सात

दिन से प्यासी हूँ. पहले तो यह बता कि मुझे जल कहाँ मिलेगा। मछली की बात सुन भक्त हँस पड़ा और कहने लगा—हे बावरी! जल तो तुम्हारे नीचे है. ऊपर है, पूर्व-पश्चिम चारों ओर जल ही तो है। भक्त की इस बात से एवं हँसी से मछली गम्भीर होकर बोली—अरे भोले भगत ! तू भी मेरे ही जैसा बावला है। जिस परमात्मा को तू ढूँढता है वह परमात्मा तो तुम्हारे पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर सभी ओर है। जिज्ञासु को इस उत्तर से थोड़ा संतोष तो हुआ। यदि ऐसी बात है तो मुझे सच्चिदानन्द परब्रह्म का साक्षात्कार क्यों नहीं होता और मैं दीन दुःखी क्यों हो रहा हूँ ? मछली ने कहा—ऐसा ही मेरा प्रश्न है। यदि जल मेरे सभी ओर है तो मेरी प्यास बुझती क्यों नहीं ? जिज्ञासु मछली की प्राकृतिक बनावट को जानता था कि जब तक मछली सीधी तैरती है तब तक उसके पेट में जल की एक बूँद भी नहीं जाएगी। उसे प्यास बुझाने के लिये पलटना पड़ेगा। और इस प्रकार की बनावट समुचित ही है नहीं; तो जल से पेट फट जाने पर उसको मृत्यु ही हो जायगी। मछली ने कहा जैसे हमें प्यास बुझाने के लिये पलटा खाना पड़ता है; वैसे ही तुम्हें भी परमानन्द की प्राप्ति तथा संसार दुःखदावाग्नि से बचने के लिये पलटा खाना पड़ेगा, अर्थात् संसार से मनोवृत्ति को हटाकर परमेश्वर में लगाओगे, तभी तुम्हारा दुःख-द्वन्द्व मिट सकेगा। मछली की इस बात पर पूर्ण विश्वास कर भक्त ने ऐसे ही किया। तत्पश्चात् दुःख-द्वन्द्व मिट गये और उसने परमात्मा का आत्मरूपेण साक्षात्कार किया। अतएव मैं आज भी कहता हूँ कि श्रुति भगवती के वचनों में विश्वास कर जो कोई सच्चिदा-नन्द परमात्मा का आत्मभावेन चिन्तन करेगा; उसे अवश्य

उसका प्रत्यक्ष होगा और कारण सहित दुःखों की निवृत्ति हो जायगी।

अड़तीसवाँ दिन :

'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते' ॥६॥

इस मन्त्र के दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि, निच्यदार्ष्यानुष्टुप् छन्द तथा ज्ञानी देवता हैं। इसका विश्वप्रेमोपदेश में विनियोग होता है।

आज इसी षष्ठ मन्त्र के ऊपर विचार करना है। जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता और सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता। प्रथम मन्त्र में ईश से सम्पूर्ण जगत् को आच्छादित करने के लिये कहा था। ऐसा न करने वाले को तृतीय मन्त्र से आत्मघाती बतलाया गया है। इन दोनों बातों का तालमेल नहीं खाता। इसी का उत्तर इस मन्त्र से दिया जा रहा है कि आत्मा और परमात्मा एक है। अतएव जो कोई भी अधिकारी मुमुक्षु सम्पूर्ण भूतों को श्रुति आचार्य के उपदेशानन्तर आत्मा में ही देखता है अर्थात् आत्मा से पृथक् नहीं देखता, क्योंकि अधिष्ठान से अध्यस्त वस्तु की पृथक् सत्ता नहीं होती। इसीलिये वह तत्त्ववेत्ता विशुद्धात्मचैतन्य का साक्षात्कार हो जाने पर उससे भिन्न किसी भी प्राणी को नहीं देखता। व्यवहार काल में दीखने वाले भूतों में सत्ता, स्फूर्ति तथा प्रेम से ओत-प्रोत देखता है। ऐसा यथार्थदर्शन हो जाने के कारण वह किसी से घृणा नहीं करता। अपितु सम्पूर्ण विश्व में अपनी आत्मा को देखता हुआ सबके साथ समान व्यवहार करता है।

इस मन्त्र में 'एव' शब्द आया है। जिसका तात्पर्य यह है कि रस्सी में कल्पित सर्प के समान सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही सम्पूर्ण विश्व को कल्पित देखता है। जब द्वैत ही नहीं नजर आता तो भला घृणा करे तो किससे? घृणा और द्वेष तो अपने से भिन्न दुष्ट एवं प्रतिकूल वस्तु को देखकर ही होते हैं। सर्वत्र सत्यं शिवं सुन्दरम्' को देखने वाले के हृदय में घृणा कैसी उत्पन्न हो सकेगी?

'अनुपश्यति' का तात्पर्य यह है कि ऐसा आत्मदर्शन श्रुति एवं आचार्य के उपदेश से ही हुआ करता है। लोगों ने अपनी दूषित दृष्टि से भेदवाद, दुःखवाद एवं घृणावाद को फैला रखा है पर वेद तो विश्वप्रेम एवं सर्वत्र आनन्दवाद का पाठ पढ़ाता है।

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्' ॥

अर्थात् 'सभी सुखी होवें, सभी नीरोग रहें, सभी कल्याण को देखें और कोई भी दुःखी न हो' इस वैदिक सिद्धान्त में भेद संकीर्णता एवं घृणा का स्थान ही नहीं है। बल्कि सब किसी को इस प्रकार बनने का श्रुति का आह्वान है। और बात भी स्वाभाविक है कि सर्वत्र आत्मदर्शी की ऐसी स्थिति हो ही जाती है। भोजन करते समय अपने ही दाँतों से किसी की जीभ कट जाय तो वह व्यक्ति दाँतों को नहीं तोड़ने लग जाता। वह समझता है कि जीभ कटने से दुःख मुझे हो रहा है। दाँत तोड़ने से तो दुगना दुःख होने लगेगा। सर्वात्मदर्शन न होने के कारण अज्ञानी यदि तत्त्ववेत्ता को किसी प्रकार दुःख पहुँचाता है, तो उसका प्रतिकार वह नहीं

करता। पर ऐसा तत्त्वज्ञान दुर्लभ है। गीता में भगवान् ने कहा है—'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।' 'सभी वासुदेव है —ऐसा देखने वाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।' युक्ति एवं श्रुति के आधार पर सर्वत्र सच्चिदानन्द आत्मा को जानने के बाद भी सर्वात्मप्रेम के बिना सर्वत्र परमानन्द का अनुभव नहीं हो सकता। इसे मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि सत्ता एवं चेतनता के समान सर्वत्र विद्यमान् आनन्द की उपलब्धि के लिये सर्वत्र प्रेम की आवश्यकता है। इसीलिये व्याघ्र एवं सर्प को देख उसमें प्रेम होने के कारण व्याघ्री एवं सर्पिणी को आनन्द का अनुभव होता है, पर हम लोगों को नहीं होता। पुत्र मित्र को देखने पर आनन्द का अनुभव होता है, शत्रु को देखने पर नहीं होता। वहाँ प्रेम को ही कारण मानना होगा। यह भी स्मरण रहे कि सर्वात्म-दर्शन से पहले जहाँ कहीं भी प्रेम दीखता है, वह वस्तुतः राग है प्रेम नहीं। राग में रागी पुरुष कुछ लेना चाहता है। प्रेम तो स्वरूप सिद्ध वस्तु है। शरीर एवं तत्सम्बन्धी वस्तु में राग होता है, प्रेम नहीं। प्रेम परमात्मा में ही होता है क्योंकि आत्मप्रेम किसी अन्य के लिये नहीं, वह तो आत्मा की स्वरूपसिद्ध वस्तु है। राग एवं प्रेम की पहिचान अन्य प्रकार से हो सकती है। आपने किसी से प्रेम किया, वह बदले में प्रेम नहीं करता, उल्टे कष्ट देता है तो निश्चय ही उसके प्रति आपका प्रेम कायम नहीं रहेगा, कुछ क्षणों में वह नष्ट हो जायगा। इसीलिये इसे प्रेम न कहकर राग कहना चाहिए। प्रेम का पाठ चातक पक्षी से लिया जा सकता है। वह स्वाति नक्षत्र के जल का प्यासा है, उसके सिवा दूसरा जल वह छूना ही नहीं चाहता। मानस में गोस्वामी जी ने कहा है कि—

'जलद जन्म भरि सुरति बिसारे। जाचत ज़ल परि पाहन डारे।
चातक रटनि घटे घटि जाई। चढ़े प्रेम सक भाँति भलाई ॥'

अर्थात् स्वाति नक्षत्र के जल का प्रेमी चातक को सदा के लिये बादल भूल जाय और जल के बदले में उस चातक के ऊपर बिजली और ओले की वर्षा करने लगे। संभव है कि प्यास के कारण चातक की आवाज कण्ठ सूखने से धीमी पड़ जाय, पर उसके हृदय में स्वाति नक्षत्र के जल के प्रति लगा हुआ स्नेह-प्रेम घटता नहीं; अपितु बढ़ता ही जाता है। क्योंकि उसी में उसका हित है। ऐसे ही तत्त्ववेत्ता पुरुष सर्वात्मदर्शन के कारण विश्व से प्रेम करता है, बदले में वह कुछ भी नहीं चाहता। चाहे सम्पूर्ण विश्व उसके प्रेम के उपहार में उसे कष्ट ही क्यों न दें, फिर भी वह विश्वप्रेम को तिलाञ्जलि नहीं दे सकता। वह तो संपूर्ण विश्व के प्रति प्रेम करने में वैसा ही विवश हो गया है, जैसा अज्ञानी अपने प्रति प्रेम करने में विवश रहता है। इस विषय में मनसूर भक्त का दृष्टान्त स्मरणीय है। सर्वात्म दर्शन के कारण उसके हृदय में विश्वप्रेम जग चुका था। वह रह-रह कर 'अहं ब्रह्मास्मि' (अनलहक) की आवाज लगाया करता था। मूर्ख मुसलमानों को इस बात से भारी नफरत थी। बन्दा कभी खुदा हो नहीं सकता किन्तु इन मूर्खों को इस बात का पता नहीं कि खुदी को छोड़ देने पर बन्दा ख़ुदा से जुदा नहीं रह जाता। अलमस्त मनसूर प्रेम के प्याले पीकर मस्त हो चुका था और सारे विश्व को पिलाना चाहता था। बदनसीव मुसलमानों को महज नफरत थी। वे उसे भले बुरे कहने लगे। काजी-मुल्ला ने मनसूर को मारने के लिये भी कहा। नतीजा यह हुआ कि बेरहम मुसलमानों ने निष्पाप

मनसूर को बेतरह पीटा। जल्लादों ने उसके हाथ पैर कटवा डाले, फिर भी वह अनलहक की आवाज लगाता ही जा रहा था। अपनी जिद्दपर अड़े हुए जल्लाद एवं मुसलमान उसकी जीभ काटने के लिये तैयार हो गए। सैतानों से अलमस्त फकीर मनसूर ने कहा—ज़रा रुक जाओ। मुझे कुछ कहने दो, फिर जो तुम्हारी मर्जी जैसे हो करना। उसने परमात्मा से इबादत करते हुए कहा कि हे अल्ला! इन नासमझ के गुनाहों पर नजरन्दाज कर देना। ये बेचारे नासमझी में ऐसा कह रहे हैं। इनकी खताओं पर रहम करना। इतना कहने के बाद उसने जल्लादों से कहा कि जो तुम करना चाहते हो, करो। मनसूर की इस सहिष्णुता और रहम का देखकर वहाँ के मुसलमान और जल्लादों के पैरों के नीचे से धूलि भागने लग गयी। अपनी भूल पर पश्चात्ताप करने लग गये। तात्पर्य यह है कि इसको प्रेम कहते हैं, जहाँ बदले में कुछ चाह नहीं होती। साधक के अन्दर प्राणीमात्र के प्रति द्वेष घृणा का परित्याग कर प्रेम को जगाना पड़ता है। पर तत्त्वज्ञानी में यह स्वभावतः हुआ करता है। इसे नैष्कर्म्यसिद्धि में सुरेश्वराचार्यजी ने कहा है कि—

"उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः॥" ४-४६

जिसे आत्मतत्त्व का यथार्थ बोध हो चुका है, उसके अन्दर गीता के बारहवें अध्याय में बतलाये हुये—

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।"

इत्यादि भक्त के लक्षण बिना यत्न के ही आ जाते हैं; उसके लिये उसको पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता। आचार्य भगवत्पाद ने पञ्जरिकास्तोत्र में कहा है कि—

'त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुः, व्यर्थं कुप्यसि मय्यसहिष्णुः ।' (८)

क्रुद्ध असहनशील व्यक्ति को उपदेश करते हुये भगवत्पाद ने कहा है कि तेरे और मेरे अन्दर तथा अन्यत्र सभी जगह एक ही परमेश्वर है, तो भला व्यर्थ ही मेरे ऊपर असहिष्णुता के कारण क्यों क्रोध कर रहा है। अर्थात् सर्वात्मदर्शी के मन में किसी के प्रति क्रोध हो ही नहीं सकता। क्रोध तो भेद दृष्टि में ही हुआ करता है। मानस में महर्षि लोमश तथा काकजी के संवाद प्रसंग से हमें इसी बात का उपदेश मिलता है—

सत्य बचन बिस्वास न करही। बायस इव सबही ते डरही।
सठ स्वपच्छ तव हृदयँ बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला॥
लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥

तुरत भयउँ मैं काग तब पुनि मुनि पद सिरु नाइ।
सुमिरि राम रघुबंस मनि हरषित चलेउँ उड़ाइ॥
उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(उत्तरकाण्ड ११२)

महर्षि लोमस ने कहा—अरे मूर्ख ! तुम्हारे हृदय में अपने पक्ष के प्रति विशाल पक्षपात है, इसलिये जाओ शीघ्र ही चण्डाल पक्षी कौवा बन जाओ। काकजी ने इस शाप को वर-दान समझकर शिर पर चढ़ा लिया। उनके मन में न तो कुछ भय है और न दीनता ही। महर्षि के मुख से शब्द निकलते ही मैं (काकजी) कौवा बन गया और फिर उनके चरणों में अपना शिर झुकाकर रघुकुलमणि राम का स्मरण करता हुआ प्रसन्न मन से उड़कर चल दिया। यह स्मरण रहना चाहिये कि काकजी को कौवा बनने में ब्राह्मण शरीर का परित्याग कर

कौवे के गर्भ में नहीं जाना पड़ा। किन्तु देखते ही देखते नर शरीर कौवे के रूप में परिणित हो गया। इसे योगदर्शन तथा वेदान्त के आधार पर अत्यन्त सरलता से समझा जा सकता है जिसे मैं अन्य प्रसंग में बतलाऊँगा। इस घटना की बात सुनकर पार्वती के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह मन ही मन कहने लगी, शायद भांग के नशे में भोले बाबा आज अनाप-शनाप बोल रहे हैं। पार्वती की भावना जानकर भगवान् शंकर ने उसे सम्बोधित करते हुये कहा—हे उमा ! जो राम के चरणों में रत है, जिसके काम, क्रोध और मद समूल नष्ट हो चुके हैं, सम्पूर्ण संसार को प्रभुमय देखता है; वह भला किसके साथ विरोध करे ? शिवजी के इस वाक्य को काक और लोमश दोनों में ही व्यङ्ग्योक्ति लगा लेना चाहिये अर्थात् काक में यह काल है और लोमश में नहीं। इसीलिये ऐसी दुर्घटना से भी काकजी के मन में कोई क्षोभ नहीं हुआ। यह 'ततो न विजुगुप्सते' इसका ज्वलन्त उदाहरण है। ऐसी स्थिति सर्वात्मदर्शन के बाद ही संभव है, केवल सगुण रूप के दर्शन से नहीं।

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त नामदेव के द्वारा अर्पण किये गये भोग को भगवान् प्रतिदिन सगुण विग्रह से प्रत्यक्ष हो उनके सामने ही खाया करते थे। निःसन्देह नामदेव भगवान् का परम-भक्त था। उसे भक्त होने का अभिमान भी था किन्तु सर्वात्म-दर्शन न होने के कारण गोरे कुम्हार के घर में भक्तों की परीक्षा के समय डण्डा लगते ही उछल पड़े और अपने को कच्चा सिद्ध किया। इस घटना को नामदेव के मुख से सुनकर भगवान् ने भी कहा—नामदेव ! यह बात सत्य है कि तू मेरा अनन्य भक्त है किन्तु तू मेरे सर्वात्मभाव को जानता नहीं, इसलिये तू कच्चा है। अतएव गोरे के घर में तुम्हें मुँह की खानी पड़ी।

सर्वात्मदर्शी विसोबा खेचर को गुरु बनाओ। भगवान् का आदेश मानकर विसोबा के पास नामदेव गये। नामदेव ने देखा कि विसोबा शिवलिंग के ऊपर पैर रखकर सोये हैं। नामदेव को विसोबा के इस व्यवहार से अत्यन्त दुःख हुआ कि भगवान् के ऊपर यह पैर रखे हैं। वे बिना बात किये ही लौटना चाहते थे इतने में विसोबा ने कहा—नामदेव! आप कैसे आये और क्यों लौट रहे हैं। भगवन्! भगवान् के आदेशानुसार आपको गुरु बनाने आया था। पर आपके इस व्यवहार से अत्यन्त असन्तोष होने के कारण लौट रहा हूँ। विसोबा ने सरलता से कहा—नामदेव! जहाँ भगवान् नहीं हों, वहाँ मेरे पैर को रख दो। नामदेव विसोबा के पैर जिधर ले जाते, उधर पैर के नीचे शिवलिंग दीखता। उसकी आँख खुली और भगवान् के परिच्छिन्न विग्रह को वह व्यापक रूप से प्रत्यक्ष देखने के लिये विसोबा के चरणों में गिर पड़ा। विसोबा ने नामदेव को भगवान् के सर्वात्मभाव का केवल उपदेश ही नहीं किया अपितु दर्शन भी करा दिया। अब नामदेव को—

'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानम्'

इस मन्त्रोक्त सिद्धान्त का साक्षात्कार हुआ। पश्चात् सर्वात्मभाव के कारण सर्वात्मप्रेम उसके हृदय में उत्पन्न हो गया और परिच्छिन्न दृष्टि सदा के लिये जाती रही। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में यही कहा है कि—

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति'॥

मन्त्रोक्त सिद्धान्त को ही गीताकार ने भी कहा है।

उनतालीसवाँ दिन :

'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' ॥७॥

इस मन्त्र के दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि, निच्यृदार्ष्यनुष्टुप् छन्द, तत्त्वज्ञानी देवता है और वासना क्षय में विनियोग है।

जिस काल में तत्त्वज्ञानी के लिये सम्पूर्ण प्राणी आत्मा ही हो गया, उस समय उस अभेददर्शी को क्या मोह और क्या शोक ? इस प्रकार इस सप्तम मन्त्र का अर्थ संक्षेप से बतला कर विस्तार किया जाता है।

न केवल सर्वात्मदर्शन हो जाने पर तत्त्ववेत्ता में घृणा का अभाव हो जाता है, अपितु ज्ञान की परिपक्व दशा में मोह एवं तज्जन्य शोक पद उपलक्षित सम्पूर्ण संसार का अभाव भी हो जाता है। इसी बात को यह श्रुति बतला रही है। तत्त्वज्ञान हो जाना एक बात है और तत्त्वनिष्ठा एवं शोकादि सम्पूर्ण अनर्थों का अत्यन्ताभाव हो जाना दूसरी बात है। बृहदारण्यक उपनिषत् में कहा है कि—

'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्' ॥
(४।४।१२)

'यदि मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा जान लिया तो भला किस वस्तु की कामना करते हुये शरीर के पीछे सन्तप्त होने लगे ? सारे शोक सन्ताप मोह से उत्पन्न शरीर में ही होते हैं। उसमें 'अहम्'

अभिमान करके जीव उसके पीछे व्यर्थ ही संतप्त होता है। कुछ रोग स्थूल शरीर में हैं, जिनकी निवृत्ति के लिये करोड़ों रुपये सरकार व्यय करती है। पर इनसे भी जबर्दस्त रोग मन में हैं, जिनकी निवृत्ति के लिये सरकार ने कोई योजना नहीं बनायी। यदि मन अस्वस्थ है तो शरीर स्वस्थ होता हुआ भी संसार में कुछ काम न कर सकेगा। शत्रुओं को कम्पित कर देने वाले धनुर्धारी अर्जुन के मन में जब मोह और कार्पण्य उत्पन्न हो गये तो अपने गाण्डीव धनुष का निशाना शत्रु को बनाना दूर रहा, वह तो उस गाण्डीव धनुष को उठाने में भी असमर्थ हो गया—

'गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव' ।।

भगवन् ! वह गाण्डीव धनुष मेरे हाथ से खिसकता जा रहा है। मेरी त्वचा जली जा रही है, मैं खड़ा होने में भी समर्थ नहीं हूँ। मेरा मन चक्कर काट रहा है। यह देखिये अब तो अपशकुन भी दीखने लग गये, इत्यादि। शत्रुओं को सामने देखते हुये वर्षों की तैयारी के बाद भी मानसिक रोग के कारण अर्जुन की जो स्थिति हुई; महाभारत उसका साक्षी है। एवं मानसिक रोगों की दवा का प्रबन्ध राष्ट्रीय दृष्टि से न हो, यह किसी राष्ट्र के लिये खेद एवं लज्जा की बात है। सम्पूर्ण मानसिक रोगों का मूल कारण मोह है। इसे गरुड़ जी के प्रश्न करने पर काकजी ने मानस के अन्दर बतलाया है। उन्होंने कहा है कि—

'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।।

प्रीति करहिं जो तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।।
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना'।।

अनादि अनिर्वचनीय अज्ञानरूप मोह ही सम्पूर्ण मानस रोगों का निदान है। इसी से अनेक प्रकार के दुःख होते हैं, जिनमें काम, क्रोध एवं लोभ प्रमुख हैं। जैसे स्थूल शरीर में वात, कफ तथा पित्त तीन धातु होते हैं, वैसे ही मन में कामरूप वात, अपार लोभ रूप कफ और सदा छाती को जलाने वाला क्रोध रूप पित्त विद्यमान् हैं। इन तीनों में से एक-एक के विषय होने पर एक उसका गमन हो सकता है किन्तु एक साथ तीनों के भड़क उठने पर सम्हालना कठिन है। तब तो सन्निपात होकर ही रहता है। जैसे शारीरिक सन्निपात से मृत्यु निकट में दीखने लग जाती है। वैसे ही मानसिक सन्निपात होने पर जीव परमात्मा से अत्यन्त दूर हट जाता है। मानसिक रोगों का भी पारावार नहीं है। इनमें से एक-एक रोग के वशीभूत होने पर भी परमार्थ से भ्रष्ट हो सकता है, फिर अनेक असाध्य रोगों के विषय में तो कहना ही क्या ? वे सदा जीव को कष्ट देते रहते हैं। भला बेचारा जीव कैसे शान्ति का सुख प्राप्त कर सकेगा। इन रोगों का निदान जाने बिना ही निश्चय करोड़ों दवा करने पर भी रोग मिटने को नहीं। भगवत्कृपा से कदाचित् ऐसा संयोग बन जाय तो मानस रोग नष्ट हो सकता है यथा—

सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं
(उत्तरकाण्ड)

परमेश्वर की कृपा से सद्गुरु की प्राप्ति हो जाय और उनके वचनों में विश्वास उत्पन्न हो, विषयों की आशा का परित्याग-रूप संयम करने लग जाय, सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तरात्मा राम में प्रेमाभक्ति रूप संजीवनी जड़ी को घोट-घोट कर पीने लग जाय, अन्तःकरण में लबालब भरी हुई श्रद्धारूप अनुपान भी करने लग जाय, तो कदाचित् मानस-रोग निवृत्त हो सकता है, नहीं तो करोड़ों यत्न करने पर भी नहीं मिट सकता है। जिस मानस-रोग के उन्मूलन का नुस्खा तैयार कर रामचरित मानस में गोस्वामी जी ने लिपिबद्ध कर दिया है। वह नुस्खा—

> "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
> तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥"

इसी मन्त्र के आधार पर तैयार किया गया है। सर्वत्र एकात्मत्वदर्शी जीवन्मुक्त पुरुष में अज्ञान के कार्य शोक और मोह का आक्षेप करते हुए सम्पूर्ण मानस रोग के अत्यन्ताभाव का प्रतिपादन किया गया है। 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।७।३) 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।' (कठ० १।२।१२) 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।' (गी० १७।१४) आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है। अध्यात्मयोग प्राप्ति से उस परमात्म देव को जानकर धीर पुरुष हर्ष और शोक छोड़ देते हैं। असंभावना, विपरीत-भावना से रहित अन्तःकरण वाला ब्रह्मस्वरूप तत्त्ववेत्ता न तो किसी अप्राप्य वस्तु की आकांक्षा करता और न प्राप्त वस्तु के नष्ट होने पर चिन्ता ही करता है—ऐसी सैकड़ों सूक्तियाँ तत्त्व-ज्ञानी पुरुष में मानस-रोग का अत्यन्ताभाव बतला रही है।

ईशावास्योपनिषद् के सप्तम मन्त्र पर विचार करते हुये तत्त्वज्ञानियों में शोक और मोह का अत्यन्ताभाव बतलाया गया, वह ठीक ही है। सच्चिदानन्द आत्मा में परमार्थतः शोक और मोह तो है नहीं। यदि किसी अज्ञानी को 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा प्रतीत होता हो तो निश्चय ही यह कहना पड़ेगा कि वह अनात्मा स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के धर्मों का अज्ञान के कारण आत्मा में अध्यारोप कर रहा है। बृहदारण्यकोपनिषत् में कहा है कि—

> 'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
> किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥'

इसी श्लोक को अपना वक्तव्य विषय बनाकर चित्रदीप प्रकरण में चिदाभास की सात अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं, जिनमें शोकनाश और अतिहर्ष; ये दो अवस्थाएँ जीवन्मुक्त पुरुषों की मानी गयी हैं। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण तीनों शरीरों में ताप का उल्लेख छान्दोग्यश्रुति में स्पष्ट रूप से किया गया है। प्रजापति के पास ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिये इन्द्र चार बार गये। प्रथम बार में स्थूल शरीर को ही आत्मा मानकर उसमें अनेक रोग दुःख जरामृत्यु की संभावना कर प्रजापति के पास गये। द्वितीयावृत्ति में स्वप्नस्थ आत्मा को जाना, किन्तु उसे भी शोकादि दुःख से सन्तप्त अनुभव कर तृतीयावृत्ति में सौषुप्त पुरुष को आत्मभावेन जाना। पर उसमें भी अज्ञान रूप ताप को देखकर चौथे बार में सम्पूर्ण तापों से उन्मुक्त हो प्रजापति के आदेशानुसार इन्द्र ने जाना। अतः आत्मा में शरीराभास के कारण ही संताप दीखता है, परमार्थतः नहीं है। इस संताप का मूल कारण मानस के आधार पर मोह को ही हमने बतलाया था। उसकी निवृत्ति का उपाय भी कहा था। पर

रोगमुक्त पुरुष की पहिचान क्या ? उसका वर्णन आज किया जा रहा है।

मानस में काकजी ने कहा है कि—

'जानिअ मन तब विरुज गोसाँई। जब उर बल विराग अधिकाई
सुमति छुधा बाढइ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥
बिमल ग्यान जल जब सो नहाई तब रह राम भगति उर छाई'

हे गरुड़जी ! इस मन को रोग से मुक्त तभी समझना चाहिये. जब हृदय में वैराग्य का बल प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़े। सुन्दर बुद्धिरूपी भूख रोज-रोज बढ़े और विषयों की आशारूपी दुर्बलता हृदय से निकल जाय। विशुद्ध ज्ञान रूप जल से मन को स्नान करा देने पर सर्वात्मा राम की भक्ति हृदय में परिपूर्ण हो जाती है। फिर भला शोक और मोह कहाँ ? ये सब तो अनात्माभिमान के कारण से हुआ करते हैं। मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि—

'कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥'
(३।२।२)

'तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।' (मु० ३।२।६)

जो अज्ञानी भोगों की कामना करते हुये अपने को तदर्थी मानता है, उन्हीं कामनाओं के कारण अनेक योनियों में जन्म लेता रहता है, किन्तु जो कृतात्माएं हैं, जिन्होंने ब्रह्मात्मैक्य बोध प्राप्त कर लिया है और जो आप्तकाम हो चुके हैं, उनके अन्दर कामना नहीं होती; अपितु कामनाभास हुआ करता है।

वे सब के सब उस तत्त्वनिष्ठ महापुरुष के ब्रह्मानन्दानुभव काल में लीन हो जाते हैं। वह शोक और पुण्य-पाप के पचड़ों से निकल जाता है। बुद्धिरूपी गुफा में रही हुई संशय एवं विपर्ययरूपी गाठों से सर्वथा मुक्त हो जीते जी अमरत्व का अनुभव करता है। श्रीमद्भागवत (११-२०) में कहा है कि—

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥२९॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥३०॥

सर्वात्म प्रेमरूप भक्ति योग से निरन्तर भजन करने वाले महात्मा के हृदय की सम्पूर्ण कामनाएँ जलकर राख हो जाती हैं। मुक्त सर्वात्मा में हृदय को लगा देने पर उस तत्त्ववेता के मन में स्थित आत्मानात्मा के अन्योन्याध्यास रूप ग्रन्थि का भेदन हो जाता है। सभी सन्देह छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और मुक्त-सर्वात्मा का आत्मभावेन दृढ़ अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाने पर इसके प्रारब्धातिरिक्त सभी कर्म फल दिये बिना ही नष्ट हो जाते हैं। ऐसे श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण इत्यादि के अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनके आधार पर यह निश्चय किया जा चुका है कि तत्त्वज्ञानी में शोक और मोह नहीं हुआ करता है। विवेकचूडामणि में आचार्य भगवत्पाद कहते हैं कि—

"शवाकारं यावद्भजति मनुजस्तावदशुचिः,
परेभ्यः स्यात्क्लेशो जननमरणव्याधिनिरयाः।
यदात्मानं शुद्धं कलयति शिवाकारमचलं
तदा तेभ्यो मुक्तो भवति हि तदाह श्रुतिरपि ॥"
वि० चू० २९७)

मनुष्य इस लाश के समान शरीर को जब तक मैं मानकर ढोता रहता है तब तक वह अपवित्र तथा अस्पृश्य रहता है, तभी तक दूसरे प्राणियों से क्लेश होता रहता है, जन्ममृत्यु जाति तथा नरकादि दुःख तभी तक होते हैं। पर जब अविचल शिव स्वरूप शुद्धात्म तत्त्व का अनुभव करता है, तब वह उक्त सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त हो जाता है। इसे बार-बार श्रुति बतला रही है। इसलिये वासना क्षीण तत्त्वेत्ता जीवन्मुक्त पुरुष में शोक मोह की संभावना बनती नहीं है। वह पुरुष धन्यवाद का पात्र है! आचार्य भगवत्पाद ने ऐसे महापुरुषों को ही लक्ष्य करके कौपीनपञ्चक में कहा है कि—

वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तो भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः।
विशोकमन्तःकरणे रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥१॥
देहादिभावं परिवर्तयन्तः आत्मानमात्मन्यवलोकयन्तः।
नान्तं न मध्यं न बहिः स्मरन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः।३।
स्वानन्दभावे परितुष्टिमन्तः सशान्तसर्वेन्द्रियतुष्टिमन्तः।
अहर्निशं ब्रह्मणि ये रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥४॥

जो श्रुतिवाक्यों में सदा भ्रमण करते हैं, भिक्षान्न मात्र से ही सन्तुष्ट रहते हैं, जो अन्तःकरण में विद्यमान शोकातीत परमात्मा में ही सदा रमण करते हैं; ऐसे कौपीनधारी पुरुष ही भाग्यवन्त हैं। देहादि में आत्मभाव का परित्याग कर अनात्मभाव से चिन्तन करते हुये अन्तःकरण में स्थित आत्मस्वरूप परमात्मा का सदा अनुभव करते हैं, एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति की किसी भी वस्तु का चिन्तन नहीं करते, वे कौपीनधारी तत्त्ववेत्ता पुरुष ही भाग्यवन्त हैं। स्वात्मानन्द में सदा परितुष्ट अच्छी प्रकार से अशान्त इन्द्रियों को भी शान्त कर रखा है

श्रौर जो रात दिन परब्रह्म में ही रमण करते हैं, ऐसे कौपीन-धारी पुरुष भाग्यवान् हैं। इस प्रकार की स्थिति मानव को भगवत्कृपा से प्राप्त सद्गुरु के द्वारा ही मिल सकती है। ऐसे सद्गुरु का मिलना भी संसार में दुर्लभ है। सद्गुरु की कृपा के बिना विषयों का त्याग, श्रात्मदर्शन, सहजावस्था की प्राप्ति श्रत्यन्त दुर्लभ है कहा है कि—

"दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥'

श्राजकल गुरु का बाजार गरम दीखता है, जहाँ देखो, गुरुश्रों का तांता लगा हुश्रा है किन्तु स्वयं संसार से तरा हुश्रा श्रौर शरणागत शिष्य को तारने वाले सद्गुरु का मिलन श्रत्यन्त दुर्लभ है, मानस में कहा है कि—

सन्त विशुद्ध मिलै पुनि तेही। चितवहिं राम कृपा कर जेही॥"

विशुद्ध सन्तों का दर्शन उसे ही होता है, जिसे राम कृपा भरी दृष्टि से देखते हैं। पुनः ऐसे महापुरुषों के वचनों में विश्वास हो जाय तो समझ लेना चाहिए कि श्राधा काम उसी क्षण हो गया। वह तत्त्ववेता जीवन्मुक्त श्रपने समान शरणागत शिष्य को बना डालता है। इसलिये उसकी उपमा के योग्य संसार में कोई नहीं है। ऐसे सर्वात्मदर्शी जीवन्मुक्त न केवल स्वयं शोक-मोह से श्रतीत होते हैं श्रपितु श्रपने दर्शन, समागम तथा उपदेश से दूसरों को भी शोक-मोहरूप संसार सागर से पार करते हैं। श्रहो ! वे पुरुष धन्य हैं।

चालीसवाँ दिन :

**"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" ॥८॥**

इसमें वही दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि हैं, विराडतिजगती छन्द और जीवन्मुक्त देवता है एवं इसका लोकसंग्रह में विनियोग है।

वह परमेश्वर सर्वव्यापक, ज्योतिष्मान्, शरीररहित, अक्षत, अस्नायुशून्य, शुद्ध, निष्पाप, सर्वद्रष्टा, मन का शासक, सर्वश्रेष्ठ और स्वयंभू है, उसी ने शाश्वत् संवत्सर नामक प्रजापतियों को यथार्थ रीति से कर्तव्याकर्तव्य पदार्थ का विभागपूर्वक उपदेश किया है। इस प्रकार सामान्य अर्थ बतलाने के बाद इस आठवें मन्त्र की विवेचना प्रारम्भ की जा रही है।

पूर्वमन्त्रों में परमात्मा का स्वरूप परस्पर विरोधी धर्मों के द्वारा उपदेश किये जाने पर स्वभाव से आकांक्षा हो जाती है कि आखिर उस परमात्मा का निजरूप क्या है? इसीको हम मन्त्र से बतला रहे हैं कि परमेश्वर सभी देश, काल में विद्यमान् होने के कारण व्यापक एवं नित्य है। इसी से उसे सभी ओर गया हुआ श्रुति बतला रही है, फिर भी वह स्वरूप से शुक्र अर्थात् प्रकाशमय है। स्थूल शरीर के जनक शुक्र-वीर्य शुक्र शब्द का अर्थ नहीं है उसे आगे के विशेषणों से स्पष्ट रूप से समझना चाहिये। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर से रहित वह आत्मा है। इनमें 'अकाय' पद से सूक्ष्म शरीर का अभाव और 'अव्रण' तथा 'अस्नाविरं' पद से स्थूल शरीर का निषेध परमेश्वर में बतलाया गया है। शस्त्रादि से चोट या आघात स्थूल शरीर में होते हैं, नस-नाड़ियाँ स्थूल शरीर में होती हैं। ये दोनों ही सम्भव न होने के कारण परमात्मा अक्षत और स्नायुरहित है। सम्पूर्ण मलों का एकमात्र केन्द्र अनादि अनिर्वचनीय अविद्या है। उस अविद्या से सर्वथा असम्बद्ध होने के कारण परमात्मा को 'शुद्ध' कहा है। बन्धन पैदा करने वाले होने से पुण्य और पाप दोनों

ही परमार्थ दृष्टि से पाप ही है। ऐसे धर्माधर्मरूप पाप से असम्बद्ध परमेश्वर को श्रुति ने अपापविद्ध शब्द से कहा है। वह परमात्मा भूत, भविष्यत्, वर्तमानकालीन सभी वस्तुओं को एक ही प्रकाश से प्रकाशित करने के कारण उसे 'कवि' कहा गया है। मन के शासक को 'मनीषी' कहते हैं। अज्ञानी मन का गुलाम है; शासक नहीं। परिच्छिन्न उपाधि में अहंभाव रखने वाला कोई भी जीव मन की दासता से सर्वथा छूट नहीं सकता। भले ही प्रशंसा के लिये किसी को कोई मनीषी कह दे, वस्तुतः तो मनीषी परमेश्वर ही है। उस परमात्मा को 'परिभू' इसलिये कहा गया है क्योंकि सबके ऊपर है। 'न तस्य कश्चिज्जनिता न चापः' उस परमेश्वर का कोई जनक और शासक नहीं है। इसी अभिप्राय से परिभू और स्वयंभू शब्द से उस परमात्मा को कहा गया है। 'परि' उपसर्गपूर्वक 'भू' शब्द का अर्थ तिरस्कार भी होता है। परमात्मा तिरस्कर्ता है, इसलिये उसको परिभू कहते है। अनादिकाल से अज्ञान को जिस परमेश्वर ने जीवन दे रखा है, उस अज्ञान को भी साधक की ब्रह्माकारवृत्ति में आरूढ़ परमात्मा सदा के लिये नष्ट कर देता है।

कमल का एकमात्र मित्र सूर्य है, उसके बिना वह कमल मुकुलित रहता है, विकसित नहीं होता। किन्तु जल के अभाव में कमल का वही मित्र भास्कर जलाकर मिट्टी में मिला देता है। राजनीति में निपुण मन्थरा महारानी कैकेयी को उपदेश करती हुयी कहती है कि—

'भानु कमल कुल पोषनिहारा।
बिनु जल जारि करइ सोई छारा॥'

ठीक ऐसे ही उस अज्ञान का पोषक परमेश्वर भी साधक की ब्रह्माकारवृत्ति में आरूढ़ होते ही अज्ञान को निरस्त कर

देता है। इसी कारण से उसे 'परिभू' कहा गया है। 'स्वयं भवतीति स्वयम्भूः' जिसका आधार या अधिष्ठान दूसरा न हो उसे भी 'स्वयंभू' कहते हैं। परमात्मा का जनक, आधार या अधिष्ठान अन्य नहीं है। यही सम्पूर्ण संसार का जनक, आधार एवं अधिष्ठान है। इसीलिए उसे श्रुति ने 'स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितः' वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है। ऐसा कहा है। वही परमेश्वर संवत्सरादि प्रजापतियों का कर्तव्याकर्तव्य का यथार्थ बोध कराता है। अग्निष्टोम कर्म करने से स्वर्ग मिलता है; अन्य कर्म से नहीं। इस बात का ज्ञान परमेश्वर के सिवा और किसी को नहीं है। उसी ने संवत्सरादि प्रजापतियों को सभी पदार्थों का यथावत् बोध कराया है। इसीलिए श्रुति ने उसे "याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः' कहा है।

इस मन्त्र के प्रारम्भ में 'स' शब्द और अन्त में 'कविर्मनीषी' इत्यादि शब्द पुँलिंग हैं। अतः मध्यवर्ती शुक्र इत्यादि नपुंसकलिंग वाले शब्द को पुँलिंग में बदलना चाहिये। ऐसा भगवत्पाद भगवान् शङ्कराचार्यजी का कहना है। किन्तु वैष्णवाचार्यों ने नपुंसकलिंग वाले शब्द को निर्गुण ब्रह्म का और पुँलिंग शब्द को सगुण ब्रह्म का प्रतिपादक माना है, क्योंकि सृष्टि इत्यादि करना सगुण ब्रह्म का काम है। निर्गुण का नहीं। इसीलिये निर्गुण ब्रह्म को नपुंसकलिंग शब्दों से कहा है। इतना भेद करने पर भी इस मन्त्र की व्याख्या में विशेष अन्तर नहीं पड़ता है। वस्तुतस्तु "तदेजति तन्नैजति" इत्यादि मन्त्रों से सविशेष एवं निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन कर दिया गया है। यहाँ पर भेद करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि सगुण और निर्गुण ब्रह्म दोनों भिन्न-भिन्न नहीं है। उक्त दोनों प्रकार के भाष्यों के अतिरिक्त एक ऐसा भी भाष्य मिलता है कि

जिसमें इस मन्त्र को ब्रह्मपरक न मानकर ब्रह्मतत्त्वदर्शी जीवन्मुक्त का प्रतिपादक माना है। इसीलिये हमने ऋषि आदि का वर्णन करते हुये इस मन्त्र का देवता जीवन्मुक्त पुरुष को बतलाया और लोकसंग्रह में इस मन्त्र का विनियोग बतलाया है। भाष्यों का अभिप्राय यह है कि इसके पूर्व दो मन्त्रों में जीवन्मुक्त पुरुष का स्वरूप एवं स्थिति बतला चुके हैं तो इस मन्त्र से भी उसी की स्थिति का वर्णन करते हुये प्रारब्धानुसार लोकसंग्रहादि कार्य में प्रवृत्ति बतलायी गयी है, जिसका विशेष वर्णन आगे के प्रसंग में करूँगा।

जीवन्मुक्त पुरुष परक इस अष्टम मन्त्र की व्याख्या की जायगी। तत्त्वज्ञानी एवं भक्त चरित्र के प्रसंग में परमात्मा का स्वरूप वर्णन अन्तर्निहित होता है। व्यावहारिक दृष्टि से परमात्मा से भी बढ़कर परमात्मा के भक्त तथा ज्ञानी माने गये हैं। परमात्मा सर्वत्र विद्यमान् है, फिर भी जीव का दुःख मिटता नहीं, किन्तु तत्त्वज्ञानी पुरुष अपने उपदेश द्वारा उस ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार कराकर उसे कृतकृत्य कर देते हैं। इसी से मानस में काकजी से गरुड ने कहा है कि—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥
सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
अस विचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥

हे प्रभो! मेरे मन में तो ऐसा विश्वास है कि राम से भी बढ़कर राम के दास तत्त्वज्ञानी महापुरुष है। इस प्रमिता को दो दृष्टान्तों से सिद्ध करते हैं। राम समुद्र के समान हैं और

तत्त्वदर्शी बादल के समान। राम चन्दन वृक्ष के समान हैं तो सन्त वायु के समान। समुद्र का अथाह जल भी अपेय होने के कारण अनुपयोगी ही है, उसी जल को सूर्य अपनी किरणों से खींचकर बादल के रूप में परिणित कर देता है तो वह बादल अत्यन्त मधुर एवं जीवन प्रदान करने वाले जल को बरसाता है। ठीक वैसे ही सच्चिदानन्द ब्रह्म व्यापक, परिपूर्ण है, किन्तु मायावरण से आच्छादित होने के कारण किसी भी प्राणी के जीवन-मरणादि शोक-मोह को दूर नहीं करता पर तत्त्ववेत्ता पुरुष अपने उपदेश द्वारा मुमुक्षु के हृदयस्थ आवरण को नष्ट करके ब्रह्मानन्द का भागी बनाता है। इसीलिये राम से बढ़कर रामतत्त्वदर्शी भक्त को माना जाता है। परमेश्वर चन्दन वृक्ष के समान है, जिसके पास विषैले विषधर सर्प से लिपटे रहने के कारण किसी का भी जाना संभव नहीं है, किन्तु हवा पार्श्ववर्ती वृक्षों को चन्दन बनाती हुई दूर देश में भी चन्दन सुगन्द को फैलाती है। ऐसे ही माया से आवृत परमानन्द का भागी परमात्मतत्त्वदर्शी पुरुष ही है, क्योंकि उसने उस आवरण को भोम-विज्ञान से नष्ट कर दिया है। भक्त ही अपने उपदेशों से सारे विश्व को उस आनन्द का भागी बनाते रहते हैं। इसलिए परमात्मतत्त्वदर्शी सन्त परमात्मतत्त्व से भी बढ़कर माने जाते हैं। सभी सत्कर्म, उपासना एवं तत्त्वज्ञान का सुन्दर फल भगवान् की भक्ति ही है, किन्तु वह सत्संग के बिना कहीं भी नहीं मिल सकती। ऐसा विचार कर जो सत्संग करता है, हे गरुड जी! वैसे व्यक्ति के लिए भगवान् श्रीराम की भक्ति अत्यन्त सुलभ है।

तत्त्वदर्शी एवं भक्त में लोककल्याण को भावना स्वभाव से होती है, इसीलिये उनकी भूरिशः महिमा सर्वत्र गायी गयी

है सत्य बात तो यह है कि परमेश्वर की दासता स्वीकार कर लेने पर किसी का दास नहीं बनना पड़ता। इसे महिम्नस्तोत्र में कहा है—

"यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती—
मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयस्त्रिभुवनः ।
न तच्चित्रं तस्मिन्वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्या उन्नत्यै भवति शिरस्त्वय्यवनतिः ॥१३॥

पुष्पदन्ताचार्य कहते हैं कि भक्तों के मनोवाञ्छित फल देनेवाले हे प्रभो! तीनों भुवन को अपने अधीन करने वाले बाणासुर ने सर्वोत्कृष्ट इन्द्र के ऐश्वर्य को भी जो अपने बल-पौरुष से नीचा कर दिखलाया। वह आपके चरणकमलों के अधीन बाणासुर में आश्चर्य नहीं है, क्योंकि आपके चरणों में नतमस्तक हो जाना किसी भी उन्नत्ति के लिए वञ्चित नहीं रखता। अर्थात् आपके शरणागत को अन्य किसी के सामने झुकना नहीं पड़ता। अभिनवगुप्ताचार्य ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्षिणी में कहा है कि—

'कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनानामुपकारमिच्छन्'।

मैंने लोकोपकार की आकांक्षा करके ही किसी-किसी प्रकार परम शिव की दासता को प्राप्त किया इसमें भी परमेश्वर की दासता लोकोपकार के लिये ही बतलायी गयी है। अतः तत्त्ववेत्ता एवं परमेश्वर भक्त स्वभाव से परोपकार निरत हुआ करता है। इसीलिये इस मन्त्र में जीवन्मुक्त पुरुष का स्वरूप एवं क्रियाकलापों को निरूपण किया है।

'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।' (क० २।३।१)

वही, शुक्र, वही ब्रह्म, वही अमृत कहा गया है।' इस मन्त्र में ब्रह्म के लिये ही शुक्र शब्द आया है। लोकप्रसिद्ध सप्तम धातु के अर्थ में नहीं। ब्रह्म से भिन्न अर्थ की व्यावृत्ति के लिये ही 'अकायम्' इत्यादि विशेषण दिये गये हैं। लोकप्रसिद्ध शुक्र (वीर्य) तो कायिक है। क्षत-विक्षत हो जाने वाला, नाडियों से सम्बद्ध माता के रजादि से सम्बर्द्धित होने के कारण अशुद्ध और घृणा के योग्य है। किन्तु यह उक्त कारणों से शून्य होने के कारण सर्वथा अकार्य इत्यादि विशेषणों से उपलक्षित है। तत्त्वज्ञानी पुरुष ने उसी को जानकर कवि एवं मनीषी' ऐसी विशिष्ट उपाधि को प्राप्त किया है और वह शाश्वती समारूढ प्रज्ञा के लिये यथावत् वस्तु का विभागपूर्वक उपदेश करते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष का प्रतिपादक इस मन्त्र को मान लेने पर न तो लिंग परिवर्तन करना पड़ा और न सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादक रूप में शब्दों का विभाग ही करना पड़ा।

ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष को कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी कहा गया है, क्योंकि अन्य लोग अनात्मदर्शी हैं, पर वह तो सर्वत्र शुद्ध ब्रह्म को ही देखता है, कारण चमड़ी को नहीं। स्वप्न की घटना को स्मरण कर उत्पन्न हुये 'यह सच्चा कि वह सच्चा' इस जनक के प्रश्न का उत्तर न देने के कारण असंख्य ऋषि, वेदज्ञ ब्राह्मण तथा तत्त्वदर्शी राजा जनक के यहाँ नजरबन्द कर दिये गये थे। जब ऋषिकुमार अष्टाबक्र राजा जनक की विशाल ब्रह्मसभा में प्रवेश कर रहे थे, आठ जगह टेढ़े होने के कारण दरवाजा पार करते समय गिर गये। उन्हें विचित्र प्राणी के रूप में देखकर सभी ऋषियों को हंसी आ गयी। अष्टावक्र ने कहा कि हमने सुना था कि राजा जनक के यहाँ तत्त्ववेत्ता लोग रहते हैं किन्तु मुझे तो सभी चमार दिखाई देते हैं क्योंकि

चमड़े के ऊपर चमारों की दृष्टि रहती है। एक दूसरे की ओर देखते हुये सभी ब्रह्मज्ञानी स्तम्भित रह गये। उसके बाद अष्टावक्र ने जनक से कहा—राजन्! तुम्हारे प्रश्न का उत्तर पीछे दूँगा, पहले सभी नजरबन्दियों को छोड़ देने का वचन दो। राजा जनक ने स्वीकार कर लिया। "यह सच्चा कि वह सच्चा?" इस जनक के प्रश्न का उत्तर वैसे ही संक्षेप में अष्टावक्र ने दे दिया कि "न यह सच्चा न वह सच्चा" अष्टावक्र के इस उत्तर से जनक अत्यन्त सन्तुष्ट हुये, किन्तु अन्य लोगों को कुछ भी समझ में नहीं आया। उनकी जिज्ञासा देख राजा जनक के स्वप्न की घटना अष्टावक्र ने स्पष्ट सुना दी। यह अष्टावक्र की क्रान्तदर्शिता है। इसलिये ऐसे पुरुष को श्रुति 'कवि' शब्द से कह रही है। अज्ञान तज्जन्य मन:कल्पित मिथ्यात्व दर्शन को जानने के कारण वह तत्त्ववेत्ता 'मनीषी' माना जाता है जिसका अर्थ है मन का शासक, क्योंकि उसका मन नामरूपात्मक संसार में भी सच्चिदानन्द ब्रह्म को ही देखता है। ऐसे तत्त्ववेत्ता पुरुष को ही 'परिभू स्वयंभू' कहा गया है क्योंकि वह सर्वश्रेष्ठ, वासनाक्षय एवं मनोनाश करने में तत्पर तथा स्वयं (आत्मा) में ही सारे विश्व को कल्पित देखता है। आत्मा के आश्रित शरीर है; न कि शरीर के आश्रित आत्मा। इस प्रकार यथार्थ तत्त्वदर्शी को स्वयम्भू कहना उचित ही है। वासनाक्षय एवं मनोनाश के ऊपर ही जीवन्मुक्ति का विशेष आनन्दानुभव आधारित है। उसी विलक्षण आनन्दानुभव की उत्कट आकांक्षा से सदा समाधि का अभ्यास करता हुआ धीरे-धीरे वासनाक्षय एवं मनोनाश करता है। अन्त में भूमिकारूढ़ हो जाने पर वह 'स्वयम्भू' कहलाता है। ऐसे व्यक्ति की लोकसंग्रह में प्रवृत्ति बिना किसी उद्देश्य के प्रारब्धानुसार होती है।

ऐसे पुरुष में आचार्यत्व का प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है कि "आचार्यमुखेन यो जानीते ते तेनैव शरीरेण संसारान्मुच्यते।" (नृसिंहपूर्वतापिनी १-१-५) 'शैक्षिकस्य मुखात् स्वयं गृहीत्वा......जीवन्मुक्ता भवन्ति" "आचार्यवान् पुरुषो वेद" "आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति" (छा० ४-६-३) "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मु० १-२-१२) "आचार्यमुख से जो परमात्मतत्त्व को जानता है, वह इसी शरीर के द्वारा संसार से छूट जाता है। आचार्यमुख से परमात्मतत्त्व को ग्रहण कर पुरुष जीवन्मुक्त हो जाते हैं। आचार्यवान् पुरुष आत्मा को जानता है। आचार्य से ही प्राप्त की गयी विद्या सर्वोत्कृष्ट मोक्ष फल देती है। उस आत्मा को जानने के लिये समित्पाणि हो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की ही शरण में जावे" इन सभी श्रुतियों से तत्त्वदर्शी पुरुष में आचार्यत्व सिद्ध होता है। इसी प्रारब्धानुसार प्राप्त आचार्यत्व का अनुवाद कर यह मन्त्र बतला रहा है कि वह तत्त्ववेत्ता पुरुष ही भावी प्रज्ञा के लिये संगृहीत अपनी ज्ञानराशि को निश्चेत्यभाव से उँडेलता रहता है।

हमने इस मन्त्र की ऐसी व्याख्या भगवत्पाद के शतश्लोकी के आधार पर की है।

"प्रापश्यद्विश्वमात्मेत्ययमिह पुरुषः शोकमोहाद्यतीतः
शुक्लं ब्रह्माद्यगच्छत्स खलु सकलवित्सर्वसिद्ध्यास्पदं हि।
विस्मृत्यस्थूलसूक्ष्मप्रभृनिवपुरसौ सर्वसंकल्पशून्यो
जीवन्मुक्तस्तुरीयं पदमधिगतवान्पुण्यपापैर्विहीनः ॥४४॥"

(शतश्लोकी)

जीते जी जिस पुरुष ने सम्पूर्ण संसार को आत्मरूप से

देख लिया, वह शोक-मोह को पार कर शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त हो गया। इतना ही नहीं, वह सर्वज्ञ है और सम्पूर्ण सिद्धियों का केन्द्र है। वह जीवन्मुक्त पुरुष स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणशरीर मात्र को सर्वथा भूलकर सभी प्रकार के संकल्प से शून्य हो जाता है। उसने पुण्य-पाप रूप कर्मबन्धनों से रहित हो श्रुतिप्रतिपाद्य तुरीय पद को प्राप्त कर लिया।

बस यही इस मन्त्र का तात्पर्य है।

इकतालीसवाँ दिन :

'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायांँ रताः ॥९॥"

इस मन्त्र के दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि, निच्यृदार्ष्यनुष्टुप् छन्द और जिज्ञासु देवता है तथा इस मन्त्र का विनियोग उपदेश में है।

"जो अविद्या की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं, किन्तु उनसे भी अधिक अन्धेरे में मानो वे प्रवेश कर रहे हैं, जो विद्या में रत हैं।"

विद्या अविद्या के समुच्चयविधायक तीन मन्त्र एवं संभूति, असंभूति के समुच्चयविधायक तीन मन्त्रों के क्रम में अन्तर देखा जाता है, अर्थात् माध्यन्दिनी शाखा में पहले विद्या-अविद्या की बात आयी है और काण्वशाखा में संभूति-असंभूति की बात पहले आयी है। शाखा भेद से दोनों ही ठीक हैं। ग्यारहवें मन्त्र से विद्या एवं अविद्या का समुच्चय विधान स्पष्ट ही है, किन्तु इस प्रसंग में विद्या तथा अविद्या शब्द का क्या अर्थ करना चाहिये, इस विषय में कुछ कहने से पहले पूर्व प्रसंग का सिंहावलोकन करना चाहिये।

प्रथम मन्त्र में सर्वत्र एकात्मदर्शन बतलाया गया, तदर्थं संन्यासविधि और संन्यासी के लिये नियमविधि का प्रतिपादन किया गया है। इसमें असमर्थ-शतवर्ष जीवनाभिलाषी पुरुष के लिये पाप कर्म से अलिप्त रहने के लिये एक मात्र यही बतलाया कि वह यावज्जीवन शास्त्रविहित कर्म करता रहे, ऐसा द्वितीय मन्त्र से बतलाया। तृतीय मन्त्र में आत्मज्ञान शून्य व्यक्ति को आत्मघाती एवं असुर सम्बन्धी लोक की प्राप्ति कहकर उसकी निन्दा की गयी, जिससे कि आत्मकल्याणकामी पुरुष की प्रवृत्ति सर्वात्मदर्शन में हो। चतुर्थ मन्त्र से लेकर अष्टम मन्त्र पर्यन्त सभी मन्त्रों से आत्मा का एवं आत्मस्वरूप को प्राप्त हुये व्यक्ति का लक्षण बतलाया गया। अब नवम मन्त्र से विद्या एवं अविद्या की पृथक्-पृथक् उपासना करने वालों की निन्दा की जा रही है। निन्दा का तात्पर्य निन्दा करने में नहीं; अपितु समुच्चय विधान में है। इन मन्त्रों की व्याख्या में अनेक भाष्य एवं टीकाओं में पूर्वापर का वैमत्य देखा जाता है। 'अविद्या' शब्द का अर्थ विद्याविरुद्ध कर्म ही है क्योंकि जहाँ निर्विशेष आत्मतत्त्व की ज्ञानरूप विद्या रहती है, वहाँ अनात्मसाध्य अग्निहोत्रादि कर्म रह नहीं सकते। ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार अनेक साध्य-साधन भाव का उपमर्दन करके ही होता है। जहाँ वह उत्पन्न हो गया, भला वहाँ फिर अनेक अनात्म वस्तुओं से सिद्ध होने वाला कर्म कैसे श्वास ले सकता है। अतः 'अविद्या शब्द का अर्थ विद्या विरोधी कर्म ही होता है। उस केवल अग्निहोत्रादिकी उपासना करनेवाले पुरुष को घोरतम अन्धेरे में जाना बतलाया गया, क्योंकि कर्म का फल अनित्य होने के कारण पुनः उन्हें जन्म-मरणादि दुःख का सामना करना पड़ेगा। पर विद्या की

उपासना करनेवाले तो उनसे भी अधिक अन्धेरे में जा रहे हैं। यहाँ पर विचारणीय है कि विद्या शब्द का अर्थ क्या किया जाय ? तत्त्वज्ञान अर्थ तो इसलिये नहीं कर सकते कि उसके साथ किसी भी कर्म या उपासना का समुच्चय होना संभव नहीं है। केवल एक अध्याय अर्थात् प्रकरण में दोनों ही आये हैं, इसलिये दोनों का समुच्चय विधान बतलाना अयुक्त ही होगा। समुच्चय के लिये दोनों की योग्यता का निरीक्षण करना अत्यन्त आवश्यक है। तत्त्वज्ञान और कर्म का तमःप्रकाशवत् विरुद्ध स्वभाव होने से समुच्चय कथमपि संभव नहीं है। साथ ही श्रुतियों में अनेक स्थल पर देवोपासना को भी विद्या शब्द से कहा गया है। अतः यहाँ पर विद्याशब्द का अर्थ देवोपासना ही करना चाहिए। जो व्यक्ति अग्निहोत्रादि अवश्य कर्तव्य कर्म का परित्याग कर केवल देवोपासना में निरत हैं, वे उनकी अपेक्षा भी अधिक अन्धेरे में जा रहे हैं, क्योंकि विहित कर्म के परित्याग से प्रत्यवाय लगता ही है। साथ ही शरीरेन्द्रियों की स्वच्छन्द वृत्तियों से निषिद्ध कर्म का होना भी स्वाभाविक है। इसीलिये पहले की अपेक्षा उन्हें अधिक अन्धेरे में जाना बतलाया गया। इन्द्रादि देवों की उपासना से तदनुरूप लोक की प्राप्ति एवं भोग तो संभव है किन्तु ये देवता उक्त पापों से छूट नहीं सकते। यह तो केवल परमेश्वर में ही वैशिष्ट्य है कि—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'

(गीता १८-६६)

"हे अर्जुन ! सभी धर्माधर्मों की चिन्ता छोड़, मेरी शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर डालूँगा, शोक न करो।"

इस प्रतिज्ञा के अनुसार अपने शरणापन्न भक्तों को सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर देता है। अस्तु शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि कर्म का परित्याग कर केवल इन्द्रादि देव के अर्चन-पूजन रूप उपासना में निरत व्यक्ति को प्रत्यबाय एवं निषिद्ध कर्म का स्वरूप घोरतम अन्धेरे में जाना बतलाया है। व्यावहारिक दृष्टि से इसे यों समझाया जा सकता है कि जो व्यक्ति केवल शारीरिक कसरत, व्यायाम एवं श्रम करता है, वह मानसिक उन्नति में लाभ से वञ्चित रह जाने के कारण घोरतम अन्धेरे में जा रहा है। पर उसकी अपेक्षा भी अधिकतम अन्धेरे में जाना उसका कहा जायगा जो शारीरिक परिश्रम का सर्वथा परित्याग कर मानसिक उन्नति के लिए केवल बौद्धिक काम किया करता है क्योंकि ऐसा करने से शरीर के अस्वस्थ हो जाने पर बौद्धिक विकास भी अवरुद्ध हो जायगा। आज की दुनिया इन्हीं दो वर्गों में विभक्त है। एक मन के चिन्तन को छोड़कर मशीन के समान दिनरात परिश्रम करता है और दूसरा शारीरिक परिश्रम छोड़ केवल मानसिक चिन्तन कर रहा है। दोनों ही अपने जीवन में पूर्ण विकास नहीं कर पाते। हनुमान, भीष्म द्रोणाचार्य एवं अर्जुन इत्यादिक के जीवन से हमें पाठ लेना चाहिये क्योंकि ये दोनों ही दृष्टि से समुन्नत थे। एक विद्यार्थी दिन भर खेलता ही रहता है, पढ़ता नहीं तो वह परीक्षा कैसे पास करेगा ? अतः वह निस्सन्देह अन्धेरे में जा रहा है और दूसरा खेलना कसरत, व्यायाम को ही नहीं अपितु खाना, सोना भी छोड़कर रातदिन रटता रहता है। कहना पड़ेगा कि यह पहले की अपेक्षा भी घोरतम अन्धेरे में जा रहा है। किसी भी व्यावहारिक क्षेत्र में दोनों की आवश्यकता है। इसलिए पूर्ण विकास प्राप्त करने के लिए

इनका समुच्चय रूप से आचरण करना चाहिए। वस्तुतः अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म का पालन करते समय विराट् परमेश्वर की सेवा मैं कर रहा हूँ, ऐसी भावना रखे तो निश्चय ही समाज एवं राष्ट्र की सेवा से परमेश्वर की सेवा हो जायगी और उसका अन्तःकरण भी शुद्ध हो जायगा। ऐसे विचार वाला चाहे राजनैतिक सामाजिक तथा धार्मिक किसी भी क्षेत्र में काम कर रहा हो; उसका अन्धेरे में जाना नहीं कहा जायगा। पर राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्य पालन के साथ-साथ परमेश्वर भाव का चिन्तन नहीं हो रहा हो, तो वह राष्ट्र एवं समाज की सेवा करता हुआ भी अनित्य फल का ही भागी बनेगा। वैसे ही परमेश्वर भाव चिन्तन के साथ कर्तव्य कर्म का पालन नहीं करता तो भी वह समाज व्यवस्था करने से ही दूर रहेगा और ऐसा व्यक्ति कायर, निष्क्रिय कर्म का जनक हो जायगा, जो कि सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से हेय है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि—

> "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
>
> (गी० १८-४६)

जिससे सम्पूर्ण भूतों की सभी प्रकार की प्रवृत्ति होती है और जिस परमेश्वर से सारा संसार व्याप्त है; उसी परमेश्वर की सभी में पूर्ण भावना करते हुए कर्तव्यकर्म के पालन से उस परमेश्वर की पूजा कर अन्तःकरण की शुद्धिरूप सिद्धि को मनुष्य प्राप्त कर लेता है। देव आराधना एवं कर्तव्य कर्म का सहानुष्ठान समन्वय असंभव होता-तो भला भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से क्यों कहते कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।। (गी० ८।७)

इसलिये हे अर्जुन ! तू सभी काल में मेरा स्मरण कर और साथ ही अपने क्षत्रियधर्मोचित युद्धरूपी कर्तव्य कर्म का पालन कर । निःसंदेह मुझमें अर्पित की हुई मन-बुद्धि वाला तू मुझे ही प्राप्त करेगा । अतः सगुण साकार ब्रह्म का स्मरण तथा कर्तव्य कर्म का पालन बतला कर भगवान् श्रीकृष्ण भी श्रुति में कहे हुए कर्म और उपासना के समन्वय का ही समर्थन करते हैं । अतः दोनों का सहानुष्ठान करना असंभव नहीं है । काष्ठजिह्वा स्वामी ने कहा है कि—

"तन से कर्म भजन सुरत से अलग-अलग यह मौका है ।
अगर कोउ दोनों को साधे इसमें क्या बेमौका है ।।
तेरी कचाई रोक रखी है तू ऊए का छोका है ।
कभी न फुरसत होगी बन्दे गजब हवा का झोका है ।।"

लोग कहते हैं कुछ देर भजन करो और शेष समय में काम करते रहो अर्थात् इन दोनों के लिए अलग-अलग समय मानते हैं और यदि कोई कुशल व्यक्ति दोनों काम एक साथ करता हो तो पृथक्-पृथक् समय की क्या आवश्यकता ? इन दोनों कर्मों को एक साथ न करना अपनी ही कमजोरी की निशानी है । ससार पहले कर लें वृद्धावस्था में भजन कर लेंगे, ऐसी धारणा सर्वथा गलत है । संसार का इतना बड़ा झंझावात है कि जिससे आजतक न किसी को फुरसत मिली और न मिलेगी । अतः शास्त्रीय एवं लौकिक सभी व्यापारों को करते हुए श्रुति एवं स्मृति के आदेशानुसार परमेश्वर का नाम-स्मरण भी करते चलो । इसी में कुशल है । इस बात को कभी न भूलें कि

अनात्माकार वृत्ति का परित्याग कर आत्माकार वृत्तिरूप प्रवाह को निदिध्यासन कहते हैं। उसमे उत्पन्न होने वाले ब्रह्म-ज्ञान के साथ में कर्म का समुच्चय बतलाना श्रुति को इष्ट नहीं है, किन्तु उपासना के साथ कर्म का समुच्चय बतलाना इष्ट है। अतः इस मन्त्र से अविद्या से कर्म और विद्या से उपासना अर्थ को लेना उचित है।

ईशावास्य के नवम मन्त्र से केवल कर्मानुष्ठान अथवा केवल देवोपासना की निन्दा दोनों के समुच्चय विधान के लिए की गयी है। सभी कर्म शरीरेन्द्रिय धन इत्यादिक से निष्पन्न होते हैं और इसकी सत्ता आत्मा के आसन पर आधारित है। आत्म-ज्ञान होते ही अनात्मपदार्थ शरीरादि का वैसे ही बाध हो जाता है जैसे स्वप्न से जगे हुए मनुष्य की दृष्टि में स्वप्न के दृश्य का बाध हो जाता है। जमाने का अन्धेरा भी प्रकाश होते ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञान होते ही अज्ञान, तज्जन्य देह एवं तत्सम्बन्धी पदार्थों में अहं-मम भाव का बाध हो जाता है। फिर उस व्यक्ति से शरीरयात्रा के अतिरिक्त विशेष कर्म प्रयत्नपूर्वक नहीं होते, चाहे पूर्वाभ्यास के कारण कुछ सामान्य शरीर निर्वाहार्थ कर्म भले ही हो जाय। रामचरित मानस में कहा है कि—

'वंश विरह द्विज अनहित कीन्हे। कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हे।'

लोमश-काक संवाद के समय लोमश के हृदय में क्रोध की रेखा देख अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क में पड़े काकजी यह भी सोच रहे हैं कि ब्राह्मण का अहित कर किसी का वंश रह सकता है क्या? अर्थात् नहीं। ब्राह्मण को सताने वाले का वंश नष्ट हो जाता है। ठीक वैसे ही ब्रह्मस्वरूप आत्मा का साक्षा-

त्कार हो जाने पर उस तत्त्वज्ञानी से कोई भी शुभाशुभ कर्म हो सकता है क्या ? अर्थात् नहीं। मानस के इस अकाट्य सिद्धान्त वाक्य से भी हमें समर्थन मिल रहा है कि तत्त्वज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय नहीं बन सकता। अतः इस मन्त्र में आये हुये 'विद्या' शब्द का अर्थ देवोपासना ही करना चाहिये। उसका अग्निहोत्रादि के साथ विरोध मानने में कोई विरोध नहीं है। एक ही समय में दोनों ही काम करने से दोनों का फल उसे प्राप्त हो जाता है यह उसकी बुद्धि की कुशलता है। गुरुकुल में अध्ययन करने वाला एक ब्रह्मचारी बगीचा सींचते समय हाथ में कुशा धारण कर पात्र में जल भरकर आम के वृक्ष में सींचता था। साथ ही साथ 'अनेन नः पितरस्तृप्यन्ताम्' ऐसा बोलता भी जाता था। इससे वृक्ष का सींचन भी हो गया और पितर भी तृप्त हो गये। इस आख्यान का उल्लेख वायु पुराण में है।

**'एको मुनिर्दर्भकुशाग्रपाणिराम्रस्य मूले सलिलं ददाति।
आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ता एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा'।**

ऐसी ही लोकोक्ति भी है कि 'गोरस बेचत हरि मिले एक पंथ द्विकाज' इन सभी उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि देवोपासना के साथ कर्म का सहानुष्ठान संभव है।

भट्टभास्कर ने तत्त्वज्ञान के साथ भी कर्म का सहानुष्ठान बतलाया है। यह श्रुति एवं युक्ति से विरुद्ध है। इस मन्त्र से एक-एक के अनुष्ठान की निन्दा का तात्पर्य दोनों के सहानुष्ठान विधान करने में है। क्योंकि इन दोनों के स्वतन्त्र अनुष्ठान का फल आगे बतलायेंगे और अन्यत्र भी बतलाया गया है। साथ ही शास्त्रविहित कर्म एवं उपासना का फल घोरतम अन्धकार

में प्रवेश माना जायगा, तब तो शास्त्र ही अप्रमाण माना जायगा। शास्त्रविहित कर्म या उपासना कभी भी अकर्तव्य नहीं हुआ करते। आज इन मन्त्रों से बतलाये गये कर्म एवं उपासना के सहानुष्ठान की अत्यधिक आवश्यकता है क्योंकि उपासना तो थोड़ी बहुत वैदिक अथवा तान्त्रिक लोग करते ही हैं पर अग्निहोत्रादि कर्म का सर्वथा ह्रास ही होता चला जा रहा है। यह कटु सत्य है कि मध्यकाल अर्थात् सतयुग में अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान का बहुत ह्रास हुआ है।

भक्त में तत्त्वज्ञान और ज्ञानी में भक्ति भी होती है। अन्तर इतना हो सकता है कि भक्तिमार्ग से गया हुआ व्यक्ति तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी पूर्वाभ्यास के बल से संभव है कि पहले जैसे ही भक्ति करता रहे, किन्तु वेदान्त-विचार से तत्त्वज्ञान हो जाने पर जो ज्ञानी में भक्ति आती है; वह विश्वात्मा प्रेम रूपी भक्ति ही आती है; साधन रूपा नहीं। इसलिये इतने से तत्त्वज्ञान का उपासना के साथ समुच्चय नहीं कर सकते। आप ऐसी आशका कर सकते हैं कि यदि तत्त्वज्ञान के बाद ज्ञानी से कर्म होना असंभव है तो फिर राम, कृष्ण और जनक तत्त्वज्ञानी होते हुये लौकिक-वैदिक कर्म का अनुष्ठान कैसे करते ? इसका उत्तर यह है कि जनक तो गार्हस्थ्य जीवन में रहने के कारण पूर्वाभ्यासवशात् किया करते थे और राम-कृष्ण साक्षात् ब्रह्म ही थे, उनके सम्बन्ध में इस प्रकार की आशंका उचित नहीं है। क्योंकि वे तो अनन्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि पालन, संहार करते हुये भी असंग निष्क्रिय और कूटस्थ हैं तो भला लीलावश से लोकसग्रहार्थ कुछ कर्म करने पर उनका क्या बिगड़ सकता है ? गीता में जो तत्त्वज्ञानियों को लोकसंग्रहार्थ कर्म करने की बात की गयी, वह भी स्ववर्णाश्रमानुसार ही कर्म करने की बात है।

जनक गृहस्थ होने के कारण तत्त्वज्ञानी होते हुये भी अग्निहोत्रादि कर्म पूर्वाभ्यास से कर लिया करते थे। इस उदाहरण से निवृत्तिमार्ग में निरत सनकादि, नारद, शुकदेव और दत्तात्रेय के ऊपर भी अग्निहोत्रादि कर्म लोकसंग्रहार्थ करने की बात नहीं कर सकते। हाँ! बाधित'नुवृत्ति से वे भी यथासमय जिज्ञासुओं को उपदेश करते देखे गये हैं। यहाँ ईशावास्योपनिषद् में देवतोपासना के साथ ही कर्म का सहानुष्ठान कहा गया है न कि तत्त्वज्ञान के साथ।

बयालीसवाँ दिन :

"अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे"॥१०॥

इस मन्त्र में दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि, आर्ष्यनुष्टुप् छन्द, श्रोता देवता है और इसका मनन में विनियोग है।

विद्या से अन्य ही फल और अविद्या से अन्य ही फल बतलाया है, ऐसा हमने धीर पुरुषों से सुना है, जिन्होंने व्याख्यान करते हुये हमसे कहा था।

पूर्व मन्त्र में अविद्या एवं विद्या के अनुष्ठान की निन्दा की गयी। इस बात को सुनकर श्रोता के मन में स्वभाव से अश्रद्धा और अनास्था पैदा हो सकती है कि जिनके अनुष्ठान से नरक जाना पड़े, ऐसा काम क्यों करना? इसी अनास्था को दूर करने के लिये श्रुति विद्या एवं अविद्या के पृथक्-पृथक् अनुष्ठान का फल बतला रही है। दूसरी बात यह है कि यदि सचमुच में दोनों निष्फल हैं तो इनके समुच्चयानुष्ठान से भी कैसे फल प्राप्त हो सकेगा? क्योंकि जिनका अवयव निष्फल होता है, उसका समुदाय भी निष्फल ही देखा गया है। यथा एक रेत कण से

तेल नहीं निकलता, तो रेत समूह से भी तेल नहीं निकलता। इसके विपरीत एक तिल में तेल है तो तिल समुदाय से भी तेल निकलता है। अथवा यथा एक जल बिन्दु के बिलोने से मक्खन नहीं निकलता तो जल समूह से भी नहीं निकलता। उसके विपरीत दूध के एक बिन्दु में मक्खन निकलता है तो दूध समूह से भी मक्खन निकलता है। अतः विद्या एवं अविद्या दोनों के फल को निश्चय किये बिना समुच्चय विधान व्यर्थ ही होगा। इसलिये दशम मन्त्र से दोनों का फल श्रुति बतला रही है।

जैसे दो निष्फल पदार्थों का समुच्चयविधान व्यर्थ है, वैसे ही एक फल वाला और दूसरा निष्फल हो तो ऐसे दोनों का समुच्चयविधान भी असंभव है। एक समृद्ध, सशक्त एवं कार्य दक्ष व्यापारी है तो दूसरा दरिद्र, अशक्त और बुद्ध है, ऐसे दो व्यापारी कभी भी मिलकर व्यापार नहीं कर सकते। दो सशक्तों की ही साझी हो सकती है, दोनों अशक्तों की अथवा एक सशक्त दूसरे अशक्त की नहीं। अतएव रामचरित मानस में रावण-अंगद संवाद में अंगद ने कहा है कि—

सत्य कहहि दसकंठ सब मोहि न सुनि कछु कोह।
कोउ न हमारें कटक अस तो सन लरत जो सोह॥
प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि।
जौं मृगपति बध मेडुकन्हि भल कि कहइ कोउ ताहि॥२३॥

(लङ्काकाण्ड)

हे रावण ! तुमने सब ठीक ही कहा है मुझे इस बात से क्रोध नहीं है, क्योंकि हमारी सेना में एक भी ऐसा नहीं है, जो तुम्हारे साथ युद्ध कर शोभा प्राप्त कर सके। नीतिशास्त्र ऐसा कहता है कि प्रीति और विरोध (शत्रुता) समान धन, बल

और बुद्धि वालों में ही हुआ करते है। यदि सिंह मेंढ़क के बच्चे को मार दें तो भला क्या उसका बड़प्पन और उसे कौन भला कहेगा। तेरे जैसे मरे हुये को मारने में राम को दोष ही लगेगा, फिर भी वह क्षत्रिय कुमार अन्याय सह नहीं सकता। नीतिशास्त्र के अनुसार अंगद की दृष्टि में रावण मरा हुआ है। इसलिये आगे कहा है कि—

कौल कामबस कृपिन बिमूढा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा।।
सदा रोगबस संतत क्रोधी। बिष्नु बिमुख श्रुति संत बिरोधी।।
तनु पोषक निन्दक अघखानी। जीवत सव मम चौदह प्रानी।।

अतः इस नियम के अनुसार मरे हुये रावण को अंगद मारने में दोष ही समझते हैं। तात्पर्य यह है कि दो समर्थ व्यक्ति में शत्रुता एवं मित्रता जैसे शोभा देती है, वैसे ही सफल विद्या और अविद्या का समुच्चय विधान ही सफल, युक्तिसंगत होगा। दुर्गासप्तशती में शुम्भ-निशुम्भ वध के लिये विचित्र आभरणादि से युक्त जगदम्बा ने शुम्भ-निशुम्भ के दूत से ऐसा ही तो कहा था कि—

'यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति'।।

(दु० अ० ५-१२०)

जगदम्बा कहती है कि जो मुझे संग्राम में जीत लेगा, जो मेरे घमण्ड को चूर-चूर करेगा और जो मेरे समान बल वाला होगा, वही मेरा भर्तार होगा। राजा जनक ने अपनी कन्या जानकी के विवाह के लिए जो प्रतिज्ञा की थी, वह भी इसी बात को सूचित कर रही है कि कन्या का पति उससे समर्थ या कम से कम उसके समान बल वाला अवश्य होना ही चाहिये।

सारे प्रसंग हमें यह बतला रहे हैं कि दो सफल का ही समुच्चय विधान सार्थक होगा। अतः विद्या और अविद्या का पृथक्-पृथक् फल बतलाना भी अत्यावश्यक है। यदि एक का फल हो, दूसरे का न हो तो समुच्चय नहीं हो सकता किन्तु "फलवत्संनिधौ अफलं तदङ्गम्" (फल वाले वाक्य के समीप पड़ा हुआ फलशून्य वाक्य उसके अंग का बोधक हो जाता है) इस नियम के अनुसार दोनों में अङ्गाङ्गी भाव हो जायगा। इसलिए भी विद्या और अविद्या का पता बतलाना आवश्यक है। "विद्यया देवलोकः" "कर्मणा पितृलोकः" विद्या से देवलोक और कर्म से पितृलोक मिलता है; ऐसी अन्य श्रुतियों में भी विद्या और अविद्या का पृथक्-पृथक् फल बतलाया गया है। वैसे ही यहाँ भी आचार्य परम्परा का वचन हमने सुना है, जिन्होंने इस रहस्य को हमारे हित के लिए बतलाया है।

उक्त श्रुति में दोनों के स्वतन्त्र फल बतलाने के लिए पृथक्-पृथक् 'अन्यद्' शब्द आया है, एक स्थल पर एवकार है; दूसरे में नहीं है। विद्या का फल बतलाते समय अन्यत्र के साथ एवकार देते हुए श्रुति सूचित कर रही है कि विद्या (इन्द्रादि देवों की उपसना) से देवलोक मात्र की प्राप्ति होती है, अन्य की नहीं। किन्तु कर्म का फल बतलाते समय एवकार न देकर यह सूचित किया कि कर्म का फल न केवल पितृलोक की प्राप्ति है अपितु निष्कामभाव से कर्मानुष्ठान करने पर अन्तःकरण शुद्धि द्वारा परमेश्वर की कृपा का पात्र भी बन सकता है। इन्द्रादि देवों की उपासना सकाम ही होती है, निष्काम नहीं। हाँ परमेश्वर की उपासना दोनों ही प्रकार की होती है। सकाम भाव से की गयी ईश्वर की उपासना भी अन्त में परमेश्वर को प्राप्त कराती है। यथा—

"यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् (गी० ६।२५)

"मेरे यजन करने वाले सकाम पुरुष फल तो प्राप्त करते ही हैं, मुझे भी प्राप्त कर लेते हैं" इस वाक्य से गीता में परमेश्वर उपासना की विलक्षणता बतलायी गयी है। परमेश्वरार्पण बुद्धि से किये हुये कर्म जीव को बांधते नहीं है। यथा गीता में कहा है कि—

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (गी० ६।२७)
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यति ॥ (गी० ६।२८)

"हे अर्जुन! जो कर्म करते हो, खाते हो, यज्ञ करते हो, दान देते हो, जो देखते हो, वह सभी मुझे अर्पण करो। ऐसा करने पर शुभाशुभ फल रूप कर्म से छूट जावोगे, इतना ही नहीं। संन्यास योग से युक्तात्मा एवं पाप से मुक्त हुआ ही मुझे प्राप्त कर लेता है।"

इस पर शंका हो सकती है कि—"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" "नाभुक्तं क्षीयते लोके कृतं कर्म शुभाशुभम्" संसार में अपना किये हुये शुभाशुभ कर्मों का फल भोगे बिना नष्ट नहीं होता, चाहे सौ करोड़ कल्प ही क्यों न बीत जाय इस श्रुतिवाक्य से गीतोक्त भगवद्वाक्य का विरोध पड़ रहा है। इसका समाधान मैं एक दृष्टान्त से करता हूँ।

किसी व्यक्ति ने पाँच रुपये सैकड़ा मासिक ब्याज पर एक व्यापारी से कर्ज लिया और उसे लिख दिया कि तीन वर्ष के अन्दर ब्याज के सहित सम्पूर्ण रुपये आपको वापिस करूँगा। कर्ज लेने वाले के भाग्य ने उसे साथ नहीं दिया और घाटे पर

घाटा हुआ। अतः समय पर वह ब्याज सहित रुपया न चुका सका, उत्तमर्ण ने न्यायालय का दरवाजा खटखटाया और न्यायाधीश ने ब्याज के सहित मूलधन की डिग्री दे दी। कर्ज लेने वाला अपने उत्तमर्ण (कर्ज देने वाला) से अपनी लाचारी व्यक्त की उसकी विवशता देख कर्ज देने वाले को दया आ गयी। उसने केवल एक लोटे जल पर ही प्रसन्न हो जज के सामने ही दस्तावेज पर वसूली देकर उसे फाड़ डाला और अपने को उस पैसे से भर पाया। ऐसी स्थिति में क्या जज उसका हाथ पकड़ेगा या कानून के विरुद्ध उसके ऊपर मुकदमा चलायेगा ? नहीं, नहीं यह सब कुछ नहीं करेगा। उस महाजन की उदारता पर प्रसन्न होगा। ठीक ऐसे ही 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इत्यादि श्रुति-स्मृति वाक्य ईश्वरीय कानून है। जिस ईश्वर ने ऐसा कानून बनाया, उसी ने साथ-साथ यह भी कहा कि मुझे अर्पण किये कर्म बाँधते नहीं। ऐसी स्थिति में भगवान् का हाथ कौन पकड़ेगा। अतः निष्काम भाव से की परमेश्वर की उपासना ईश्वर प्राप्ति कराती है। पर देवोपासना ऐसी नहीं है। वह तो तन्मात्र फल को देती है। इसीलिये फल बतलाते समय उसे एवकार पद से बाध दिया है किन्तु कर्मफल के प्रतिपादन के समय एवकार न देकर विकास का अवसर देती है। इन सबको आचार्य परम्परा से ही जान सकते हैं। इसे दशम मन्त्र के उत्तरार्ध से सूचित कर रहे हैं। इस रहस्य को जानने वाले को धीर कहा गया है। भर्तृहरि ने नीतिशतक में धीर का लक्षण बतलाया है कि—

'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायत्पथः प्रविचलन्ति परं न धीराः ॥'

नीति निपुण मेरी निन्दा करें या स्तुति करें, लक्ष्मी पैर तोड़कर मेरे घर में बैठ जाय या सदा के लिये मुझ से मुख फेर बैठे। चाहे आज ही मेरी मृत्यु हो जाय या युगान्तर में हो। इन सभी परिस्थितियों में धीरपुरुष न्याय के पथ से कभी विचलित नहीं होते। ऐसे धीर बुद्धिमान् पुरुष को ही उक्त रहस्य का ज्ञाता कहा गया।

'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदो भय७ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' ॥११॥

इस मन्त्र के वही दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि, आर्चीपंक्ति छन्द, अधिकारी देवता है और अनुष्ठान में विनियोग है।

जो विद्या और अविद्या दोनों को एक साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पारकर विद्या से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

नवम मन्त्र से दोनों के पृथक्-पृथक् अनुष्ठान की निन्दा की एवं दशम मन्त्र से दोनों के पृथक् अनुष्ठान का फल देने के बाद इस मन्त्र से देवोपासना और कर्म दोनों के समुच्चय का विधान कर रही है। इसी के लिये पूर्व पीठिका रूप से निन्दा और फल बतलाये गये थे।

विद्या-अविद्या के सम्बन्ध में एक पक्ष ऐसा भी है कि किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना विद्या है और उसका अनुष्ठान करना अविद्या है। जैसे कृषि व्यापार और धर्मशास्त्र का बिशेष विज्ञान प्राप्त कर लेना एक बात है और फिर तदनुसार उनकी प्राप्ति के लिये कृषि, व्यापार और धर्मानुष्ठान करना यह दूसरी बात है। उक्त विषय में पूरी जानकारी प्राप्त किये बिना यदि कोई कृषि, व्यापार एवं धर्मानुष्ठान प्रारम्भ कर

देता है तो उससे भूल होना स्वाभाविक है और ऐसी स्थिति में वह अन्धेरे में प्रवेश करना माना जायेगा, किन्तु उससे भी अधिक अन्धेरे में जाना, उसका कहा जायगा। जो कृषि, व्यापार, धर्मादि का ज्ञान मात्र प्राप्त करता है, अनुष्ठान नहीं करता। ऐसे को भगवत्पाद ने भी मूर्ख कहा है। अतः विद्या से किसी वस्तु का ज्ञान और अविद्या से उसका अनुष्ठान, यही अर्थ लेना चाहिये ?

यह विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि विद्या और अविद्या का अर्थ मान लेने पर दोनों की निन्दा तो हो जाती है पर दोनों का फल नहीं देखा जाता। जब तक दोनों का पृथक्-पृथक् फल निश्चित न हो सके, तब तक समुच्चय विधान करना असंगत हो जायगा। कृषि, व्यापार एवं धर्मशास्त्र का विज्ञान प्राप्त करने पर अनुष्ठान से फल मिलता है, इसे तो आप भी मानते ही हैं। विज्ञान मात्र का फल नहीं है। ऐसी स्थिति में फल जनक कृषि, व्यापार एवं धर्मानुष्ठान का विज्ञान अंग होगा और नृत्यादि का अनुष्ठान अंगी होगा। अतः इन दोनों का पूर्वोक्त रीति से अंगांगी भाव हो सकता है, समुच्चय नहीं हो सकता। अतः सिद्धान्त में विद्या और अविद्या का जो अर्थ किया है, वही समीचीन है। समुच्चय के क्रम-समुच्चय एवं सहसमुच्चय ऐसे दो भेद हैं। दोनों ही दो-दो प्रकार के हैं। अपने जीवन में कुछ वर्षों तक शास्त्रोक्त कर्म का अनुष्ठान तत्पश्चात् उपासना और अनन्तर वेदान्त के श्रवण में लग जाना, यह क्रमसमुच्चय है। दूसरा प्रतिदिन प्रातः धर्मानुष्ठान, मध्याह्न में उपासना और सायंकाल में वेदान्त का विचार इसे भी क्रमसमुच्चय कहते हैं। एक ही समय में कोई कर्म का अनुष्ठान कर रहा है कोई उपासना कर रहा है

ओर कोई वेदान्त का विचार कर रहा है, एक समय में होने के कारण इसे सहसमुच्चय कहते हैं। एक ही समय में एक ही व्यक्ति से कर्म और उपासना तथा ज्ञान के सम्पादन को भी सहसमुच्चय कहते हैं। इनमें से क्रमसमुच्चय के प्रथम विकास में तीनों के समुच्चयानुष्ठान मानने में कोई आपत्ति नहीं है। यह तो हम भी मानते हैं कि पहले शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान से सत्त्वशुद्धि कर उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता हो जाने पर वेदान्त का विचार करना चाहिए। किन्तु श्रुति में 'उभयं सह' सहानुष्ठान बतलाया है क्रमसमुच्चयानुष्ठान नहीं। क्रम-समुच्चय का दूसरा प्रकार भी श्रुति को इष्ट नहीं है क्योंकि क्रिया-कारक भेद को बाधित करके उत्पन्न होने वाले आत्मज्ञान के साथ कर्म का उपासना या समुच्चय बन नहीं सकता। "आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया" के अनुसार तैलधारावत् आत्माकार वृत्ति बनाने में लगे हुए व्यक्ति को कर्म एवं उपासना करने का अवसर ही नहीं मिलता। यदि समुच्चय होगा तो कर्म और उपासना का ही होगा। तीसरा सहसमुच्चय भिन्न-भिन्न पुरुष से एककालावच्छेदेन किये गये कर्म, उपासना और ज्ञान का अनुष्ठान बतलाना श्रुति को अभीष्ट नहीं हैं क्योंकि "तीर्त्वा" पर 'तॄ' धातु से "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इस सूत्र से "त्वा" प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। जहाँ दो क्रियायें या कर्ता एक हों तो वहाँ पर पूर्वकालीन क्रिया में "त्वा" प्रत्यय होता है। यहाँ पर मृत्यु का सन्तरण करने वाला तथा अमरत्व प्राप्त करने वाला पुरुष एक ही है। अतः इनके साधन विद्या और अविद्या का सहानुष्ठान करने वाला एक ही पुरुष होना चाहिए। अर्थात् एक ही पुरुष एक ही समय में विद्या और अविद्या का अनुष्ठान जब करता है, तब वह अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमरत्व को प्राप्त कर

लेता है। ऐसा सहसमुच्चय का विधान करना ही श्रुति को अभीष्ट है।

यहाँ पर मृत्यु एवं अमृत शब्द से क्या अर्थ लेना चाहिये, यह भी चिन्तनीय है। साधारणतया शरीर से प्राणों के निकल जाने को मृत्यु कहते हैं। पर शास्त्र-मर्यादा का उल्लंघन कर स्वच्छन्द वृत्ति से चलना संसार में अपकीर्ति होना, प्रमाद, भक्ति तथा ज्ञान से शून्य को भी मृत्यु कहा जाता है। स्वाभाविक प्रवृत्ति को मृत्यु तो भगवत्पाद ने भी अपने भाष्य में कहा है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।'

'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरण कोटि सम दारुण दाहू।'

प्रतिष्ठित व्यक्ति को करोड़ बार मरने से भी बढ़कर दुःख देने वाला अपयश है। 'कीर्तिर्यस्य स जीवति' जिसकी कीर्ति चलती हो, वह जीता माना जाता है। इसके विपरीत अपकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर है। 'प्रमादो वै मृत्युः' इस वाक्य से प्रमाद को मृत्युरूप माना गया है। भक्तिशून्य व्यक्ति को भी मरा हुआ माना गया है। यथा—

'जिन्ह हरिभक्ति हृदय नहिं आनी।
जीवत शव समान ते प्रानी॥'

भगवान् की भक्ति जिसके हृदय में नहीं है, वह जीता हुआ शव के सदृश, अस्पृश्य है। वैसे ही तत्त्वज्ञान शून्य व्यक्ति प्रत्यक्ष ही मरणधर्मा शरीर में अहंभाव करके मरा हुआ ही तो है। इतनी प्रकार की मृत्यु में से शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि कर्म करने वाला पुरुष किस मृत्यु को जीतता है? यही विचार करना है। यह स्मरण रहे कि तत्त्वज्ञानी या भगवद्भक्त का

वह प्रसंग नहीं है। किन्तु अज्ञानी कर्मी का प्रसंग है और कर्मानुष्ठान से भक्ति तथा ज्ञान की प्राप्ति सम्भव ही नहीं है। प्रारब्ध क्षय के अनन्तर स्थूल-सूक्ष्म शरीर का वियोग अवश्यम्भावी होने से लोकप्रसिद्ध मृत्यु का सन्तरण भी शास्त्रोक्त कर्म के अनुष्ठान से संभव नहीं है। परिशेषतः प्रमाद, स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं लोकापवादरूप मृत्यु को ही समुच्चयानुष्ठान करने वाला शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान से पारकर देवोपासना द्वारा देवात्मभावरूप अमरत्व को प्राप्त करता है। अमरत्व भी कई प्रकार के हैं। यथा संसार बन्धन से मुक्त हुये को अमर कहते हैं, देवता को अमर कहते हैं। एवं हरिश्चन्द्र के समान अचल कीर्ति वाले को भी अमर कहते हैं। इन्द्रादि देवों की उपासना रूप विद्या से मुक्ति तो सभव हो नहीं है। अखण्ड, अचल कीर्ति भी संभव नहीं, परिशेषतः देवात्मभाव को प्राप्त होना ही अमरत्व है। क्योंकि स्वर्गादि लोक में निवास करने वाले देवों को अमर कहते ही हैं। ऐसे अमरत्व को ही देवोपासना से सहानुष्ठान करने वाले प्राप्त करते हैं। शेष अग्रिम प्रसंग में कहेंगे।

तैतालीसवाँ दिन : आज पुनः ईशावास्योपनिषद् के ग्यारहवें मन्त्र पर ही विचार करना है। जो कोई पुरुष शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि कर्म एवं देवोपासना इन दोनों को एककालावच्छेदेन एक पुरुष से अनुष्ठेय मानता है, वह समुच्चयानुष्ठान के फलस्वरूप अविद्या से मृत्यु को पारकर देवोपासनारूप विद्या से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति जल की भाँति नीचे की ओर बहती है। उसे सदा संयम के मार्ग द्वारा ऊपर की ओर ले जाना मानव का कर्तव्य है, जिसमें प्रमाद एक बड़ा घातक शत्रु है।

कल्याणकामी पुरुष कभी भी प्रमाद को अपने पास न आने दें। यदि प्रमाद छोड़कर सदा शास्त्रविहित कर्तव्य कर्म में कोई निरत रहता हो तो वह निश्चय ही प्रमाद, स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं तज्जन्य अपकीर्तिरूप मृत्यु को जीत लेता है। लोकापवाद मृत्यु से भी बढ़कर है। एक नगर में तीन व्यक्ति समान अपराध करने के कारण न्यायालय में उपस्थित कराये गये। न्यायाधीश ने एक अपराधी से कहा कि आपके लिये ऐसा काम अनुचित है, दूसरे अपराधी को बहुत कुछ फटकारा, तीसरे अपराधी को इस प्रकार दण्ड दिया—उसके सिर, मूँछ, दाढ़ी के आधे बाल मुँड़वाकर मुख में कालिख लगाकर और गधे पर बिठाकर नगर भर में घुमाओ। राजपुरुषों ने वैसे ही किया। अपराधी एवं अन्य दर्शकों के चले जाने पर एक सज्जन ने न्यायाधीश से पूछा कि समान अपराध रहने पर आपने विषम दण्ड क्यों दिया? न्यायाधीश ने कहा—मैंने उचित ही दण्ड दिया है, यदि आपके मन में सन्देह हो तो आप उन अपराधियों से पूछ सकते हैं कि यह विषम दण्ड है या समान? वह व्यक्ति सबसे पहले उस अपराधी से मिला, जिससे न्यायाधीश ने यह कहा था कि 'आप के लिये ऐसा काम अनुचित है'। वह अपराधी घर जाते ही जहर खाकर मर गया, उसकी लाश जा रही थी। दूसरी बार दूसरे अपराधी के यहाँ गया वह तो शर्म के मारे अपने घर में आकर कमरे में किवाड़ बन्द कर बैठा था। वह किसी से बात ही नहीं करता था। फलतः दूसरे अपराधी से बात करने का मौका ही नहीं मिला। अतः वह तीसरे अपराधी के पास पहुँचा तो तब तक राजपुरुष नगर के चारों ओर घुमाते हुये अपने घर के पास ले आये थे, उसकी पत्नी छाती पीटती एवं रोती हुयी अपने घर से निकल कर पति को देखने के लिये आयी, पर उस अपराधी

को इन बातों की कोई शर्म नहीं थी। आधी मूंछ-दाढ़ी मुड़ी हुई मुख में कालिख पोते, गधे के ऊपर आराम से बैठा था। उसने अपनी पत्नी से कहा—बावरी! रोती क्यों है? आधा नगर तो घूम आया, आधा ही तो बाकी है। जा! तू भोजन बना करके रख; मैं जल्दी ही आ रहा हूँ। उस सज्जन के मन में न्यायाधीश के निर्णय के प्रति विषम निर्णय की आशंका दूर हो गयी। इसीलिये हमारी गीता कहती है "संभावितस्य चाकीर्ति-मंरणादतिरिच्यते।"

शास्त्रोक्त कर्म करने वाला व्यक्ति इस मृत्यु को पार कर देवोपासना से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। राम, कृष्ण, हरिश्चन्द्र, राजा रघु, ये सब अतीत के गर्भ में चले जाने पर भी अमर ही हैं। इनमें राम-कृष्ण तो साक्षात् परमेश्वर ही हैं, पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी अमर हैं क्योंकि जिसकी कीर्ति अमर है, वह व्यक्ति अमर माना जाता है। रामचरितमानस में राम ने जगदम्बा सीता को देख अपने हृदय के भाव को अभि-व्यक्त किया है कि—

"रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥
जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं। ते नरबर थोरे जग माहीं॥"

रघुवंशियों का सहज स्वभाव है कि उनका मन कभी भी कुमार्ग में पग नहीं धर सकता। मुझे तो अपने मन पर पूर्ण विश्वास है कि मैंने परस्त्री को स्वप्न में भी नहीं देखा। शत्रु जिसकी पीठ नहीं देखते, पर स्त्री को देखकर जिसका मन विच-लित नहीं होता और जिसके दरवाजे पर आये हुये भिखारी को

कभी नकारात्मक उत्तर नहीं मिलता; ऐसे पुरुष जग में बहुत थोड़े ही हैं। हमारे पूर्वपुरुष राजा रघु की दानशीलता लोक-विख्यात है, जिन्होंने सर्वस्व दान कर देने के बाद भी दरवाजे पर आये हुये वरतन्तु शिष्य कौत्स को चौदह हजार से भी कई गुना अधिक अशर्फियाँ खुले हाथ दे दी। अतः रघुवंश में उत्पन्न हम लोगों का स्वभाव निःसन्देह ऐसा ही है। तात्पर्य यह है कि ऐसे अमरकीर्ति पुरुष अमर माने जाते हैं। देवोपासना से देव-भावरूप अमरत्व को प्राप्त करता है। वह क्या चीज है? अमरकोष में "अमरा निर्जरा देवाः" इस वाक्य से देवताओं को अमर, अजर इत्यादि कहा गया है। जब काल पाकर ब्रह्मा का भी विनाश होता है तो उसके एक दिन में बदलने वाले चौदह इन्द्र, उसका स्वर्गलोक और स्वर्गनिवासी देवता कैसे अजर और अमर हो सकेंगे?

"मृण् प्राणत्यागे" ऐसे प्राणत्याग अर्थ वाली 'मृ' धातु से मर शब्द बनता है और विरोध अर्थ में उसी धातु से अमर शब्द बनता है। इस मर्त्यलोक में स्थूल शरीर से प्राण निकलने को मृत्यु कहते हैं। निष्प्राण शरीर को देख लोग कहते हैं "यह मर गया"। किन्तु स्वर्ग में ऐसी परिपाटी नहीं है, प्राण तो निकल गया हो और लाश पड़ी हो, जिसे सम्बन्धी श्मशान में ले जाकर दफनाते हो। वहाँ तो स्वर्ग के भोग समाप्त होने पर उसका शरीर जल जाता है और फिर वह शेष कर्मानुसार उत्तमाधम योनियों में जन्म लेता है "यथाकर्म यथाश्रुतम्"। अतः 'मरण' शब्द का मुख्य अर्थ देवताओं में न घटने के कारण उन्हें अमर कहा जाता है। वैसे ही देवताओं को अजर भी कहते हैं, क्योंकि जो शुक्रशोणित के सम्बन्ध से माता के गर्भ से जन्म लेता है, उसे बाल्यावस्था, युवावस्था, जरावस्था इत्यादि आ घेरती हैं, वही

बूढ़ा भी होता है। वृद्धावस्था को भर्तृहरि ने अत्यन्त दुःखरूप बताया है।

"गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि-
र्दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनैर्भार्या न शुश्रूषते,
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते॥"

(भ० वै० श० ११)

"देह संकुचित हो चला, गति विगलित हो गयी, दाँत टूट गये, आँखें नष्ट हो गयीं, बहरापन बढ़ गया, मुँह से लार टपकने लगा, बन्धु लोग बात नहीं करते और पत्नी ने सेवा करना छोड़ दिया। बड़े कष्ट की बात है कि बूढ़े का पुत्र तक शत्रु बन जाता है।"

ऐसी वृद्धावस्था स्वर्गनिवासियों की नहीं होती क्योंकि वहाँ जन्म ही नहीं होता। स्वर्ग में गया हुआ व्यक्ति आरम्भ से अन्त तक षोडश वर्ष की अवस्था में ही रहता है और स्वर्गीय दिव्य भोगों को भोगता है। इसलिये देवताओं को अमर और अजर कहा गया है। विद्या एवं अविद्या का सहानुष्ठान करने वाला व्यक्ति स्वाभाविक पाशविक आवृत्ति रूप मृत्यु को पार कर अमरत्व को प्राप्त करता है। स्वर्ग एवं नरक से मनुष्यलोक में आये हुये पुरुष के चिह्न इस प्रकार बतलाये गये है।

"स्वर्गच्युतानामिह जीवलोके चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे।
दानप्रसंगो मधुरा च वाणी देवार्चनं पण्डिततर्पणञ्च॥"

"सदा दान करते रहना, सदा मधुर भाषण करना, देवताओं का पूजन और विद्वानों का सत्कार करते रहना; चार स्वर्ग से पृथ्वी पर लौटने वाले व्यक्ति के चिह्न हैं।"

(चा० मी० अ० ७ श्लो० १६)

"विरोधिता बन्धुजनेषु नित्यं सरोगता मूर्खजनेषु संगः।
अतीवरोषी कटुका च वाणी नरस्य चिह्नं नरकागतस्य।।"
(सू० ६।५)

सब से विरोध करने वाला, बान्धव द्वेषी, सदा रोगी, मूर्खों की संगति करने वाला, अत्यन्त क्रोधी और कटुभाषी प्राणी नरक से लौटा हुआ जानो।

लोगों को बहुधा स्वर्ग-नरक के मन में सन्देह ही बना रहता है। कौन स्वर्ग गया, कौन नरक गया आदि। मैंने स्वर्ग और नरक से लौटे हुये पुरुष की पहिचान बतलायी। इस मन्त्र में स्वर्ग प्राप्ति का साधन बतलाया गया है।

एक धर्मात्मा सत्संगी सेठ था, उसे नौकर रखने की आवश्यकता थी। तदर्थ आये हुये प्रत्याशियों से सेठ विचित्र प्रश्न कर दिया करता था। उसके भवन के सामने से ही प्रतिदिन अनेकों लाशों को श्मशान ले जाया करते थे। धर्मात्मा सेठ ने एक प्रत्याशी से पूछा कि जरा देखो तो जिस लाश को लोग खाट पर डाल कर ले जा रहे हैं, वह मरा हुआ व्यक्ति स्वर्ग गया या नरक। उसने लाश ले जाने वालों से पूछा कि भाई यह व्यक्ति स्वर्ग जायगा या नरक, मुझे बतलावो तो सही। लोग अजीब प्रश्न को सुनकर हैरान हुये, उनमें से एक ने कहा— अरे बाबा! हमें इस बात का पता नहीं। यदि तुम्हें जानना है तो इसके साथ-साथ तुम भी जावो और देखो स्वर्ग जा रहा है या नरक। वह बेचारा खिन्न होकर आया, उसने सेठ जी से कहा—सेठ जी! हमें तो पता नहीं, आप यदि जानना आवश्यक समझते हैं तो उसके साथ-साथ जावो। सेठ ने उसे दुतकार कर बाहर कर दिया। दूसरे प्रत्याशी से वही प्रश्न सेठ ने किया।

वह बुद्धिमान् था। लाश के साथ चलने वाले लोगों के साथ वह भी चलने लगा। लोग उस मरे व्यक्ति की प्रशंसा करते और आँसू बहाते जा रहे थे। बेचारे भले आदमी थे, गरीबों को दान और दुःखियों को सुखी किया करते थे। पण्डित होते हुये भी मौन रहते थे। युवावस्था से ही हमने इन्हें तपस्या करते देखा। उस प्रत्याशी को शास्त्र की यह बात स्मरण हो आयी कि—

"दानं दरिद्रस्य प्रभोश्च शान्तिर्यूनां तपो ज्ञानवताञ्च मौनम्।
इच्छानिवृत्तिश्च सुखान्वितानां दया च भूतेषु दिवं नयन्ति ॥"
(पद्मपुराण माना० खं० अ० ६२ श्लो० ५७)

"दरिद्र को दिया हुआ दान, समर्थ की शान्ति, युवा पुरुष का तप, ज्ञानवान् का मौन, सुखी पुरुषों की इच्छानिवृत्ति और प्राणियों पर दया, निश्चय ही स्वर्ग पहुँचा देती है।" उसने सेठ जी से आकर स्पष्ट कहा कि मृतव्यक्ति स्वर्ग में जा रहा है। सेठ के पूछने पर उसने कारण और उक्त प्रमाण भी सुना दिया। इसके विपरीत दूसरे मृतव्यक्ति के सम्बन्ध में बात सुनकर उसके नरक जाने का निश्चय कर प्रत्याशी ने सेठ जी से कहा कि दूसरा व्यक्ति नरक जा रहा है सेठ ने प्रसन्न हो उसको बुद्धिमान् समझ कर प्रधान पद पर नियुक्त किया। तात्पर्य यह है कि स्वर्ग-नरकादि में सन्देह कर अपने कर्तव्य से कभी विचलित नहीं होना चाहिये। बल्कि कष्टावस्था में भी पाप नहीं करना चाहिये और पुण्य करते रहना चाहिये।

चौवालीसवाँ दिन :

"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याᳬ रताः" ॥१२॥

इस मन्त्र के पूर्वोक्त ही दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि, आर्ष्यनुष्टुप् छन्द है और जिज्ञासु देवता एवं उपदेश में इसका विनियोग होता है।

वे घोर अन्धेरे में प्रवेश कर रहे हैं जो असंभूति की उपासना करते हैं। पर इनकी अपेक्षा भी अधिक अन्धेरे में वे प्रवेश कर रहे हैं जो संभूति में ही रत हैं।

परमार्थतः परमात्मा ही अद्वितीय तत्त्व है, संसार एवं उसके कारण माया में पारमार्थिकत्व नहीं है, किन्तु जब तक परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता तब तक कोई भी अज्ञानी कर्तव्य पालन से कतरा कर कल्याण का भागी नहीं बन सकता। प्रकृति के अधीन हो उसे कुछ न कुछ करना ही पड़ता है। चाहे वह अपने शरीर की उपासना करे या किसी अन्य की। उपासना तो उसे करनी ही पड़ेगी।

इस मन्त्र में संभूति का अर्थ "सम्यक् भवनम् संभूतिः प्राणिवर्गः" अर्थात् जिसकी उत्पत्ति होती हो, उसे संभूति और जिसकी नहीं होती, उसे असंभूति कहते हैं। परमात्मा की अध्यक्षता में ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण संसार को अव्याकृत प्रकृति रचती है। उसकी रचना करने वाला कोई दूसरा नहीं है। वह माया तो अपने अध्यक्ष परब्रह्म के समान ही अनादिकालीन है। उसी को श्रुति असंभूत्ति पद से कह रही है। ऐसी असंभूति की उपासना करने वाले घोर अन्धेरे में जाते हैं, पर इनसे भी अधिकतम अन्धेरे में वे जा रहे हैं जो कार्य वर्गरूप संभूति में लगे हैं। यद्यपि अनादि होने से असंभूति का अर्थ परमेश्वर भी हो सकता है। फिर भी विकारयुक्त संसार का साक्षात् उपादान कारण न होने से असंभूति का अर्थ परमात्मा

मानना ठीक नहीं है। "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" जगत् की प्रकृति माया को जानो और परमेश्वर को माया का अधिपति समझो, 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" "मेरी अध्यक्षता में प्रकृति सम्पूर्ण चराचर जगत् को रचती है" इन श्रुतिस्मृतियों में विस्तृत जगत् की प्रकृति माया को ही माना गया है। अतः असंभूति पद का अर्थ माया है; परमेश्वर नहीं। साथ ही परमेश्वर की उपासना से सम्पूर्ण पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, उसे किसी के साथ समुच्चय की आवश्यकता नहीं है। अतः असंभूति से अव्याकृत प्रकृति ही अर्थ लेना चाहिये और संभूति पद से चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त अर्थ ग्रहण करना चाहिये। हम लोग भी देहदृष्टि से संभूति पद वाच्य है और आत्मदृष्टि से असंभूति का भी अधिष्ठान है। भगवान् ने गीता के तृतीय अध्याय में कर्मयोग बतलाते हुये भी एक व्यक्ति को कर्म से सर्वथा मुक्त कर रखा है—

"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥"

(गी० ३।१७)

जो आत्मा में ही रति वाला है, आत्मा में ही स्थित है और आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य कर्म शेष नहीं है। ऐसी स्थिति प्राप्त किये बिना प्रत्येक मानव को दूसरे की अपेक्षा होती है। अतएव उसके प्रति कुछ न कुछ कर्तव्य शेष प्रत्येक व्यक्ति के लिये रह ही जाता है। असंभूति का अर्थ समष्टि और संभूति का व्यष्टि अर्थ लेना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति व्यष्टि की उपेक्षा कर केवल समष्टि की उपासना करता है तो वह घोर अन्धेरे में जा रहा है किन्तु समष्टि की उपेक्षा कर व्यष्टि की उपासना करने वाला उससे भी अधिक घोरतम अन्धेरे में

जा रहा है। विश्व की अपेक्षा यह भूलोक व्यष्टि है, भूलोक की अपेक्षा अपना राष्ट्र व्यष्टि है, राष्ट्र की अपेक्षा प्रान्त, प्रान्त की अपेक्षा नगर, नगर की अपेक्षा अपना घर, घर की अपेक्षा अपना शरीर व्यष्टि माना गया है। इसके विपरीत अपने शरीर की अपेक्षा घर, घर की अपेक्षा नगर. नगर की अपेक्षा प्रान्त, प्रान्त की अपेक्षा राष्ट्र, राष्ट्र की अपेक्षा भूलोक, भूलोक की अपेक्षा त्रिलोक, त्रिलोक की अपेक्षा हिरण्यगर्भ समष्टि है। शरीरादि से लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त में व्यष्टिता है। अतः इन्हें संभूति पद से कहा है। केवल अव्याकृत प्रकृति में ही वस्तुतः समष्टिता है। वहाँ से लेकर अपेक्षाकृत समष्टिता अपने घर तक मानी जा सकती है। अज्ञानी प्राणी प्रत्येक से कुछ न कुछ अपेक्षा रखता है; कोई पूर्ण नहीं है। साथ ही वह व्यष्टि बन्धन से मुक्त नहीं हुआ है। अतः व्यष्टि कल्याण की कामना करता हुआ समष्टि के हित की भावना उसे रखनी ही चाहिये। इन दोनों में से एक का अवलम्बन करने वाले की श्रुति ने निन्दा की है। वेदों का सार गीता में भगवान् ने कहा है कि—

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" ॥१३॥

(गी० अ० ३)

'सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञ के सहित प्रजा की सृष्टि कर प्रजापति ने कहा था कि इस यज्ञ के द्वारा एक दूसरे का उपकार करो। यह यज्ञ तुम्हें इष्ट भोगों को देने वाला हो। इसके द्वारा तुम लोग देवताओं को समुन्नत बनाओ और देवता तुम्हारी कल्याण कामना करें। इस प्रकार एक दूसरे का कल्याण करते हुये परमश्रेय को प्राप्त करोगे। यज्ञ के द्वारा समुन्नत हुये देवता तुम्हें अभीष्ट भोगों को देंगे। पर याद रखो, उनके दिये हुये इष्ट भोगों को जो उन्हें अर्पण किये बिना खाता है, वह चार ही है। यज्ञावशेष वस्तु को खाने वाले सन्त पुरुष सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो अपने लिये पकाते हैं; वे पापात्मा पाप को ही पकाते और पाप को ही खाते हैं।'

इस प्रसंग में भगवान् श्रीकृष्ण ने केवल व्यष्टि उन्नति में निरत व्यक्ति की निन्दा कर परस्पर हित की भावनारूप यज्ञ के द्वारा समष्टि का हित करते हुये विश्व शान्ति का सन्देश दिया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि जो धर्म एवं परलोक में अनास्था के कारण देवार्चनादि छोड़कर केवल भूलोक की उन्नति के लिये ही सारा प्रयत्न करता है; वह निश्चय ही दुर्भिक्षादि दैवीप्रकोप का आह्वान कर रहा है। वैसे ही भूलोक में सम्पूर्ण विश्व के हित की भावना न सोचकर केवल अपने राष्ट्र की समुन्नति में लगा हुआ व्यक्ति विश्वयुद्ध को आमन्त्रण दे रहा है जैसा कि आज बड़े-बड़े उन्नतशील राष्ट्रों की भावना देखी जाती है। राष्ट्रोन्नति चूल्हे में जावे, केवल हमारा प्रान्त समुन्नत होना चाहिये ऐसा व्यक्ति निश्चय ही एक रोज राष्ट्र में पृथक्तावाद को जन्म देगा जैसा कि वर्तमान में प्रदेशों की स्थिति है। प्रान्त की उन्नति दूर रहे हमारा नगर समुन्नत होना चाहिये, ऐसा मानने वाला व्यक्ति डकैतों को बुला रहा है। नगर की उन्नति

की उपेक्षा कर अपने घर को समृद्ध बनाने में लगा हुआ व्यक्ति चोरों को पैदा कर रहा है। घर वालों की उपेक्षा कर अपने आप खाने में और सजाने में लगा हुआ व्यक्ति घर वालों को बँटवारा करने के लिये विवश कर रहा है। इसके विपरीत व्यष्टि की उपेक्षा न संभव है और न करनी ही चाहिये। यदि कोई व्यक्ति अपने शरीर की उपेक्षा कर घर को सम्हालने में तत्पर रहता है तो निश्चय ही वह अस्वस्थ होकर रोगों का शिकार बनेगा और वह आजीवन दूसरों के लिये भार बन जायेगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर व्यष्टि जगत् में अस्वास्थ्य और रोग का आना संभव हो जाता है और वह व्यक्ति घर, नगर, प्रान्त, राष्ट्र अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिये दूसरों की ओर हाथ फैलायेगा। ऐसे लोग भिखारियों को जन्म दे रहे हैं। जो अपने राष्ट्र को समुन्नत बनाने के लिये सफल प्रयत्न न करके केवल विश्व-शान्ति के सन्देश का ढिंढोरा पीटता है, वह अपने देश को भिखारी बना रहा है। जैसा कि वर्तमानकाल में कुछ राष्ट्रों की स्थिति देखी जाती है। सहस्र माताओं से भी अधिक स्नेह रखने वाली श्रुति भगवती ऐसे दोनों प्रकार के अदूर-दर्शियों को फटकारते हुये वैलेन्स को ठीक करने के लिये समु-च्चय विधान के अभिप्राय से दोनों की निन्दा कर रही है।

वेद की दुहायी देने वाले सभी हिन्दू हैं, चाहे वे आर्यसमाजी हों, सनातनी हों, वैष्णव, उदासी या किसी सन्तमतावलम्बी हों, पर इनमें से किसी ने परमेश्वर को निराकार ही माना है अर्थात् परमेश्वर निराकार ही है; साकार नहीं। किसी ने परमेश्वर को केवल साकार ही माना है; निराकार नहीं। इस मन्त्र में असंभूति का अर्थ अव्यक्त एवं निराकार समझना चाहिये और संभूति का अर्थ व्यक्त तथा साकार समझना

चाहिये। परमेश्वर को अव्यक्त, निराकार मात्र मानकर उपासना करने वाले घोर अन्धेरे में जा रहे हैं। उनसे भी अधिक घोरतम अन्धेरे में वे जा रहे हैं जो परमेश्वर को केवल व्यक्त सगुण साकार मानकर ही उपासना करते हैं। उक्त श्रुति दोनों की ही निन्दा करती है क्योंकि उसे समुच्चय विधान करना इष्ट है। आचार्य भगवत्पाद ने कहा है कि परमेश्वर निर्गुण निराकार है और सगुण साकार भी है। ऐसा मानकर परमेश्वर केवल साकार या केवल निराकार है; इन दोनों मतों का खण्डन कर दिया है। इसी बात को यहाँ की श्रुति भी बतला रही है। उभय रूप से परमेश्वर की उपासना करने वाले ही मृत्यु को जीतकर अमरत्व को प्राप्त करते हैं, इसे आगे के मन्त्र में बतलायगी।

वेद के उक्त सर्वोत्तम सिद्धान्त को न जानने के कारण कुछ राजनैतिक नेताओं ने भारतीय वैदिक धर्मावलम्बियों को भी "फिरकापरस्त" कहकर निन्दा की है। हम उनसे पूछते हैं कि जिन धर्म एवं सम्प्रदायों के काल निश्चित हैं, ऐसे इस्लाम, क्रिश्चियन या अन्य धर्मावलम्बियों को भले ही फिरकापरस्त कह दो। पर अनादिकाल से चला आ रहा जो सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याण का कारण है, ऐसे वैदिक, सनातन धर्म के अवलम्बियों को "फिरकापरस्त" कहना तो अपनी ही अदूरदर्शिता का परिचय देना है। इस्लाम कहता है कि इस्लामधर्म को न मानने वाले एक काफिर को मारने से (कत्ल करने से) सात बार हज करने का फल प्राप्त होता है। ऐसे विष वमन करने वाले को फिरकापरस्त कहना चाहिये, अथवा—

> 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
> सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥'

—ऐसे सम्पूर्ण विश्व में कल्याण की भावना रखने वालों को फिरकापरस्त कहना चाहिये ? तात्पर्य यह कि वेदान्त विश्वप्रेम का पाठ पढ़ाता है और इसी की छाया में सम्पूर्ण विश्व को शान्ति मिल सकती है। ऐसे ही समष्टि-व्यष्टि, निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार एवं असंभूति-संभूति के समुच्चय विधान के लिये इस प्रसंग का अवतरण है।

पैंतालीसवाँ दिन :

'अन्यदेवाहु: संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥'

इस मन्त्र के दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि, आर्ष्यनुष्टुप्छन्द, श्रोता देवता है और इसका मनन में विनियोग है।

'संभूति की उपासना का अन्य ही फल कहा गया है और असभूति की उपासना से अन्य ही फल बतलाया गया है। यह हमने उन धीरों से सुना है जिन्होंने इस रहस्य की व्याख्या हमारे प्रति की थी।'

पूर्व प्रसंग में व्यष्टि एवं समष्टि की कड़ी जोड़ने के लिये गीता के कुछ वाक्यों को हमने उद्धृत किया था। उसमें न केवल भूमण्डल के प्राणियों के साथ सम्बन्ध जोड़ने की बात कही गयी है, अपितु अन्यग्रह (लोक) निवासी देवताओं के साथ भी परस्पर सरस सम्बन्ध स्थापित करने की बात की गयी है। हम जब दूसरों से अपेक्षा रखते हैं तो हमारा भी उसके प्रति कुछ कर्तव्य हो जाता है। विशेष क्या, असंख्य प्राणियों की हत्या के बाद ही किसी के मुख में ग्रास जाता हो तो ऐसी स्थिति में क्या उस व्यक्ति के लिये अन्य प्राणियों के प्रति कुछ कर्तव्य नहीं है ? अर्थात् है। यदि कोई इस भय से

शरीर निर्वाह के लिए आवश्यक भोजन आच्छादन का परित्याग कर विश्वकल्याणार्थ कार्य में लग जाय तो उसे असंभूति की उपासना कहेंगे। पर चन्द दिनों में अपने शरीर से हाथ धो बैठने के कारण ऐसे व्यक्ति घोर अन्धेरे में जाते हुए माने जायंगे किन्तु समष्टि कल्याण की भावना न रखकर एवं असंख्य प्राणियों की हत्या के बाद प्राप्त होने वाले भोजन को खाकर अपनी तोंद पर हाथ फेरने वाला श्रीमान् तो उससे भी अधिकतम अन्धेरे में जा रहा है। इन्हीं दोनों की खाई को पाटने के लिये हमारे वेद, ऋषि, मुनि और अवतारी पुरुष प्रयत्न करते हैं। इसी माध्यम को गीता में 'यज्ञ' शब्द से कहा है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के मुख से तुलसीदासजी ने इसी 'यज्ञ' शब्द को सर्वप्रथम निकलवाया है, इसे मानस प्रेमी जानते हैं। मनुशतरूपा के पास आये हुए परमात्मा, प्रसवगृह में कौसल्याजी के सामने प्रगट हुए एवं कुलदेव पूजन काल में कौशल्या को विराट्रूप दिखलाते हुए भगवान् ने जो कुछ कहा है वह मर्यादा पुरुषोत्तम राम का शब्द नहीं माना जायगा। कौसलपुर से विश्वामित्र के आश्रम पर जाते हुए राम का एक शब्द भी रामायण में नहीं सुनायी पड़ा। बालपन अध्ययन काल या अन्य काम काज के समय भी राम रामायण में बोलते हुए नहीं दीखते। किन्तु विश्वामित्र के आश्रम पर रात्रि व्यतीत होने पर प्रातःकाल तुलसीदास के राम ने सबसे पहले कहा है—

"प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई॥"

राम ने प्रातःकाल विश्वामित्र मुनि से कहा कि आप निर्भय होकर यज्ञ करें। वे इस बात को जानते थे कि सम्पूर्ण प्राणियों का हित एकमात्र यज्ञ से ही हो सकता है। इसी यज्ञ की संभूति एवं असंभूति के समुच्चयानुष्ठान विधान से पूर्व विकास का

साधन यहाँ श्रुति भी बतला रही है। जब असंभूति एवं संभूति की पृथक्-पृथक् उपासना की निन्दा की गयी तो स्वभाव से श्रोताओं के मन में उनके प्रति अनास्था हो सकती है और फिर ऐसे निष्फल दो के समुच्चयानुष्ठान से कैसे कुछ फल मिलेगा ?

अतः विद्या एवं अविद्या के समान असंभूति एवं संभूति का भी फल बतलाना आवश्यक है, जिसे इस मन्त्र से बतलाया जा रहा है। क्षुद्र जन्तु से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त संभूति की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और अव्याकृत प्रकृति की उपासना से प्रकृति में विलय रूप फल प्राप्त होता है। वैसे ही अपने शरीर, घर, नगर, प्रान्त राष्ट्र, विश्वरूप व्यष्टि की सेवा से भी यथा संभव फल प्राप्त होता ही है और समष्टि ब्रह्माण्ड की सेवा से भी फल मिलता ही है। केवल निराकार एवं साकार की उपासना से भी चित्त की एकाग्रता एवं मनोविकासरूप फल संभव ही है। अतः इन दोनों की उपासना निष्फल नहीं है। निन्दा तो समुच्चयविधान के लिये की गयो थी। निःसन्देह कार्य ब्रह्म की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्ति होती है, जिसे महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन के विभूतिपाद में विस्तार से बतलाया है। जिन विभूतियों का दर्शन गीता और मानस की पंक्तियों में होता है। भगवान् राम के आदेशानुसार श्री जानकी जी का सन्देश लाने के लिये जाते समय मार्ग में हनुमान् जी ने अपनी कुछ विभूतियों को दिखलाया। हनुमान् की परीक्षा के लिए देवताओं की आज्ञानुसार आयी हुई सुरसा ने हनुमान जी के साथ जैसा व्यवहार किया और उसके उत्तर में पवनसुत ने जो ऐश्वर्य दिखलाया, उससे वह संतुष्ट हो आशीर्वाद देकर

चली गयी। समुद्र के बीच में रावण के राड़ाररूप निशाचर ने हनुमानजी के साथ माया करना चाहा—

'निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई।
करि माया नभु के खग गहई॥
जीव जन्तु जे गगन उड़ाहीं।
जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाही॥
गहइ छाँह सक सो न उड़ाई।
एहि बिधि सदा गगनचर खाई॥
सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा।
तासु कपटु कपि तुरतहिं चीन्हा॥"

समुद्र में एक निशाचरी रहती थी, जो आकाशचारी सभी जन्तुओं को माया से पकड़ लिया करती थी। आकाश में उड़नेवाले जीव जन्तु की जल में छाया देखकर ऐसा पकड़ती थी कि वे उड़ नहीं पाते थे। इस प्रकार आकाशचारी जन्तुओं को सदा खाया करती थी। उसने वही छल हनुमान् जी के साथ किया किन्तु हनुमान् जी ने शीघ्र ही उसके कपट को पहचान कर उसे मार डाला और वहाँ से चल दिये। मच्छर के समान रूप धारण करना हनुमान् जी की एक विभूति ही है। लंका जलाते समय हनुमान् जी की पूँछ का विस्तार उनके ऐश्वर्य का द्योतक है। उन्हें तो ये सब ऐश्वर्य भगवत्प्रसाद से प्राप्त हो गये थे, जिन्हें कार्य ब्रह्म के उपासक संभूति की उपासना से प्राप्त करते हैं। अव्यक्त प्रकृति की उपासना से प्रकृति में विलयरूप फल बतलाया गया है, पर इसे कौन चाहेगा? क्योंकि प्रकृति में विलीन होने का अर्थ है; चेतन से जड़ बन जाना। भला, कोई चेतन जड़ बनना क्यों चाहेगा और जड़ प्रकृति फल भी

कैसे दे सकेगी ? इसका उत्तर यह है कि जैसे सुषुप्ति में दुख का अभाव हो जाता है, इसलिये उसे सभी चाहते हैं। ऐसे ही प्रकृति में लय हो जाने पर उपासक की उपासना के वेगानुसार प्रकृति में विलय पर्यन्त दु:ख का अभाव हो जाता ही है। अतः सुषुप्ति के समान प्रकृति में विलय की भी आकांक्षा पुरुष में संभव है। अतएव कुछ दार्शनिकों ने दु:खाभाव को परम पुरुषार्थ माना है। पर यह प्रकृति में विलयरूप फल दु:ख का अत्यन्ताभाव नहीं है। जीव के सम्पूर्ण काम, कर्म के बीज प्रकृति विलयकाल में भी पड़े रहते हैं, जो उपासना के फल भोग-क्षीण होने पर सुषुप्ति से जगे हुये मनुष्य के समान प्रकृति विलय से उत्पन्न होते ही जग जाते हैं और उसके फलस्वरूप उत्तमाधम योनियों में जन्म लेकर इसे भी दु:ख भोगना पड़ता है।

जैसे अन्य देवताओं की उपासना का फल परमेश्वर ही देता है, जड़प्रकृति नहीं। इसलिए संभूति एवं असंभूति की पृथक्-पृथक् उपासना का भी फल है। यद्यपि श्रुति में अणिमादि एवं प्रकृति विलय शब्द नहीं आये, उसमें तो अन्यदेव एवं अन्यत् शब्द है। फिर भी श्रुति के व्याख्यान स्वरूप पुराण में कार्य ब्रह्म एवं प्रकृति की उपासना का फल उक्त प्रकार से बतलाया है। यदि कोई इतिहास और पुराणों का त्याग करता है तो निश्चय ही वेदार्थ को जानना कठिन हो जायगा। इसलिये तो कहा है कि

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्' अर्थात् इतिहास एवं पुराण से वेद के अर्थ को समझना चाहिये। उन्हें त्यागने पर वेद का अर्थ जानना बड़ा कठिन हो जायगा। यथा वेद में 'सत्यं वद' इतना ही कहा है। पर 'किमर्थं कथं वा सत्यं

वद' ऐसे प्रश्नों का उत्तर पुराणों से ही मिल सकता है। इसीलिये कहना पड़ता है कि 'सत्यं वद' की व्याख्या हरिश्चन्द्र का जीवन है, ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिये। यहाँ पर भी 'अन्यदेवाहुः संभवात्' इत्यादि अन्य शब्द के भाष्य में भगवत्पाद ने पौराणिकों से मदद लेकर अन्य शब्द का अर्थ बतलाया है। इतना ही नहीं, भारत के अतीत गौरव को बतलाने वाले पुराणेतिहास तो हैं। उन्हें अप्रामाणिक मानकर त्याग देने पर भारत का अतीत गौरव समाप्त हो जायगा और अंग्रेजों के लिये हुये इतिहास से हमलोग भारत के प्रति घृणा करने लग जायेंगे। अस्तु—

समुच्चयानुष्ठान के लिये इस मन्त्र से संभूति एवं असंभूति का फल बतला कर समुच्चय विधान मार्ग में आये हुये रोड़े को हटाकर मार्ग प्रशस्त कर दिया।

छयालीसवाँ दिन :

संभूतिश्च विनाशश्च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ।।१४।।'

इस मन्त्र के दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि, आर्ष्यनुष्टुप्छन्द और अधिकारी देवता है और इस मन्त्र का विनियोग समुच्चय अनुष्ठान में है।

'असंभूति और विनाश (संभूति) इन दोनों को जो कोई एक काल में एक ही पुरुष से अनुष्ठेय समझता है, वह विनाश से अनैश्वर्यादिरूप मृत्यु को पारकर असंभूति से प्रकृति में विलयरूप अमरत्व को प्राप्त करता है।'

इस मन्त्र में असंभूति और संभूति के सह समुच्चय का स्वरूप, मृत्यु एवं अमरत्व का स्वरूप जानना भी आवश्यक है।

इसमें आये हुये संभूति तथा विनाश पद का अर्थ समान ही है। ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त पदार्थ को संभूति कहते हैं क्योंकि ये सब उत्पन्न हुए हैं। काल पाकर नष्ट हो जाने के कारण इन्हेंविनाश (विनाशवान्) भी कहते हैं। अर्थात् सभी कार्य वर्ग उत्पत्ति एवं विनाशशील है। विद्या-अविद्या के समान असंभूति एवं संभूति का समुच्चय इस मन्त्र में बतलाना चाहिये था किन्तु यहाँ पर संभूति और विनाश का समुच्चय श्रुति बतला रही है। यह अप्रासंगिक सा प्रतीत होता है। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वमन्त्र का अन्तिम पद 'तद्विचचक्षिरे' है और इस मन्त्र का आदि पद असंभूति है। इन दोनों का संहिता पाठ में (तद्विचचक्षिरेऽसंभूति) 'एङः पदान्तादति' इस पाणिनीय सूत्र से असंभूति के अकार का पूर्वरूप हो गया है। अथवा भगवत्पाद के भाष्यानुसार वहाँ पर अकार का छान्दस लोप मानना चाहिये क्योंकि आगे इसकी उपासना का फल प्रकृति-विलयरूप अमरत्व बतलाया गया है, जो असंभूति की उपासना से ही प्राप्त होता है। कुछ भाष्यकार एवं व्याख्याकारों ने संभूति शब्द का यथाश्रुत प्रयोग एवं अर्थ मानकर 'विनाश' शब्द का अर्थ असंभूति किया है जो विचार दृष्टि से असंगत है क्योंकि विनाश शब्द का यथाश्रुत अर्थ जब कार्यवर्ग भी नहीं हो सकता तो भला अव्याकृत प्रकृति विनाश शब्द का अर्थ कैसे हो सकेगा? कार्यब्रह्म और कारणब्रह्म ये दोनों ही धर्मी हैं। इनमें से कार्य (ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त) काल पाकर नष्ट हो जाने वाले हैं। इसलिये कार्य का धर्म विनाश है और कार्य धर्मी है। अतएव धर्म-धर्मी का अभेद मानकर अथवा 'विनाशोऽस्यास्तीति विनाशः' 'अर्श आदिभ्ययोऽच्' इस सूत्र के द्वारा विनाश शब्द से 'अच् प्रत्यय करने पर जो विनाश शब्द बनता

है, वह विनाश धर्म वाले धर्मी का वाचक बन जाता है। अतः केवल विनाश शब्द धर्मवाचक और मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्ययान्त विनाश शब्द का वाचक हो जाता है, जो संभूति अर्थ का बोधक है। पर असंभूति अर्थ में विनाश शब्द का प्रयोग मानना तो सर्वथा अविचारित रमणीय एवं पाण्डित्य विरुद्ध है। यदि कहो कि ब्रह्मज्ञान से अव्याकृत प्रकृति का भी नाश होता है। अतः विनाश धर्म वाली होने के कारण पूर्व व्युत्पत्ति के अनुसार अव्याकृत प्रकृति को भी विनाश शब्द से कह सकते हैं; तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, फिर तो ऐसी की उपासना से न मृत्यु का सन्तरण संभव है और न अमरत्व की प्राप्ति ही संभव है। क्योंकि योगदर्शन में कार्यब्रह्म की उपासना से सम्पूर्ण ऐश्वर्य की प्राप्ति तथा प्रकृति की उपासना से प्रकृति विलयरूप फल मिलता है, यह बतलाया गया है। ऐसे ही भगवत्पाद भगवान् शंकराचार्यजी ने भी बतलाया है। अतः अकार का पूर्व रूप या लोप मानकर संभूति पद का असंभूति अर्थ और विनाश पद का संभूति अर्थ मानना ही उचित है। इन दोनों के एक साथ अनुष्ठान का स्वरूप कतिपय दृष्टान्तों से बतलाया जा सकता है।

प्रथम कक्षा से लेकर आचार्य और एम. ए. तथा संभावित शब्दराशि को एकत्रित कर यदि पूछा जाय कि ये सब कितने हैं तो बतलाना बड़ा कठिन हो जायगा। पर विचार दृष्टि से असंख्य ग्रन्थराशि अपनी वर्णमाला में ही निहित है। वर्णमाला से बाहर कोई नहीं जा सकते। पर यदि कोई व्यक्ति ऐसा समझकर वर्णमाला मात्र पढ़कर सम्पूर्ण ग्रन्थराशि का विज्ञान प्राप्त करना चाहे तो नहीं कर सकता। निश्चय ही ऐसा व्यक्ति घोर अन्धेरे में जा रहा है, किन्तु इससे भी अधिक घोरतम

अन्धेरे में वह जा रहा है जो वर्णों का आश्रय न लेकर पूर्वोपार्जित विज्ञान को प्राप्त करना चाहता है या अपना विज्ञान दूसरे को देना चाहता है। दूसरे की विज्ञान प्राप्ति एवं अपने विज्ञान को अन्य के लिये प्रदान करने का माध्यम वर्णों की योजना से बने हुए पद, पदों की योजना से बने वाक्य और वाक्यों की योजना से बनी ग्रन्थ राशि ही हैं। शब्द का आश्रय लिये बिना विज्ञान के आदान-प्रदान का अन्य कोई साधन नहीं है। इस शब्दराशि की भित्ति एकमात्र वर्ण ही हैं। इसलिए वर्णों का परित्याग कर ग्रन्थराशि में निहित विज्ञान को प्राप्त करने वाला पहले की अपेक्षा अधिक अंधेरे में जा रहा है। पहले पहल वर्णमाला का पढ़ना ही बड़ा कठिन मालूम पड़ता है, किन्तु एम. ए., आचार्य अथवा पी. एच. डी., करने पर वर्णमाला पढ़ने वाले को अज्ञ मानते हैं। वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। चाहे जितना भी पढ़ो, वर्णमाला से कभी छुट्टी मिलने की नहीं। इतना ही नहीं, यदि परस्पर विज्ञान के आदान-प्रदान की आकांक्षा न भी रहे, फिर भी मनुष्य के हृदय में विचार या संकल्प हमेशा शब्द के रूप में ही उदित होते हैं और वे किसी निर्णय पर पहुँचते हैं। अतः यावज्जीवन वर्णों का अध्ययन तो बना ही रहता है। इन वर्णों, पदों या वाक्यों का आश्रय ही संभूति की उपासना है और इनमें निहित विज्ञान राशि असंभूति की उपासना है। दोनों के समुच्चया-नुष्ठान से मृत्यु का सन्तरण अथवा अमरत्व प्राप्त कर सकता है।

सच्चिदानन्द, परब्रह्म, परमात्मा निराकार, व्यापक, सर्वत्र विद्यमान है और साकार मूर्ति, प्रतिमा या नाम देश-काल से परिच्छिन्न है। यदि कोई व्यक्ति ईश्वर भावना से शून्य हो,

प्रतिमा आदि की पूजा करता है तो वह घोर अन्धेरे में जा रहा है, क्योंकि ईश्वर-भावना के बिना, केवल इनकी पूजा मात्र से चाहे अदृष्ट फल हो भी जाय किन्तु प्रत्यक्ष फल नहीं मिल सकता। इसके विपरीत प्रतिमा का आश्रय लिये बिना ही जो निर्गुण, निराकार ब्रह्म को जानना चाहता है वह पहले वाले से भी अधिकतम अन्धेरे में जा रहा है। यह सत्य है कि उस परमात्मा का कोई नाम या रूप नहीं है, किन्तु उससे भी अधिक सत्य यह है कि इसके बिना नामरूप रहित परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता। शिवलिंग या शालिग्राम ही परमात्मा के प्रतीक नहीं हैं, उपनिषद् में नाम को भी प्रतीक माना गया है। अतः नाम भी परमात्मा के बोधन में प्रतिमा का काम करता है। माता, पिता, आचार्य एवं अतिथि की कृपा चाहने वाला इनकी आत्मा की पूजा नहीं करता; अपितु शरीर की करता है। पूजा करते समय पूजक को यह बराबर स्मरण रहता है कि उससे हमारे पूज्य माता, पिता, आचार्य, सन्तुष्ट एवं प्रसन्न होंगे और प्रसन्न होते हुये देखे भी गये हैं। ठीक प्रतिमा की पूजा करते समय या नामस्मरण करते समय उसमें व्याप्त परमेश्वर की प्रसन्नता की भावना सदा बनी रहती है और तभी पूजन सफल हो सकता है, अन्यथा दोनों ही अन्ध तम में प्रवेश करने वाले माने जायेंगे।

एक भक्त ने महात्मा के पास जाकर प्रार्थना की, कि मुझे परमेश्वर प्राप्ति का कुछ साधन बतलायें। महात्मा ने भगवती जगदम्बा की प्रतिमा देकर उसकी पूजा करने के लिए कहा। उसने प्रतिमा को घर ले जाकर वर्ष भर वैसा ही किया। किन्तु उसको कुछ लाभ हुआ नहीं। बेचारा भक्त पुनः महात्मा के पास जाकर अपनी पूजादि की बात कहने लगा, कि भगवन्!

जगदम्बा की पूजा से मुझे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। महात्मा ने उसे गणेश की मूर्ति देकर कहा—यदि देवी प्रसन्न नहीं होती तो न हो, उनकी खुशी, आज से इस गणेश की पूजा कर। भक्त ने गणेश को उसी आलय में बैठाया, जहाँ देवी को बैठाया था। उस आलय से कुछ ऊपर छोटे से आलय में देवी को बैठा दिया। गणेश जी की पूजा के समय जो उसने धूपबत्ती जलाई तो उसकी गन्ध देवी के पास तक गयी। भक्त को बड़ा बुरा लगा कि वर्ष भर हमने इसकी पूजा की, लाभ तो कुछ हुआ नहीं। ऐसी देवी गणेश के निमित्त जलायी धूपबत्ती की सुगन्ध क्यों ले रही है? ऐसा विचार कर उसने रूई की दो बत्ती बनाकर देवी की नाक में ठूँस डाली। देवी प्रसन्न हो उठी। भक्त ने कहा—यदि हमें पहले से यह पता होता कि नाक में रूई ठूँसने से तू प्रसन्न होती है तो मैं पहले ही तुम्हें प्रसन्न कर लेता। देवी ने कहा कि मेरी पूजा करते हुए भी आज तक मुझे जड़ प्रतिमा मानता था किन्तु आज तुम्हारे मन में मेरे चेतन होने की भावना जगी है। इसी-लिए मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तात्पर्य यह कि मूर्ति की पूजा करते समय भी भगवद्भावना रखने से उनकी कृपा का पात्र बनता है।

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त नामदेव के द्वारा दिये गये नैवेद्य एवं महाप्रसाद को भगवान् प्रकट होकर खाया करते थे। मीरा द्वारकाधीश के दर्शन करते ही उस प्रतिमा में सदा के लिये समा गयी और आज असंख्य दर्शनार्थी द्वारकाधीश के दर्शन कर भी अपने में द्वन्द्व और ताप का अनुभव करते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नामदेव और मीरा के हृदय में प्रतिमा में भगवद्भाव था। शेष लोग केवल प्रतिमा देखते हैं। तात्पर्य यह कि केवल प्रतिमा देखने से काम नहीं चलेगा और प्रतिमादि के आश्रय लिये बिना निराकार परब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो

सकता। अतः दोनों का सहानुष्ठान करना चाहिये; यही वह मन्त्र बतला रहा है। शांकरभाष्य में कार्यब्रह्म को संभूतिपद से और कारण को असंभूति पद से कहा गया है। इन दोनों का समुच्चय अनुष्ठेय है, इसे इस प्रकार समझना चाहिये। जाग्रत् स्वप्न में जो नानात्व दीखता है, इसे कार्यरूप समझना चाहिये, इसका कारण सुषुप्ति का अज्ञान है। कार्य अपने कारण से कभी भी पृथक् नहीं रह सकता। सौषुप्ताज्ञान में विलीन होते ही जाग्रत् स्वप्न की सारी चिन्ता द्वन्द्व मिट जाती है। ऐसा समझ कोई रात-दिन सोना चाहे तो यह संभव नहीं है। दो-चार दिन भोजन न मिले तो नींद नहीं आ सकती। इससे जान पड़ता है कि सौषुप्त सुख भी कुछ जाग्रत् के साधनों पर आधारित है। वैसे ही सर्वथा निद्रा का परित्याग कर जाग्रत् के भोग सञ्चय एवं भोगने में लगे रहने पर भी स्वास्थ्य बिगड़ जायगा। इसलिये दोनों की समुचित रूप से आवश्यकता है। जाग्रत् के पदार्थों का उचित उपयोग करने के समान ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त सब किसी के साथ शास्त्रसम्मत व्यवहार ही इनकी उपासना मानी जायगी। इस उपासना से अनैश्वर्य, अधर्म, अवैराग्य एवं कामादि संपूर्ण मानसिक विकार रूप मृत्यु के ऊपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। अतः भगवत्पाद ने संभूति की उपासना का फल अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति, सत्त्वशुद्धि एवं वैराग्यरूप फल बतलाया है। ये सब होते हुये भी सुषुप्त के समान प्रकृति विलय में निर्द्वन्द्वता के अनुभव की भी आकांक्षा होती है। प्रकृति विलयकाल में द्वन्द्व-दुःख का अभाव रहता है, इसीलिये इस मन्त्र में उसे अमृत कहा गया है। इसको प्राप्ति असंभूति की उपासना से होती है। इन दोनों के समुच्चय का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये। चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सम्पूर्ण विश्व

उस परमात्मा की अव्याकृत प्रकृति का परिणाम उस एक का ही नानात्व है। इस नाना में वह एक ही समाया हुआ है, ऐसा सदा स्मरण रखते हुये इस नाना जगत् का सदुपयोग करना चाहिये। अपने शरीर, माता, पिता, पत्नी, पुत्र, धन, पृथिव्यादि पञ्चभूत एवं भौतिक जगत्, पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड इन सबको उसी एक प्रकृति का विकार नानापन समझ इनका सदुपयोग करना। उदाहरणार्थ सूर्य का सदुपयोग करना चाहिये, सूर्य हमारे घर एवं ब्रह्माण्ड में प्रकाश बिखेरता है। इतना मात्र इसका उपयोग नहीं है कि उसके प्रकाश में हम जो कुछ भला-बुरा करते रहें, बल्कि सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर नित्यक्रिया से निवृत्त हो सन्ध्यादि भजन-पूजन में लग जाना चाहिये। यदि सूर्योदय या सूर्यास्त काल में सोता है तो तो निश्चय ही अनैश्वर्यादि मृत्यु को आमन्त्रण दे रहा है। कहा गया है कि—

"कुचैलिनं दन्तमलावधारिणं बह्वाशिनं नित्यकठोरभाषिणम्।
सूर्योदये चास्तमिते च शायिनं विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्॥"

"गन्दे कपड़े वाले, दाँतों में मैल वाले, बहुभोजी, नित्य कठोर बोलने वाले और सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय सोने वाले पुरुष को चाहे वह साक्षात् विष्णु ही क्यों न हो, लक्ष्मी त्याग देती है।"

ग० सं० पु० पू० ख० आ० का० भ० ११४ श्लो० ३५

वैसे ही माता-पिता अतिथि की सेवा न करना अधर्मरूप मृत्यु को इनकी सेवा से जीत लेता है। धर्मसहचारिणी पत्नी का धर्मानुष्ठान एवं शास्त्र की आज्ञानुसार सन्तति वृद्धि का साधन समझ उसका उपयोग करने से कामादिरूप मृत्यु को

जीत लेता है। पुत्र न केवल ऐहिक सुख का साधन है, अपितु आमुष्मिक सुख का भी साधन है। इसी दृष्टि से उसे शिक्षा-दीक्षा देकर तैयार करना पुत्र का उपयोग है। राजा दिलीप ने ऐहिक सुख के लिए पुत्र की कामना नहीं की थी किन्तु पितरों एवं अपने आमुष्मिक सुख के लिये की थी। ऐसे ही प्रत्येक वस्तु का शास्त्रनियमानुसार सदुपयोग ही उसकी उपासना है। इसी से अनैश्वर्यादिरूप मृत्यु का सन्तरण हो जाता है, किन्तु इन सारे व्यवहारों में एवं विविधता में एक ही मूल प्रकृति असंभूति को देखना उसी का विस्तार रूप से इस नाना जगत् को समझना ही असंभूति की उपासना है। इससे प्रकृति में विलयरूप अमरत्व को समुच्चयानुष्ठान करने वाला साधक प्राप्त कर लेता है। हमने इस मन्त्र का ऐसा आन्तरिक अर्थ इसलिये किया कि जो सभी साधकों के लिये अनुष्ठेय एवं उपादेय हो सकता है और शास्त्रसम्मत भी है। अतः विनाश एवं असंभूति की उपासना से जीवितावस्था में अनैश्वर्यादिरूप मृत्यु को पार कर प्रकृति-विलयरूप अमरत्व को भी साधक प्राप्त कर लें—यही इस मन्त्र का तात्पर्य है।

सैंतालीसवाँ दिन :

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥"

इस मन्त्र के वही दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि हैं, इसमें अनुष्टुप् छन्द, सूर्य देवता है और इसका विनियोग दृष्टान्त में है।

'हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। अतः हे पूषन्! मैं सत्यधर्मा उसका साक्षात्कार करना चाहता हूँ, इसलिये उस सत्य के आवरक हिरण्मय पात्र को हटा दो।'

प्रथम मन्त्रोक्त सर्वात्मदर्शन में असमर्थ व्यक्ति के लिये द्वितीय मन्त्र से यावज्जीवन कर्मानुष्ठान का विधान किया गया। उस कर्म के साथ उपासना के सहानुष्ठान से एवं संभूति और असंभूति की उपासना से विशुद्ध अन्तःकरण वाला परमात्मा से अब मार्ग की याचना कर रहा है। एषणात्रय से मुक्त तत्त्वज्ञानी के प्राण 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते' इस श्रुति के अनुसार लोकविशेष में नहीं जाते किन्तु यहीं समष्टि प्राण में विलीन हो जाते हैं। अज्ञानी समुच्चय का अनुष्ठान करने वाला इस लोक के भोगों से उद्विग्न मन वाला पुरुष सत्य के आवरक हिरण्मयपात्र को हटाने के लिये परमात्मा से प्रार्थना कर रहा है। हिरण्मयपात्र क्या है? सत्य क्या है? उसका आच्छादन होना माने क्या एवं किस अधिकारी की प्रार्थना से परमात्मा इस आवरण को हटा सकता है? इन सभी बातों का विचार करना है।

जिसमें कुछ रखा जाय, जिससे रसादिक का पान किया जाय एवं आवश्यकता पड़ने पर जो ढकने का भी काम करे, उसी को लोक में पात्र कहते हैं। वह पात्र मिट्टी, लोहा, ताँबा, पीतल, काँसा, चाँदी इत्यादि का भी होता है, जो प्रबल अग्नि-संयोग से भस्म हो जाता है। किन्तु इनकी अपेक्षा सुवर्ण का पात्र विलक्षण ही होता है, जो प्रबल अग्निसंयोग से भी जलता नहीं बल्कि अधिकाधिक तेजस्वी तथा चमकीला होता जाता है। वैसे ही यहाँ पर अहंकार ही हिरण्मयपात्र है, जो किसी भी लौकिक या शास्त्रीय विचार से तत्त्वज्ञान के बिना मरता नहीं। उलटा, प्रबल तथा दृढ़ होता चला जाता है। इसी को योगदर्शन में कहा है कि "स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।" (यो० सा० २।९) विद्वान् तथा अविद्वान् दोनों में जो समान रूप से

रहता हो, उसे अभिनिवेश (अहंकार) कहते हैं। वह अहंकार स्वाभाविक तथा आध्यासिक भेद से दो प्रकार का है। जन्म से ही बच्चे में सामान्याहंकार स्वाभाविक रूप से रहता ही है, पर जैसे-जैसे वह जनसम्पर्क में आता है, वैसे-वैसे उसका अहंकार बढ़ता चला जाता है। मैं अमुक जाति, अमुक आश्रम, अमुक परिवार, अमुक नगर, प्रान्त तथा राष्ट्र का हूँ, यह अभिमान स्वाभाविक नहीं है किन्तु आध्यासिक है। स्वाभाविकाभिमान भी सत्य का आच्छादक है फिर आध्यासिक अहंकार के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? स्वाभाविकाभिमान व्यष्टि-समष्टि भेद से दो प्रकार का है, एक जीव का, दूसरा हिरण्यगर्भ का जिसे उपनिषदों में महत्तत्व शब्द से कहा गया है। ये सभी सत्य के आच्छादक हैं और इनका मूलकारण अव्याकृत प्रकृति ही है।

ब्रह्मज्ञान के बिना अज्ञानी कर्म एवं उपासना करके भी सत्य के आच्छादक उक्त अहंकारों को टालने में समर्थ नहीं हो पाते हैं। अतः उसे सत्य के शरणापन्न हो सत्य की प्रार्थना से ही हटा सकते हैं। यह ध्रुव सत्य है कि त्रिकालाबाध्य सत्य ब्रह्म में व्यष्टि-समष्टि सम्पूर्ण प्रपञ्च रज्जु में सर्प की भाँति कल्पित है और सत्य इस कल्पित जगत् के बाहर-भीतर सर्वत्र एकरस विद्यमान् है, पर सामान्य व्यक्ति को जगत् दीखता है, सत्य ब्रह्म नहीं दीखता। मैं सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा हूँ, ऐसा करामलकवत् प्रतीत न होना ही सत्य का आच्छादन है। पञ्चदशी में दशमपुरुष के दृष्टान्त से इसी बात को समझाया गया है। वह स्वयं दसवाँ होता हुआ भी अज्ञानोपम आवरण से आवृत्त हो जाने के कारण 'मैं दसवाँ हूँ' ऐसा नहीं जान रहा था। आप्तपुरुष के वाक्य से पहले परोक्षरूपेण फिर अपरोक्षरूपेण दशमपुरुष का ज्ञान उसे हो जाता है। वैसे ही सम्पूर्ण काल्पनिक

पिण्ड ब्रह्माण्ड का अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप होता हुआ भी अनादि अनिर्वचनीय अज्ञानावरण से आवृत्त हो जाने के कारण 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा नहीं जानता। प्रत्युत विक्षेप जगत् में अहं-मम भाव कर बैठता है। यह सब सत्य का आच्छादन है। सत्य पूछो तो यह अज्ञान एवं तज्जन्य आवरण सत्य को नहीं ढकते किन्तु सत्य के दर्शन की आकांक्षा वाले पुरुष की दृष्टि को ढकते हैं। सूर्य से उत्पन्न बादल सूर्य को नहीं ढकता अपितु देखने वालों की दृष्टि को ढकता है पर मोहाच्छन्न बुद्धि पुरुष मानता है कि सूर्य ढक गया। यथा—

"घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टिः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥"

इसी का अनुवाद मानस में किया गया है।

"यथा गगन घन पटल निहारी।
झम्पेऊ भानु कहहि कुविचारी॥"

असल में द्रष्टा की दृष्टि को बादल ने ढक रखा है किन्तु वह मूढ़ों का सरदार सूर्य को प्रभाशून्य ढका हुआ मानने लगता है। ठीक ऐसे ही मूढों को वह स्वभाव से शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा बँधा हुआ दीखता है। वही नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मा मैं हूँ; इसे अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं। ऐसे ज्ञान से शून्य व्यक्ति की दृष्टि के ऊपर स्वाभाविक तथा आध्यासिक अनेक आवरण पड़े हैं, जिन्हें पहले तो अज्ञानी जीव ने प्रयत्न पूर्वक बढ़ाया, किन्तु आज अस्वच्छता के कारण यह अभिमान उसके हृदय में कील का काम करने लगता है। अतः यह साधक अपने आपको सत्य का आवरक सभी आवरणों को हटाने में असमर्थ देख परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे पूषन्! मैं सत्यधर्मा हूँ और आपका दर्शन

करना चाहता हूँ। इसलिये आपके ऊपर पड़े हुये इस हिरण्मय-पात्र व्यष्टिसमष्टि अभिमानरूप आवरण को मैं हटा नहीं सकता। अतः आप ही हटावो जिससे कि मैं आपका दर्शन कर सकूँ। साधक अपने को सत्यधर्मा कहकर सत्यदर्शन का अधिकार बतलाता है। जो सत्यधर्मा होता है, उसी की प्रार्थना सुनकर परमेश्वर द्रवीभूत हो उक्त हिरण्मयपात्र को हटाता है अर्थात् उस अवरण को दूर करता है। किसी-किसी भवन के दरवाजे में दो किवाड़ होते हैं। एक की चटकनी बाहर से और दूसरे की भीतर से लगायी जाती है और कभी-कभी एक ही किवाड़ में बाहर से एक तथा भीतर से दूसरे कुण्डे होते हैं। ब्रह्म भवन की भी ऐसी ही स्थिति है। बाहर के कुण्डे को किसी-किसी प्रकार जीव खोल सकता है, पर भीतर वाले कुण्डे को यह खोलने में सर्वथा असमर्थ है। भीतर में बैठा हुआ पुरुष यदि बाहर वाले की प्रार्थना से प्रसन्न हो, भीतर के कुण्डे को खोल दें तो बाहर वाला व्यक्ति अन्तःस्थ पुरुष को देख सकता है। ऐसे ही कुछ अहंकार को जीव अपने प्रभाव से हटा भी सकता है, पर समष्टि अहंकाररूप भीतर वाले कुण्डे को परमात्मा ही खोल सकता है। इसमें साधक भी प्रार्थना को छोड़कर अन्य कोई काम नहीं करता। किन्तु उसकी प्रार्थना तो परमेश्वर तभी सुनेगा यदि वह योग्य अधिकारी होगा। साधक अपनी प्रार्थना में सत्यधर्मा कहकर अपना अधिकार बतलाता है। सत्यधर्मा उसे कहते हैं, जिसने सत्य प्राप्ति के लिये शास्त्रोक्त सभी धर्मों का ठीक-ठीक पालन किया है। थोड़ा सत्य और शेष असत्य आचरण में लगे हुये व्यक्ति को सत्यधर्मा नहीं कह सकते। यों तो फल सभी खाते पर सभी फलाहारी नहीं कहे जा सकते हैं। फलाहारी तो वही है जो केवल

फल ही खाता हो; अन्न नहीं । 'फलमेबाहर्तुं शीलमस्येति स फलाहारी ।' वैसे ही सत्य ब्रह्म की प्राप्ति के लिये शास्त्रोक्त सत्यधर्म का ही अनुष्ठान करने वाला पुरुष सत्यधर्मा कहलाता है। अतः प्रत्येक मनुष्य को असत्याचरण का परित्याग कर सत्यधर्म का आचरण करना चाहिये । इसीसे उसमें सत्य दर्शन की योग्यता आ सकती है ।

इस मन्त्र में परमात्मा को 'पूषन्' शब्द से सम्बोधित कर साधक बतला रहा है कि जो संसार का पोषक हो, ऐसे सूर्यदेव को पूषा कहते हैं । ऐसे परमात्मा की प्रकृति एवं उसके कार्यरूप सम्पूर्ण प्रपञ्च में परमेश्वर ने ही अपनी सत्ता, स्फूर्ति एवं प्रियता उंड़ेल रखी है । अतः वह सब का पोषक है । वह तो पूर्वोक्त आवरणों का भी पोषक है, फिर भला ! साधक की प्रार्थना से आवरण को कैसे हटायेगा ? इसका उत्तर यह है कि जैसे काष्ठ के घर्षण से उत्पन्न अग्नि काष्ठ को जलाती हैं; काष्ठ में विद्यमान् सामान्य अग्नि नहीं । ऐसे ही आवरण को भी जीवन प्रदान करने वाला परमेश्वर साधक की प्रार्थना सुनकर द्रवीभूत हो जाता है । परमेश्वर के प्रसन्न होते ही आवरण हट जाता है। रामचरितमानस में कहा है कि यद्यपि माया एवं भक्ति दोनों ही परमेश्वर के आश्रित हैं, फिर भी—

'पुनि रघुवीरहि भगति पिआरी । माया खलु नर्तकी बिचारी ।।
भगतिहि सानुकूल रघुराया । ताते तेहि डरपति अति माया ।'

भगवान् को भक्ति ही प्रिय लगती है। माया तो नर्तकी है । भक्ति के ऊपर भगवान् की अनुकूलता देख माया डर जाती है और अपना प्रभुत्व उसके सामने नहीं दिखलाती। बल्कि वह सकुचाती है । परमेश्वर की अनुकूलता के बाद आवरण स्वयं

ही हट जाता है और साधक को आदित्यमण्डलस्थ पुरुष का दर्शन हो जाता है। इस प्रकार सत्य के ऊपर आया हुआ आवरण परमेश्वर की प्रार्थना एवं उसकी अनुकम्पा से जब दूर हो जाता है, तब साधक बेरोक टोक ब्रह्मभवन में प्रवेश कर पाता है। वहाँ पर ब्रह्मा के शासन काल तक उनके समान दिव्य भोगों का भोग करता हुआ तत्त्वज्ञान हो जानेपर प्रलयकाल में ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो जाता है। यथा—

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ।।"

प्राकृत प्रलय प्राप्त होने पर ब्रह्मा के साथ ही हिरण्यगर्भ की मुक्ति के समय उस लोक के निवासी ब्रह्मसाक्षात्कार पुरुष परम पद में प्रविष्ट हो जाते हैं। यही इस साधक का गन्तव्य धाम है।

अड़तालीसवाँ दिन :

**"पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह ।
तेजोयत्ते रूपंकल्याणतमंतत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः
सोऽहमस्मि ।।"**

इस मन्त्र के दध्यङ् ङाथर्वण ऋषि, उष्णिक् छन्द, सत्यदर्शी देवता है और इसका विदेहमुक्ति में विनियोग है।

"हे पूषन्! हे एकाकी गमन करनेवाले! हे संसार का नियमन करने वाले यम! हे प्राण और रस का शोषण करने वाले सूर्य! हे प्रजापति नन्दन! तू अपनी किरणों को हटा ले अर्थात् अपने तेज को हटा ले। तेरा तेजोमय अति कल्याणतम जो रूप है, उसे मैं देखता हूँ। यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूँ।"

पूर्व मन्त्र में साधक ने हिरण्मय पात्र के सदृश सत्य के द्वार को ढकने वाले समष्टि अहंकार को हटाने के लिये परमात्मा से प्रार्थना की थी, जिससे कि मैं सत्यधर्मा उस परमेश्वर का दर्शन कर सकूँ। इस मन्त्र में अनेक सम्बोधनों से सम्बोधित कर परमात्मा से साधक ने विवेक दृष्टि की नाशक किरणों को हटाने के लिए प्रार्थना की है। क्योंकि रश्मियों के हटे बिना परमात्मा का कल्याणतम तेजोमय रूप दीख नहीं सकता। अतः किरणजात क्या है, परमात्मा का दर्शनीय रूप कौन सा है और किस रूप से उसका दर्शन कल्याणप्रद है—इन बातों का विचार इस मन्त्र में किया जा रहा है।

पूर्व मन्त्र में 'पूषन्' शब्द का अर्थ हम बतला आये हैं। जड चेतन सम्पूर्ण जगत् में अपनी सत्ता, ज्ञान तथा प्रेम उंड़ेल कर असत्य, जड़ एवं दुःखरूप जगत् को भी सच्चिदानन्द बना रखा है, इसी से उसे 'पूषा' कहते हैं। यों तो सूर्य को भी 'पूषा' शब्द से लोक में तथा शास्त्र में कहा जाता है। किन्तु मुख्यरूप से परमात्मा ही 'पूषा' शब्द का अर्थ है। एकाकी चलने वाले को एकर्षि कहते हैं। सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से शून्य वस्तु को एक तथा अद्वितीय कहा जाता है। समान जाति वालों के परस्पर भेद को सजातीय भेद, दूसरे जाति से विजातीय एवं अपने अवयव भेद के कारण स्वगत भेद कहते हैं। यथा—

"वृक्षेषु स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयो शिलादिभिः ॥" (पञ्चदशी)

पत्र-पुष्पादि से वृक्ष में स्वगतभेद, वृक्षान्तर से सजातीय एवं पत्थर आदि से विजातीय भेद आता है। परमेश्वर का

सजातीय नहीं है, विजातीय माया असत्य है एवं परमेश्वर में अवयव नहीं है। अतः उक्त तीनों भेद न होने के कारण उसे एक या अद्वितीय कहते हैं।

ऋषति गच्छति इति ऋषिः अर्थात् ज्ञानवान्, प्रकाशक होने से सूर्य विश्व का ज्ञान प्रदाता है एवं सम्पूर्ण वृत्ति ज्ञान का उद्भवस्थान होने के कारण हिरण्यगर्भ भी ज्ञानवान् है। इसीलिये उस परमात्मा को 'एकर्षि' कहते हैं क्योंकि उसके समान ज्ञानवान् संसार में दूसरा कोई नहीं है। संपूर्ण संसार का नियन्ता होने के कारण उसे 'यम' भी कहा गया है। "भीषाऽस्माद्वातः पवते ।। भीषोदेति सूर्यः ।। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च ।। मृत्युर्धावति पञ्चम इति ।।" उस परमात्मा के भय से हवा चलती है, उसी के भय से सूर्योदय होता है। उसी के भय से अग्नि और पञ्चम मृत्यु भी दौड़ती है। अतएव उसे यम कहा गया है। सूरिभिर्ज्ञानिभिर्गम्यते इति सूर्यः। अर्थात् जो ज्ञानियों से प्राप्त किया जाय, वह सूर्य है। प्रजापति के लाड़ले को प्राजापत्य कहते हैं। उसने सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न कर चारों वेदों का बोध कराया था। इन विशेषणों से सम्बोधित करने के बाद उस परमात्मा के लिये साधक प्रार्थनीय पदार्थ का निर्देश करता है। अविद्या से उत्पन्न अहंकार चिदाभास से युक्त हो शरीर एवं शरीरसम्बन्धी पदार्थों में अहंता-ममता रूप से जो फैलता है, उसी को किरण (रश्मि) कहते हैं। किरणसमूह नेत्रों का अवरोधक होने के कारण सूर्य के अदर्शन मात्र का कारण है, नेत्र का नाशक नहीं है। किन्तु सूर्यरश्मियाँ तो सूर्य के कल्याणतम रूप को नहीं देखने देती, साथही अपनी प्रखरता से नेत्रों को भी नष्ट कर डालती हैं। वैसे ही अज्ञान परमात्मा के अदर्शनमात्र का कारण है किन्तु

चिदाभास से युक्त अहंता-ममतारूप वृत्तियाँ तो जीव की विवेकबुद्धिरूप दृष्टि को नष्ट कर डालती हैं। इसीलिये इन वृत्तियों को समेटने में अपने सामर्थ्य को न देख साधक परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे भगवन्! शरीर से लेकर समस्त संसार में फैली हुई उक्त रश्मियों को समेट लो, जिससे कि मैं आपके कल्याणतम रूप को देख सकूँ। मानस में सुग्रीव ने श्रीराम से कहा है कि—

"नारी नयन सर जाहि न लागा।
घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया।
सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
यह गुन साधन तें नहिं होई।
तुम्हरी कृपाँ पाव कोई कोई॥"

स्त्री का कटाक्ष जिसके हृदय में नहीं लगा, घोर क्रोधरूपी रात्रि से जो जग गया एवं लोभ फाँस ने जिसके गले को नहीं बाँधा अर्थात् काम, क्रोध, लोभ इन तीनों से मुक्त पुरुष तो भगवन् तुम्हारे समान ही है। ये गुण साधन से नहीं आते किन्तु तुम्हारी कृपा से किसी-किसी को प्राप्त होते हैं इससे भी किरणों का समेटना ईश्वर कृपा पर ही आधारित है। परमात्मा के कल्याणतमरूप का दर्शन मैं करता हूँ, ऐसा कह कर साधक बतला रहा है कि रात्रिसमूह के हटने पर परमात्मा का कल्याणतम रूप शीघ्र ही दीखने लग जाता है, क्योंकि वह अस्ति, भाति, प्रिय रूप से सर्वत्र समाया हुआ है। संसार में कल्याण जहाँ कहीं कुछ दीखता है; वह सब परमात्मा का ही स्वरूप है किन्तु अहंता-ममता रूप रश्मियों से आच्छादित होने

के कारण वह विशुद्ध रूप में दीखता नहीं। परमेश्वरानुकम्पा सूर्यरश्मियों के समान अहंता-ममता रूप किरणों के हटते ही साधक परमात्मा के कल्याणतम रूप को देखने लग जाता है। वह रूप जड़ नहीं; अपितु चेतन है। इसीलिये 'तेज': विशेषण दिया गया है। सत्य पूछो तो चिदानन्द रूप परमेश्वर किसी भी वृत्ति से प्रकाशित नहीं होता क्योंकि सभी वृत्तियों का वही प्रकाशक है। फिर भी ब्रह्माकार वृत्ति में आरूढ़ चेतन को ही ब्रह्मविद्या शब्द से कहा गया, जो स्वयं प्रकाशस्वरूप है। परमात्मदर्शन काल में आत्मभाव से ही उसका साक्षात्कार होता है; भेदभाव से नहीं। अतः श्रुति कहती है जो आदित्य-मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूँ। ब्रह्माण्डरूप पुर में और शरीररूपी पुरी में शयन करने से उसे 'पुरुष' कहते हैं। पिण्ड-ब्रह्माण्ड उपाधि के कारण पुरुष में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। अनात्माकार सभी वृत्तियाँ रश्मि के समान है। इनके हटते ही एक अद्वैतात्मा 'स्वयंप्रकाश' अखण्डाकारवृत्ति में प्रकाशित हुआ दीखता है। इसी को ब्रह्मसाक्षात्कार या ब्रह्मविद्या कहते हैं। परमात्मा-जीवात्मा के सम्बन्ध में श्रौतसिद्धान्त तो केवलाद्वैत ही है जिसे इस श्रुति ने स्पष्ट किया है। इस रहस्य को न जानने के कारण अनेक मत-मतान्तर फैल गये हैं। सभी अपने-अपने राग अलापते हैं। बेचारा श्रोता भ्रम में पड़ जाता है। प्राइमरी स्कूल का एक छात्र स्कूल में अपनी पाठ्य पुस्तक मास्टर के पास पढ़ने गया। उसमें पहला पाठ था This is my head=यह मेरा शिर है। लड़का समझा 'मास्टर साहब का शिर है।' लड़का जब घर पर आया, उसके पिता ने पूछा आज तू क्या पढ़ा? पुस्तक खोलने पर संयोग से वही पाठ आ गया। पिता के पूछने पर उसका अर्थ कहा कि 'मास्टर साहब का शिर

है'। पिता ने कहा ऐसा नहीं इसका अर्थ है 'यह मेरा शिर'। तब से लड़का मानने लगा कि This is my head=माने पिता जी का शिर। कालेज में पढ़ने वाला उसका बड़ा भाई उसी रोज घर पर आया। उसने भी अपने छोटे भाई को उसी पाठ के सम्बन्ध में पूछा, लड़के ने कहा कि This is my head=माने पिता जी का शिर। अरे भाई! ऐसा नहीं इसका अर्थ है 'मेरा शिर'। लड़का समझा पिता जी से भी अधिक भाई साहब पढ़े हैं। अतः इनका बतलाया अर्थ ही ठीक है। तब से उसने मान लिया कि This is my head=माने भाई साहब का शिर। दूसरे रोज जब वह स्कूल में गया तो विद्यालय के निरीक्षण के लिये इन्स्पेक्टर आये थे। साफ-सुथरे कपड़े पहने हुये उसी लड़के को उन्होंने प्रश्न किया। संयोग से उसी पाठ में से वही वाक्य पूछा कि इस पाठ को अर्थ के सहित सुनाओ। बालक ने सभी शब्दों के स्पेलिंग सहित वाक्य का उच्चारण किया और अर्थ बतलाया दिस ईस माय हेड्=भाई साहब का शिर। उन्होंने सोचा बच्चे को किसी ने गलत पढ़ाया और कहा इसका अर्थ होता है "यह मेरा शिर है।" बालक बहुत हैरान हुआ और निरीक्षक से कहा—महोदय! मास्टर साहब के पास गया तो अर्थ समझा यह मास्टर साहब का शिर है। घर में गया तो मैं अर्थ समझा कि यह पिता जी का शिर है। जब भाई साहब के पास गया तो उन्होंने कहा यह उनका (भाई साहब) का शिर है। और जब आपके पास आया हूँ तो मुझे विवश हो इस वाक्य का अर्थ मानना पड़ रहा है कि यह इन्स्पेक्टर साहब का शिर है। क्या यह वाक्य गिरगिट के समान अपना रंग तो नहीं बदलता। इसके बाद उस अबोध बालक को इन्स्पेक्टर ने अच्छी प्रकार समझाया कि "दिस् ईस

माय हेड्" का अर्थ यह मेरा शिर है। मैं कोई भी हो सकता है और अपने शिर के लिये my head का प्रयोग करते ही हैं। ठीक ऐसे ही द्वैत, अद्वैत का मामला उलझा हुआ है। श्रुति का तात्पर्य न समझने के कारण लोग अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ का कुछ अर्थ करते हैं, सत्य बात तो यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही चेतन समाया हुआ है, उपाधियों के कारण उसमें भेद दीखता है; परमार्थतः भेद नहीं है। नाम रूप उपाधि में परमार्थत्व का आग्रह कर परस्पर झगड़ रहे हैं और जब तक उपाधियों का मोह नहीं छोड़ेंगे, तब तक यह झगड़ा मिटने का नहीं। श्रुति तो स्पष्ट कहती है कि साधक जब परमात्मा के कल्याणतम चिदानन्दरूप को देख लेता है, तब वह "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" "वह आदित्यमण्डलस्थ पुरुष ही मैं हूँ !" ऐसे स्पष्ट शब्दों में कहने के बाद भी भेदवाद की आशंका कर मतभेद खड़ा करना श्रुति के तात्पर्य की उपेक्षा करना है।

उनचासवाँ दिन :

"वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर" ॥१७॥

इस मन्त्र के दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि, छन्द आर्षपङ्क्ति संसारी देवता है और इसका विनियोग कर्मफल में है।

यह प्राणवायु से उपलक्षित सूक्ष्मशरीर सूत्रात्मा के साथ एकीभूत होकर अमरत्व को प्राप्त कर लेवें, यह स्थूल शरीर भस्मीभूत होकर अपने उपादान कारण पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत में मिल जाय क्योंकि यही इसकी अन्तिम गति है। हे संकल्प प्रधान पुरुष ! तू परमेश्वर का स्मरण कर अपने उत्तम कर्मों का स्मरण कर। हे संकल्प प्रधान पुरुष ! तू अपने किए हुये कर्म और उपासना का बार-बार स्मरण कर।

सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर के संकल्प से सभी प्राणियों के शरीर अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से बने हैं। अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत का उपादान कारण मूलाविद्या है, जो एकमात्र ब्रह्मज्ञान से ही निवृत्त हो सकती है; कर्म और उपासना से नहीं। अतः परमेश्वर तत्त्व का साक्षात्कार किये हुए मनुष्य का सूक्ष्म शरीर मूल कारण अविद्या के नष्ट हो जाने से सदा के लिये नष्ट हो जाते हैं। अन्य सभी व्यक्तियों का साभास-सूक्ष्म शरीर शुभाशुभ कर्मानुसार उत्तमाधम योनियों में जाता रहता है। इसमें अन्तिम स्मृति बहुत महत्त्व की होती है यथा—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदातद्भावभावितः॥

हे अर्जुन! इस जीव का अन्तःकरण सदा भावना से भावित रहा करता है। इसलिये जीव भी उसके साथ तादात्म्य हुआ वैसा ही प्रतीत होता है। अतः प्राणवियोग काल में जिस-जिस वस्तु का स्मरण करते हुये शरीर छोड़ता है, उस-उस लोक को वह प्राप्त कर लेता है। इस गीतोक्त वाक्य के अनुसार अन्तिम स्मृति को सुधारने के लिये बहुत ही सावधानी की आवश्यकता है। इसलिये साधक मुमूर्षावस्था में परमात्मा से प्रार्थना करता है कि जो यह मेरा अध्यात्म वायु से उपलक्षित सूक्ष्म शरीर बार-बार शरीर धारण करने के लिये परिच्छिन्नता से बन्धा हुआ था, वह इसकी परिच्छिन्नता मिट जाय और यह सूत्रात्मा में मिल जाय, क्योंकि वह अमर है। यद्यपि महाप्रलय में उसका नाश होता है, फिर भी आपेक्षिक, अमरत्व होने के कारण उसे यहाँ पर अमर कहा गया है। स्थूल शरीर की अन्तिम गति भस्मीभाव ही तो है। इससे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि

चतुर्थाश्रमी यतियों के लिये यह उपासना नहीं है। क्योंकि उनके शरीर का अग्निसंस्कार नहीं होता।

यों तो नामरूपातीत परमेश्वर का कोई नाम और रूप नहीं है पर किसी नाम से भी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक पुकारा जाय तो अवश्य परमात्मा प्रसन्न हो साधक के मनोवाञ्छित फल को देता ही है। पर अन्य नामों की अपेक्षा ओंकार को वेदों में श्रेष्ठ बतलाया गया है। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में मरणासन्न साधक के लिये प्रणव का उच्चारण उसके अर्थस्वरूप परमात्मा का चिन्तन ही बतलाया है।

"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥"

अतः श्रुति स्मृति प्रसिद्ध प्रणव मन्त्र का उच्चारण ही मुमुक्षु साधक के लिये अधिक श्रेयस्कर है।

शास्त्रविहित यागादि कर्मों में संकल्प की प्रधानता होने से उन्हें क्रतु शब्द से कहा जाता है। उन्हीं कर्मों में श्रद्धासम्पन्न पुरुष को भी क्रतु कहते हैं। गीता में पुरुष को श्रद्धामय बतलाया गया है—

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यः श्रद्धः स एव सः।"

यह पुरुष श्रद्धामय है जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह पुरुष वैसा ही माना जाता है। श्रद्धा का जनक संकल्प है। जो जैसा संकल्प करता है, कुछ दिनों के बाद वह पुरुष अपने आपको उसी रूप में देखने लग जाता है। इतना ही क्यों? सारा विश्व ही संकल्प के ऊपर आधारित है। जीव के संकल्प तथा भावना के अनुसार परमेश्वर भी उसी रूप में उसे दर्शन देकर कृतार्थ

करता है। इन सभी कारणों से पुरुष को संकल्पप्रधान माना गया है। और परमेश्वर भी सत्यसंकल्प रूप है। अतः अपने शुभाशुभ कर्मों को स्वयं ही जीव स्मरण करता है और परमेश्वर को भी स्मरण कराने के लिये प्रार्थना करता है, जिससे कि शुभगति प्राप्त होवे। मरणासन्न व्यक्ति का सहायक उस समय परमेश्वर या अपना शुभकर्म ही हो सकता है, अन्य कोई नहीं होता। इसीलिये कहा है कि—

"रे चित्त चिन्तय चिरं चरणौ मुरारेः
पारं गमिष्यसि सखे भवसागरस्य।
पुत्राः कलत्रमितरे नहि ते सहायाः
सर्वं विलोकय सखे मृगतृष्णिकाभम्॥"

रे चित्त! मित्र! तू चिरकाल तक भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों का चिन्तन कर, जिसके फलस्वरूप तू संसारसागर से पार हो जायगा। संसार दुःख-सन्तरण में केवल परमात्मा के चरणों का स्मरण ही सहायक होगा। स्त्री, पुत्र, बन्धु-बान्धव और अन्य कोई भी सहायक नहीं होगा। इसलिये तू अभी से मृगतृष्णिका के जल के समान इनकी ममता को छोड़कर परमात्मा की शरण में जा। आत्मकल्याण में संसार का स्मरण बड़ा बाधक है। यह सांसारिक वस्तु काँटे के समान अपने गन्तव्यस्थल पर पहुँचने में बाधक है। सारे संसार को कहाँ तक अनुकूल बनाते रहोगे? तुम एकमात्र परमात्मा की शरण में हो जावो। ऐसा करने में जो तुम्हें सहायक है, उन्हें अपना सच्चा मित्र समझो। बाधक वस्तु को करोड़ों शत्रुओं के समान समझकर छोड़ दो। मानस में कहा है कि—

जरइ सुसम्पति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाय।
सन्मुख होत जो राम पद करै न सहज सहाय॥

वे सम्पत्ति, सुख, भवन, मित्र, माता, पिता, भाई व्यर्थ हैं; वे जल जायँ, जो राम-भक्ति में स्वभाव से सहायक नहीं बनते हों। सारी दुनियाँ स्वार्थ के मित्र हैं। भगवत्पाद ने कहा है कि—

"यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः।
तदनु च जरया जर्जरदेहे वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥३॥" च.पं.

जब तक धन कमाने की शक्ति रहती है, तब तक अपना परिवार भी अनुराग दिखाता है। फिर जब जरा (वृद्धावस्था) से शरीर जर्जर हो जाता है, तब कोई घर में बात तक नहीं पूछता, अतः इन काँटों से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि अपनी मनोवृत्ति को अभी से परमात्मा के स्मरण में लगा दो, जिससे कि अन्तिम समय में अनायास ही परमात्मा का स्मरण होवे; नहीं तो इस मन्त्र में कहे साधकों के समान मुमूर्षावस्था में बार-बार प्रार्थना करनी पड़ेगी। एक व्यक्ति ने अपने जीवन में किसी भूखे को भोजन दे दिया था और कुछ भी पुण्य नहीं किया था। मरने के बाद चित्रगुप्त ने उसका हिसाब कर कहा कि यों तो तुमने अपने जीवन में पाप ही पाप किया है, तुम्हारे जीवन का पुण्य एक ही है कि तुमने एक गरीब को भोजन कराया, जिसका फल यह है कि भारत का सम्राट पद तुम्हें एक घन्टे के लियेमिलेगा। अब तुम ही कहो कि पहले पाप का फल भोगना चाहते हो या पुण्य का? उसने कहा पाप का फल बहुत दिनों तक भोगना ही पड़ेगा। अतः पुण्य का फल भोगूँगा। चित्रगुप्त ने उसे एक घण्टे के लिये भारतवर्ष की राजगद्दी दे दी। वह गद्दी पर बैठा उसी समय नारद जी आये। नारद जी ने कहा कि तुम्हें यह गद्दी कैसे मिली? उसने सभी कह सुनाया। नारद ने कहा—अरे एक भूखे को खिलाने से यह गद्दी मिल गयी

तो भला तू घण्टे के अन्दर अधिक से अधिक दान कर पुण्य का भागी क्यों नहीं बन जाता। बस क्या था एक घण्टे के भीतर ही भूखों को अन्न, नंगों के लिये वस्त्र, निर्धन को धन इत्यादि की व्यवस्था कर डाली। घण्टा समाप्त होते ही राजपुरुषों ने उसे गद्दी से हटने के लिये कहा, किन्तु उसने दान कर इतना पुण्य किया कि उससे उसे स्वर्ग मिल गया। अतः मैं भी कहता हूँ कि अवसर न चूको। परमात्मा का नाम-स्मरण करते हुये सदा कर्तव्य कर्म में लगे रहो। वह अन्तिम समय में तुम्हें सहायता प्रदान करेगा।

पचासवाँ दिन :

"अग्ने नय सुपथा राये अस्मा-
न्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥१८॥

इस मन्त्र के ऋषि अगस्त्य, त्रिष्टुप् छन्द, अग्नि देवता है और प्रार्थना में विनियोग है।

हे अग्निदेव ! आप हमारे सर्व कर्मों के जानने वाले हो। अतः हमें अभीष्ट फल प्राप्ति के लिये सुन्दर मार्ग से ले चलो। कुटिल एवं पापमय कर्मों को हम उपासक से पृथक् कर डालो। इस समय मुमूर्षावस्था में हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं। परमात्मप्राप्ति के लिये हवनात्मक सभी कर्मों में अग्नि की आवश्यकता होती है। अग्नि को विराट् का मुख भी कहा गया है। इसी के द्वारा विराट् पुरुष एवं उसके अवयवरूप सभी देव तृप्त होते हैं अर्थात् यजमान जब अग्नि में हविष्यान्न का प्रक्षेप करता है तब विराट् पुरुष एवं अन्य सभी देव उसे भोगते हैं।

अतः कर्मों में अग्नि को प्रधान माना गया है। साथ ही अन्तर्यामी रूप से सम्पूर्ण संसार का प्रेरक होने के कारण भी अग्नि शब्द से सम्बोधित किया गया है। सर्वज्ञ होने के कारण परमेश्वर को देव कहा गया है। इसीलिये साधक अग्नि एवं देव शब्द से सम्बोधित कर कहता है कि आप हमारे नेता हो और सर्वज्ञ होने से सम्पूर्ण कर्म एवं उपासना के जानने वाले हो। अतः उनके फल भोगने के लिये हमें सुन्दर मार्ग से ले चलो, जिस मार्ग से जाने पर फिर शरीर धारण के लिये मर्त्यलोक में आना नहीं पड़ता। गीता में कहा है—

"अग्निर्ज्योतिरिहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥(८-२४-२६)"

संसार में शुक्ल एवं कृष्ण शाश्वत मार्ग माने जाते हैं। उनमें से शुक्ल मार्ग से गया हुआ जीव संसार में लौटता नहीं और कृष्ण मार्ग से गया हुआ जीव पुनः लौटता है। जिस मार्ग में अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और छः मास उत्तरायण के अभिमानी देव जीव के अतिवाहक रूप से होते हैं। उस मार्ग से ब्रह्म उपासक जन ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं और उन्हें संसार में लौटना नहीं पड़ता। इसके विपरीत जिस मार्ग में धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और छः मास दक्षिणायन के अभिमानी देव होते हैं, उस मार्ग से प्रयाण करने पर यह जीव चन्द्रलोक को प्राप्त कर पुनः संसार में लौट आता है। गीतोक्त उन दोनों मार्गों में से उत्तरायण का संकेत साधक 'सुपथा' शब्द से कर रहा है। वह

समझता है कि दक्षिणायन से जाते, आते मैं तंग हो गया हूँ। कितनी बार स्वर्ग में गया और वैसी ही स्थिति पुनः होगी। अतः इस बार हे भगवन् ! ऐसे मार्ग से ले चलो, जिस मार्ग से जाकर फिर लौटना न पड़े।

यह निर्विवाद है कि परमात्मतत्त्व को जाने बिना जीव के शुभाशुभ संस्कार मूलतः नष्ट नहीं हो सकते ऐसी स्थिति में जहाँ शुभ कर्म का फल सुख भोगना पड़ता है, वहाँ पाप का फल दुःख भी उसे भोगना ही पड़ेगा। अतः साधक दुष्ट कर्म का फल भोगने से बचने के लिये परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि हमारे टेढे-मेढे कर्मों को हमसे पृथक् कर डालो। ऐसे महा उपकार के लिये मुमूर्षावस्था में हम आपकी कोई सेवा, पूजा नहीं कर सकते हैं। सुना है, परमेश्वर एक बार प्रणाम करने से ही जीव को संसार बन्धन से मुक्त कर डालता है। इसी आशा को लेकर हम आपके चरणों में भूरिशः प्रणाम करते हैं।

तात्पर्य यह कि साधक को अन्तिम स्मृति सुधारने के लिये बहुत ही सावधानी की आवश्यकता है। इसी बात का संकेत इस मन्त्र में किया गया है। यह मन्त्र शुक्ल यजुर्वेद के काण्व तथा माध्यन्दिनी दोनों शाखाओं का अन्तिम मन्त्र है। यह मन्त्र ऐतरेय ब्राह्मण के २-३०-६ में, ऋग्वेद संहिता के १-१७९-१ में, शुक्लयजुर्वेदसंहिता के ५-३६ में, कृष्णयजुर्वेदसंहिता के १-१-१४-३ में तथा बृहदारण्यक के ५-१५-१ में भी मिलता है। अतः अपेक्षाकृत इस मन्त्र को महत्त्व अधिक माना गया है। इस मन्त्र के उपसंहार भाष्य में भगवत्पाद ने सिंहावलोकन करते हुये यही बतलाया है कि इस प्रसंग में विद्या पद से उपासना और अमृत पद से आपेक्षिक अमरत्व देवादि भाव की प्राप्ति को

ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि ब्रह्मविद्या के साथ कर्म का समुच्चय कथमपि सम्भव नहीं है। शास्त्र भी 'अग्नि शीतल है और जल उष्ण है' ऐसा विषम उपदेश कर नहीं सकता। अतः कर्म के साथ उपासना का ही समुच्चय संभव होने से विद्या का अर्थ उपासना ही करना चाहिये। वैसे ही अमृत पद से आपेक्षिक अमृत अर्थ ग्रहण न करके निरपेक्ष अमरत्व ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति को लेवें तो ब्रह्म को प्राप्त हुये जीव का गमनागमन नहीं होता। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" "अत्र ब्रह्म समश्नुते" तत्त्वज्ञानियों के प्राण देहान्तर प्राप्ति के लिये इस शरीर से निकलते नहीं बल्कि यहाँ पर ही व्यष्टि भाव का परित्याग कर समष्टि प्राण में विलीन हो जाते हैं। यह भी व्यावहारिक दृष्टि से कहा जाता हैं, परमार्थ दृष्टि से तो कुछ भी नहीं है। कथञ्चित् अमृत शब्द का मुख्यार्थ ग्रहण करें, तो पूर्वोक्त मन्त्रों से मार्गयाचना का प्रसंग असंगत हो जायगा क्योंकि मुख्यार्थ अमृतभाव को प्राप्त हुये व्यक्ति के प्राण लोकान्तर में जाते नहीं हैं, जैसा कि पूर्वमन्त्र में बतलाया गया है। अतः विद्या पद से उपासना और अमृत पद से आपेक्षिक अमरत्व अर्थ लेना ही समुचित होगा।

श्रीशङ्करः प्रीयताम्

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥"
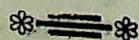
फोन : ५९८ तार : कैलासाश्रम, ऋषिकेश

श्री कैलासपीठाधीश्वर अनन्त श्री विभूषित श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज एवं श्री कैलासाश्रम के पूर्वाचार्यों की अनुपम कृतियाँ

१. **वेदान्त परिभाषा** (अर्थदीपिका एवं सुबोधिनी व्याख्या सजिल्द) डबल डिमाई साइज १६ पेजी पृ० ५०८ — मूल्य १०-००
२. **ब्रह्मसूत्र** (सानुवाद—विद्यानन्द वृत्ति सजिल्द) डबल डिमाई साइज १६ पेजी पृ० ५२० — १०-००
३. **ब्रह्मसूत्र** (संस्कृत विद्यानन्द वृत्ति परीक्षोपयोगी) डबल डिमाई साइज १६ पेजी पृ० २४७ — ४-००
४. **तत्त्वबोध—आत्मबोध**, सानुवाद — ०-००
५. **ईशादि द्वादशोपनिषद्** (विद्यानन्दी मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या सजिल्द) डबल डिमाई १६ पेजी पृ. ४६० — १५-००
६. **ईशावास्योपनिषद्** (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्कर भाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृ० ६८ — ५-००
७. **केनोपनिषद्** (सटिप्पण टीकाद्वय संवलित शाङ्कर भाष्ययुता) क्राउन साइज — ८-००
८. **कठोपनिषद्** ,, — ९-००
९. **प्रश्नोपनिषद्** ,, — ६-००
१०. **मुण्डकोपनिषद्** (सटिप्पणटीका द्वय समलङ्कृत शाङ्कर भाष्ययुता) क्राउन ८ पेजी पृ० ९० — ६-००
११. **माण्डूक्यकारिका** (सटिप्पण, हिन्दी, संस्कृत, टीका सहित शाङ्करभाष्य सजिल्द) क्राउन ८ पे. पृ. ३२० — २५-००
१२. **माण्डूक्य कारिका** (सानुवाद शाङ्करभाष्य) क्राउन १६ पेजी पृ० २८८ — ५-००

१३. तैत्तिरीयोपनिषद् (सटिप्पण टीकाद्वय संवलित शाङ्कर भाष्ययुता) क्राउन साइज ८.००
१४. ऐतरीयोपनिषद् ,, ६-००
१५. छान्दोग्योपनिषद् ,, ६०-००
१६. बृहदारण्यकोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय समलङ्कृत शाङ्कर भाष्ययुता सजिल्द) क्राउन ८ पेजी २ खण्ड, पृ० १६०० १००-००
१७. श्रुतिसार समुद्धरणम् (हिन्दी टीका युतम्) क्राउन १६ पेजी पृ० १५२ ५-००
१८, शाङ्कर वचनामृत (हिन्दी व्याख्या) क्राउन ३२ पेजी ०-२५
१९. वेदान्त रत्नाकर (क्राउन १६ पेजी। पृ० ११६ ३-००
२०. वेदान्त डिण्डिम घोष (सानुवाद) पृ० ४० २-००
२१. हरिमीडे स्तोत्रम् (सानुवाद) पृ० ७७ २-००
२२. गङ्गा लहरी (सानुवाद) ०-५०
२३. सागर सेतु (सजिल्द क्राउन साइज पृ० ३०० १०-००
२४. ईशावास्य प्रवचनसुधा, डबल क्राउन साइज १६ पेजी सजिल्द पृ. ३२० १२-००
२५. यतीन्द्र तिलक (सचित्र आकर्षक जिल्द) ३२-००
२६. मुक्ति सोपान
२७. शिवमहिम्नः स्तोत्रम्
२८. आचार्य द्वयानुस्मृति—सानुवाद
२९. हरिहर तारतम्य स्तोत्र—सानुवाद
३०. शिवताण्डव स्तोत्र—सानुवाद
३१. स्तोत्र संग्रह
३२. वैदिक दशशान्ति मन्त्र—सानुवाद
३३. मानस सूक्ति सुधा
३४. भजन मञ्जरी
३५. भजन संग्रह (प्रथम भाग)
३६. भजन संग्रह (द्वितीय भाग)

प्रकाशक : श्री कैलासाश्रम शताब्दी समारोह महासमितिः
मुख्य कार्यालय : कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ.प्र.) पिन २४९२०१